

बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संरक्षक संपादक
प्रो. गिरीश्वर मिश्र

संपादक
अशोक मिश्र

सहायक संपादक
अमित विश्वास



महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक

अंक : 45 (अप्रैल-जून 2015) ISSN- 2348-4586

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

संपादकीय संपर्क :

संपादक बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र)

मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- bahuvachan.wardha@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : राजेश कुमार यादव

ईमेल- rajeshkumaryadav97@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 09975467897

© संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें :

प्रचार प्रसार : सुरेश कुमार यादव

फोन : 07152-232943, मो. 09730193094, ईमेल- s.ujala80@gmail.com

बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

अंक : 75 रुपये, वार्षिक शुल्क 300/- रुपये, द्विवार्षिक शुल्क 600/- रुपये (व्यक्तिगत डाक खर्च सहित)

संस्थाओं के लिए : 500 रुपये वार्षिक, 1000/- रुपये द्विवार्षिक

विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

आवरण : देवप्रकाश चौधरी

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHIAN TARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA

GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : रुचिका प्रिंटेर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)

email : ruchikaprinters 2005@gmail.com

अनुक्रम

आरंभिक

फेसबुक पर साहित्य और पुस्तक मेला के नए संकेत 05

धरोहर

कविता का भविष्य/महावीर प्रसाद द्विवेदी 08

संगोष्ठी

आधुनिक हिंदी के पुरोधा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (संयोजकीय वक्तव्य)/शोभा पालीवाल 12

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का अवदान/गिरीश्वर मिश्र 13

रीतिवाद और हिंदी आलोचना/शशांक शुक्ला 19

साहित्य में वैज्ञानिक चेतना के संवाहक आचार्य द्विवेदी/मन्नू ढौंडियाल 24

‘सरस्वती’ की भूमिका/साधना अग्रवाल 30

‘संपत्तिशास्त्र’ : दारुण जीवन का दस्तावेज/सूरज पालीवाल 35

आचार्य द्विवेदी के समाज-विमर्श में किसान/अशोक नाथ त्रिपाठी 41

हिंदी के युग प्रवर्तक संपादक आचार्य द्विवेदी/अख्तर आलम 46

महावीर प्रसाद द्विवेदी का चिंतन और स्त्री/भावना मासीवाल 51

‘सरस्वती’ : समय और चिंतन/प्रकाश चंद्र 58

स्मृति शेष

आलोचना पर्व के व्यास/अवनिजेश अवस्थी 64

जग सुने न इतना धीरे गा! : आवाजों के कोरस में एक विरल स्वर/ओम निश्चल 68

एक क्रांतिकारी दलित स्वर का खामोश हो जाना/वैभव सिंह 78

स्मरण

दो लोकप्रिय हिंदीसेवी कथावाचक : पंडित राधेश्याम तथा श्री श्रद्धाराम फिल्लौरी/कृष्ण प्रताप सिंह 83

कहानी

ठंड/मदन मोहन 88

डायरी

डायरी की इबारतें/से.रा. यात्री 95

आख्यान	
खुदा करे, तेरे सारे चराग जलते रहें/ज्ञानप्रकाश विवेक	102
कविताएं	
सुधीर सक्सेना	107
राकेश रंजन	112
इला कुमार	118
कृष्णेश बाजपेयी	124
यात्रावृत्तांत	
अब वे कैसे कहेंगे-पथिक फिर आना/संतोष श्रीवास्तव	126
संवाद	
‘हिंदी पढ़ना शुरू किया तो मेरे लिए सब कुछ बदल गया!’ लोठार लुत्से से प्रकाश मनु की बातचीत	139
‘हम कीचड़ सने जूते रसोई तक ला रहे हैं’ भालचंद्र नेमाडे से उमेश चतुर्वेदी की बातचीत	153
आलोचना	
प्रारंभिक हिंदी-उर्दू उपन्यासों की भाषा/चंद्रदेव यादव	159
सिनेमा	
‘पीके’ : धर्म का समाजशास्त्र/सुभाष शर्मा	165
कला	
कलाओं के अंतर्संबंध/राजेश कुमार व्यास	174

आरंभिक

फेसबुक पर साहित्य और पुस्तक मेला के नए संकेत

नव वर्ष की शुरुआत में ही इस बरस छत्तीसगढ़ सरकार ने अपनी अनूठी सोच और संकल्पना के तहत तीन दिनों के रायपुर साहित्य महोत्सव का शुभारंभ किया जिसमें हमारे समय के महत्वपूर्ण लेखकों विनोद कुमार शुक्ल, अशोक वाजपेयी, नरेश सक्सेना और मैत्रेयी पुष्पा समेत साहित्य, कला, सिनेमा, प्रकाशन, मीडिया, रंगमंच की दुनिया से जुड़ी कई नामचीन हस्तियों ने हिस्सेदारी की। मीडिया में इस महोत्सव के पक्ष और विपक्ष में खबरें छपती रहीं। इन दिनों अंतर्जाल पर सोशल मीडिया की और फेसबुक व ट्विटर की उपलब्धता जिस कदर बढ़ी है उसने आत्मप्रचार को इस कदर बढ़ावा दिया है कि युवा और प्रौढ़ दोनों ही पीढ़ियों के लोग सारा दिन उसी पर जमे रहते हैं। फेसबुक पर इन दिनों एक नए किस्म की प्रवृत्ति यह भी सामने आई है कि वहां किसी भी विवाद या मुद्दे के उठते ही उसके पक्ष और विपक्ष में जमकर बहसबाजी शुरू हो जाती है। भले ही बहस का कोई नतीजा न निकले लेकिन बहस जमकर होती है और अकसर पूर्वाग्रह भरी टिप्पणियां भी आती हैं। कम से कम मेरे सामने दो ऐसे मौके आए जिन्होंने मेरी इस धारणा को पुष्ट किया। पहला उदाहरण रायपुर साहित्य महोत्सव था, जिसके रचनात्मक पक्ष पर चर्चा करने या एक अच्छी शुरुआत के रूप में रेखांकित करने या किसी नए आयोजन का स्वागत करने के स्थान पर उसके विरोध में बेसिरपैर की टिप्पणियां शुरू हो गईं। इन टिप्पणियों की भाषा ऐसी थी कि जो कहीं से भी बुद्धिजीवी कहलाने वालों की नहीं थी। दरअसल फेसबुक पर सक्रिय खद्योत के समान प्रकाश फैलाने वाले कुछेक लेखकों की पीड़ा यह थी कि आखिर इस महोत्सव में वे क्यों न हुए। दूसरा उदाहरण पिछले दिनों 'बहुवचन' पत्रिका में प्रकाशित वरिष्ठ आलोचक विजय मोहन सिंह (अब दिवंगत) के साक्षात्कार पर हुई चर्चा का था जिसमें युवा कथाकार मनोज कुमार पांडेय ने जैसे ही फेसबुक पर सिंह द्वारा- 'राग दरबारी' को तीन कौड़ी का उपन्यास बताए जाने की पोस्ट लिखी वैसे ही एक जबरदस्त विवाद उसके पक्ष और विपक्ष में शुरू हो गया। फेसबुक पर टिप्पणी करने वाले कई लेखकों को यह भी मालूम भी नहीं था कि विजय मोहन सिंह हैं कौन? जाहिर है कि यहां भी बहस का स्तर बहुत गया गुजरा ही था। संपादक होने के नाते मैं कम से कम यह जरूर मानता हूँ कि विजय मोहनजी ने कृतियों को अपने तर्कों से खारिज करने का साहस तो किया जबकि आज की ज्यादातर आलोचना मुंहदेखी में बदल चुकी है। इन दो उदाहरणों से साफ तौर पर समझा जा सकता है कि फेसबुक पर होने वाली बहसों का स्तर क्या है। शायद यही वजह है कि कई धीरे गंभीर प्रबुद्धजन वहां से अपना एकाउंट बंदकर विदा ले रहे हैं।

इसके बाद एक लेखक और संपादक के रूप में विश्व पुस्तक मेला 2015 में भाग लेने का अवसर मिला। शायद ही कभी ऐसा हुआ हो कि दिल्ली शहर में बीस साल रहने के बावजूद मैं लगातार नौ दिनों तक पुस्तक मेला जा सकूँ। यह भागीदारी अधिक से अधिक तीन या चार दिन वह भी आधा दिन बीतने के बाद ही हो पाती थी। यह महज इत्तफाक है कि इस बार विश्वविद्यालय के कुलपतिजी ने संपादक और हिंदी अधिकारी, राजेश कुमार यादव को विश्वविद्यालय के प्रकाशन विभाग का स्टॉल संचालित करने के लिए यह अवसर दिया जिससे मेले और उसकी सारी गतिविधियों को नौ दिनों तक जी भरकर देखने का अवसर मिला। साफ-साफ यह भी दिखा कि हिंदी की दुनिया में बड़े लेखकों के निधन से रिक्तता और प्रकाशित हो रही स्तरहीन कृतियों से परिदृश्य निराशाजनक होता जा रहा है। नए लेखक अपना स्थान बनाने की कोशिश में हैं और उन्हें कुछ-कुछ सफलता मिल भी रही है जो एक सुखद संकेत है।

इत्तफाक से हमारे स्टाल के ठीक सामने नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा संचालित 'लेखक मंच' पर पूरे नौ दिनों तक एक के बाद एक करके सैकड़ों गोष्ठियाँ और लोकार्पण होते रहे। इन सारे कार्यक्रमों का स्तर इतना खराब था कि सुनकर-सुनकर निराशा होती थी। इसके बावजूद आत्ममुग्धता और- 'अरे भाई मुझे भी पहचानो मैं भी लेखक हूँ' देखकर यही लगता रहा कि अब लेखन में गुणवत्ता का सवाल बेमानी है। मेले में जनसंपर्क का दौर-दौरा ही ज्यादा दिखा। पुस्तक मेले में इस बार एक नई रुझान सुप्रसिद्ध हस्तियों की किताबें छापने का रहा। उदाहरण के लिए चर्चित टीवी पत्रकार रवीश कुमार और टीवी के ही पूर्व पत्रकार आशुतोष की किताबें छापकर कुछेक बड़े प्रकाशक लीक तोड़कर नए रास्ते पर चलते दिखे। जाहिर है कि ये प्रकाशक अपने नामचीन लेखकों की लोकप्रियता को भुनाकर अपना बाजार बनाना चाहते हैं। अपने साहित्यिक लेखकों को प्रचार-प्रसार के जरिए मशहूर हस्ती बनाने की प्रवृत्ति हिंदी के प्रकाशकों में कमतर होती दिख रही है। ऐसे में एक बड़ा खतरा असली लेखन के पीछे चले जाने और कमजोर लेखन के सामने आने का है। रवीश कुमार की जिस लघु प्रेम कथा को 'लप्रेक' के नाम से छपा गया वह हिंदी की मुख्यधारा में अरसा पहले आठवें दशक से ही लघुकथा विधा के नाम से मौजूद है जिसे प्रेमचंद ने लिखा था और आज उदयप्रकाश, असगर वजाहत, चित्रा मुदगल जैसे सैकड़ों लेखक लिख रहे हैं लेकिन उनको प्रकाशकों ने कभी महत्व नहीं दिया। सुप्रसिद्ध लेखकों की कृतियाँ तो फिर भी छप जाती हैं लेकिन नए लेखकों को कई बार मायूसी का सामना करना पड़ता है। यहां भी साहित्य और प्रकाशन के कई पक्ष हैं लेकिन उन पर फिर कभी। नए लेखकों को भी अवसर मिले यह हमारे साहित्यिक संसार को समृद्ध बनाने के लिए बहुत जरूरी है।

'बहुवचन' के इस अंक में बहुविध सामग्री का संयोजन किया गया है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा एवं महादेवी सृजनपीठ कुमाऊं विश्वविद्यालय रामगढ़ (नैनीताल) के संयुक्त तत्वावधान में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पर हुई संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेखों में से कुछ का प्रकाशन पाठकों के लिए किया जा रहा है।

इस बीच एक के बाद एक साहित्यकारों के आसामयिक निधन हिंदी जगत में सन्नाटा सा पसरता जा रहा है। इन सभी दिवंगत मनीषियों में आलोचक कृष्णदत्त पालीवाल, हिंदी कविता के विरल स्वर कैलाश वाजपेयी और दलित लेखक तुलसीराम के रचनात्मक योगदान पर अवनिजेश

अवस्थी, ओम निश्चल एवं वैभव सिंह प्रकाश डाल रहे हैं। इसी कड़ी में अनन्य हिंदी सेवी जर्मन विद्वान लोठार लुत्से भी इस बीच नहीं रहे। उनसे बहुत पहले की गई कथाकार प्रकाश मनु द्वारा की गई बातचीत भी दी जा रही है जो कि अनौपचारिक शैली में एक अलग किस्म की प्रस्तुति है जो कि पाठकों को रुचिकर लगेगी ऐसी उम्मीद है।

अंक में शामिल अन्य महत्वपूर्ण सामग्री में मदन मोहन की कहानी, विश्वविद्यालय के पूर्व आवासीय लेखक से. रा. यात्री की डायरी, ज्ञानप्रकाश विवेक का आख्यान, संतोष श्रीवास्तव का यात्रवृत्तांत, सुधीर सक्सेना, राकेश रंजन, इला कुमार की कविताएं, फिल्म 'पीके' की मीमांसा करती सुभाष शर्मा की समीक्षात्मक टिप्पणी प्रमुख है। हमारी कोशिश है कि साहित्य से निकट का रिश्ता रखने वाली कला पर भी विचार हो इसी कड़ी में कलाओं के अंतर्संबंध पर प्रस्तुत है राजेश कुमार व्यास का विश्लेषणात्मक लेख।

भालचंद्र नेमाडे मराठी साहित्य के एक ऐसे सितारे हैं जिन्होंने छठे दशक के दौरान अपनी लेखनी से उसकी दिशा बदल दी। उन्होंने लघु पत्रिका आंदोलन में भी सक्रिय भागीदारी कर मराठी साहित्य जगत को समकालीनता से जोड़े रखा था। नेमाडे को इस बरस भारतीय ज्ञानपीठ सम्मान से नवाजा गया जो कि उनके लेखन की श्रेष्ठता और महत्ता को रेखांकित करता है। उनका सम्मान मराठी के गद्य लेखन की दो हजार बरस पुरानी गद्य गल्प परंपरा का सम्मान है। इसी अंक में भालचंद्र नेमाडे से 'बहुवचन' के अनुरोध पर युवा पत्रकार उमेश चतुर्वेदी द्वारा की गई बातचीत दी जा रही है।

हमारे विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. गिरीश्वर मिश्र 'बहुवचन' के प्रत्येक अंक की तैयारी में पर्याप्त रुचि लेते हैं यह मेरे लिए खासा उत्साहवर्धक है। मुझे खुशी है कि इस बार उन्होंने मेरे निवेदन को स्वीकारते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी पर हुई संगोष्ठी में दिए गए वक्तव्य को प्रकाशित होने के लिए दिया उनका आभार। आपको अंक कैसा लगा प्रतिक्रिया व्यक्त कर जरूर बताएं।

अशोक मिश्र

कविता का भविष्य

महावीर प्रसाद द्विवेदी

संसार परिवर्तनशील है, क्योंकि वह उन्नतशील है। स्थिरता जड़त्व का सूचक है। जो जड़ नहीं वे जंगम हैं; उनकी गति अवरुद्ध नहीं होती। मानव-जीवन का जो स्रोत अनादि काल से बह रहा है वह उद्देश-हीन नहीं। वह किसी एक लक्ष्य की ओर जा रहा है। परंतु उसका प्रवाह कभी पहाड़ों, कभी जंगलों और कभी समतल भूमि से होकर बहता है। अब तक असंख्य मनुष्य इस स्रोत में बहकर काल के अनंत गर्भ में लीन हो गए हैं। परंतु उनमें से कुछ लोग इस स्रोत में अपना चिह्न छोड़ गए हैं। उनके भाव और विचार भाषा के रूप में अभी तक वर्तमान हैं। जो भाषा आज हम बोल रहे हैं वह हमारी पैतृक संपत्ति है- हमारे पूर्वजों की अर्जित की हुई है। ज्यों-ज्यों नए-नए भावों की वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों भाषा के रूप में परिवर्तन होते जाते हैं। अनंत काल से मनुष्य अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए चेष्टा करते आ रहे हैं। हमारी वर्तमान भाषा उसी का परिणाम है। भविष्य में उसका क्या रूप होगा, यह कोई नहीं कह सकता।

भाषा की उन्नति के साथ-ही-साथ कविता की उन्नति होती है। कविता है भावों की अभिव्यक्ति। कवि अपने समय का प्रतिनिधि-स्वरूप होता है। इसलिए उसकी कृति में उस समय के भावों का प्रतिबिंब लक्षित हो जाता है। अभी जितने काव्य उपलब्ध हैं उनके द्वारा हम यह जान सकते हैं कि किस समय किस भाव की प्रधानता थी। अतीत को देखकर और वर्तमान से उसकी तुलना करके हम भविष्य के विषय में कुछ अनुमान कर सकते हैं। प्राचीन कविता के साथ आधुनिक कविता की तुलना करके हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि भविष्य में उसका रूप कैसा होगा। यहां हम यही बतलाने की चेष्टा करेंगे कि प्राचीनकाल में कविता की गति किधर थी, उसे आधुनिक रूप कैसे प्राप्त हुआ और अब उसकी गति किस ओर है।

संसार में प्रविष्ट होते ही मनुष्य जब बाह्य जगत् पर दृष्टिपात करता है तब वह एक बार ही आश्चर्य-सागर में डूब जाता है। अनंत नभमंडल पर देदीप्यमान असंख्य नक्षत्र-समूह, पृथ्वी पर अभ्रभेदिनी पर्वतमाला, असीम जलराशि, प्रकांड ज्वालामुखी और भीषण जल-प्रपात आदि दृश्यों को देखकर कौन मनुष्य विस्मय-विमुग्ध न होगा। विधाता ने इतना बड़ा आयोजन किसके लिए किया है। ये सब क्या है यह सब जानने के लिए मनुष्यों का मन अवश्य ही उत्सुक हुआ होगा। सबसे पहले उन्होंने इन्हीं भावों को व्यक्त करने की चेष्टा की है। संसार के प्राचीनतम काव्यों में इन्हीं की

प्रधानता है।

विस्मय हमें तभी होता है जब हम किसी बात को नहीं समझ सकते। सबसे पहले प्रकृति का पर्यवेक्षण करके मनुष्य विस्मित होता है, क्योंकि उसके लिए प्रकृति रहस्य पूर्ण रहती है। जब वह विश्व के रहस्य का उद्घाटन करने में समर्थ नहीं होता तब वह प्रकृति में एक दिव्य, अनिर्वचनीय शक्ति का अनुभव करने लगता है। इसी समय देवताओं की कल्पना की जाती है। मनुष्य जल में वरुण को प्रत्यक्ष देखता है, अनंत नभोमंडल में वह मूर्तिमान इन्द्र का दर्शन करता है और पवन के शीतल स्पर्श में वह दयामय जगदीश्वर के कर-स्पर्श का अनुभव करता है। इस प्रकार प्रकृति को सजीव करके वह उससे अपना घनिष्ठ संबंध जोड़ लेता है। होमर के काव्यों में देवताओं और मनुष्यों का जो सम्मेलन हुआ है वह ऐसे ही समय में संभव जान पड़ता है। उत्तर-पश्चिम यूरोप में जो प्राचीन गाथाएं प्रचलित हैं उनमें भी प्रकृति की शक्ति का अनुभव करके देवताओं की कल्पना की गई है।

प्रकृति की दो शक्तियां हैं अथवा यह कहना चाहिए कि उसके दो रूप हैं। एक तो दयापूर्ण, दूसरा भयंकर। प्रकृति उत्पन्न भी करती है और संहार भी। जब मनुष्य उसकी सर्वसंहारिणी शक्ति का अनुभव करता है-जब वह देखता है कि प्रकृति के सामने उसकी शक्ति अगण्य है-तब उसके भावों का रूप बदल जाता है। ग्रीस के देवताओं का जैसा चित्रण किया गया है उससे यह मालूम होता है कि वे मनुष्यों से थोड़ी भी सहानुभूति न रखते थे। संसार उनका क्रीड़ाक्षेत्र था। मनुष्य उनकी क्रीड़ा का एक साधन मात्र था। मानव-जीवन पर किसी अदृष्ट शक्ति का आधिपत्य प्रदर्शित करने के लिए वियोगांत नाटकों की सृष्टि की गई है। किसी-किसी कवि के दुखांत नाटकों में यही भाव स्पष्टतया दिखलाया गया है। मनुष्यों के जीवन में एक शक्ति काम कर रही है। वह अनुल्लंघनीय है। उससे आहत होकर क्षुद्र मनुष्य पल भर में नष्ट हो जाता है। प्रकृति से मनुष्य का साहचर्य संभव नहीं। उससे सर्वदा संग्राम करना पड़ता है।

ज्यों-ज्यों मानव-समाज की वृद्धि होती है त्यों-त्यों उसकी अंतर्हित शक्ति का स्फुरण होता है। कुछ लोग ऐसे भी पैदा हो जाते हैं जिनकी शक्ति, अलौकिक मानी जाती है। वे अपनी इस शक्ति से जगत का कल्याण-साधन कर जाते हैं। तब उनका भी यशोगान होता है। यही कविता का प्रारंभिक काल है। भारतवर्ष में रामायण और महाभारत और यूरोप में होमर के इलियड और ओडेसी काव्य इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

परंतु यहां हमें एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। सभी देशों में, सभी कालों में कवियों का कार्य-क्षेत्र एक-सा नहीं रहता। सच तो यह है कि कवि का कार्य-क्षेत्र क्या है, यह कहना बड़ा कठिन है। आज तक जितने कवि हुए हैं उन्होंने एक ही पथ का अनुसरण किया। सबके आदर्श भिन्न-भिन्न थे। महाकवि वाल्मीकि ने अपनी रामायण की रचना में जो आदर्श रखा था वह कालिदास और भारवि के महाकाव्यों में नहीं। यूरोपीय साहित्य में होमर का जो आदर्श था वह पोप, वर्डस्वर्थ अथवा टेनीसन की रचनाओं में नहीं पाया जाता। यहां हम किसी कवि की क्षुद्रता अथवा महत्ता पर विचार नहीं कर रहे। हम तो यहां सिर्फ उनके आदर्शों पर विचार कर रहे हैं। इन सब कवियों की कृतियों पर थोड़ा भी ध्यान देने से यह निश्चय हो जाता है कि इन्होंने अपने-अपने देश और काल की रुचि का खयाल करके भिन्न-भिन्न आदर्शों का अनुसरण किया है। यही उचित भी है। कवि को अनुकरण न करना चाहिए; उसे कोई नई बात पैदा करनी चाहिए। जिस पथ पर एक कवि को सफलता हुई है उसी

पर चल कर दूसरा भी कवि हो सके, यह संभव नहीं। देश-काल में भेद पड़ जाने पर कभी-कभी तो ऐसा करना अत्यंत उपहासास्पद हो जाता है। अंग्रेजी-साहित्य के इतिहास में एक ऐसा उदाहरण है भी। प्रसिद्ध लेखक एडिसन के समय में ड्यूक आफ मार्लबरा के विजय प्राप्त करने पर एक काव्य लिखा गया था। उसमें कवि ने ड्यूक को होमर के वीरोचित गुणों से युक्त करके कवच और सन्नाह धारण करा कर युद्धभूमि में अग्रगामी योद्धा के वेश में, उपस्थित कराया था। प्राचीन काल में वीरता के आदर्श राम और हेक्टर थे। पर अब तो नेपोलियन के समान मनुष्य ही विश्व विजयी हो सकते हैं। इसलिए होमर अथवा वाल्मीकि के युद्ध-वर्णन का आदर्श आधुनिक कवियों के काम का नहीं। आदर्श तो बदलते ही हैं; विषय भी परिवर्तित होते रहते हैं। जिन विषयों को प्राचीन कवि पद्यबद्ध करने योग्य नहीं समझते थे उन पर आधुनिक कवि काव्य-रचना करते हैं। अतएव यह निर्णय करना बड़ा कठिन है कि कवि का कार्यक्षेत्र क्या है।

कहते हैं कि कल्पना ही कवि का कार्य-क्षेत्र है, सत्य नहीं; सौंदर्य है, ज्ञान नहीं; हृदय है, मस्तिष्क नहीं; भाव है विवेक नहीं। भावों की यह प्रधानता सिर्फ काव्य में ही नहीं मानी जाती, किंतु सभी ललित-कलाओं में भावों का प्राधान्य माना जाता है। भावों के आविष्करण को कला कहते हैं। पर आप किसी भी कला को लीजिए उसमें विशेषत्व प्राप्त करने के लिए एक विशेष शिक्षा की आवश्यकता होती है। जब तक उसका निर्दिष्ट ज्ञान नहीं होता तब तक उसमें सफलता प्राप्ति नहीं होती। ज्ञान के विकास से भावों का विकास होता है। यदि यह बात न होती तो कवि अपने बाल्यकाल में ही उत्तमोत्तम कविता लिख डालता और इटली के रैफल नामक प्रसिद्ध चित्रकार के सबसे उत्तम चित्र उसके बाल्यकाल में ही अंकित हुए होते, क्योंकि बाल्यकाल में भावों का जितना प्राबल्य रहता है उतना प्रौढ़ावस्था में नहीं। सच तो यह है कि ज्ञान की ऊर्जितावस्था में ही का सबसे अच्छा विकास होता है। हृदय के साथ मस्तिष्क की पुष्टि होने पर भावों की उत्तम अभिव्यक्ति होती है।

यदि हमारा यह सिद्धांत ठीक है तो हमें कहना चाहिए कि विज्ञान के विकास से कला का हास नहीं, प्रत्युत वृद्धि होती है। लार्ड मेकाले ने मिल्टन के विषय में कहा है कि मिल्टन उस युग में हुआ जब कविता का समय गुजर चुका था। पर हम समझते हैं कि मिल्टन का उदय अपने ही उपयुक्त समय में हुआ। उसके काव्यों में भावों की जो गंभीरता और भाषा की जो प्रौढ़ता है वह उसी के युग के अनुकूल है। भारतीय साहित्य के इतिहास पर एक बार दृष्टि डालिए। वीर-रसात्मक काव्य के अंतिम कवि व्यास थे। इसके बाद कोई भी कवि वीर-रस की कविता लिखने में यथेष्ट समर्थ नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि व्यवसाय की समृद्धि के साथ-ही-साथ विलासिता की वृद्धि होती है। उसके दो परिणाम होते हैं। एक तो विलासिता से विरक्त और दूसरी उससे अनुरक्त। अतएव शांति के समय में वैराग्य दृश्य अथवा शृंगार-रस की ही कविताएं लिखी जाती हैं। जब जाति में संघर्ष रहता है-परस्पर द्वंद्व-युद्ध चलता है-तब वीर-रस की कविता का समय आता है। मिल्टन के शैतान का व्याख्यान इंग्लैंड के विप्लवयुग के ही उपयुक्त था। चन्द का रासो और भूषण की कविता अपने युग के अनुकूल ही थी। क्षीणशक्ति और राजनैतिक स्वत्व से हीन हिन्दू जाति भगवान का आश्रय खोजे और भक्ति-रस के काव्यों में तल्लीन हो जाए तो आश्चर्य नहीं है।

हम कह आए हैं कि काव्यों में भावों का आधिपत्य स्वीकृत किया जाता है। परंतु क्या काव्य में और क्या अन्य ललित-कलाओं में, भावों के स्पष्टीकरण से चरम सत्य का ही विकास होता है।

इसमें संदेह नहीं कि कविता का सत्य दर्शन-शास्त्र या विज्ञान का सत्य नहीं है और न उसमें यह सत्य है जो किसी धर्म अथवा मत विशेष से स्पष्ट किया जाता है। उसमें सत्य का प्रकाश कुछ दूसरी ही रीति से होता है। कवि किसी भी मत का अनुयायी हो, कोई भी सिद्धांत मानता हो, पर ज्यों ही वह अपने सिद्धांतों को पद्य-बद्ध करता अथवा वर्डस्वर्थ या झाइडन के समान पद्यों में धार्मिक शिक्षा देना चाहता है, त्यों ही वह कवि के उच्च आसन से गिर जाता है। कवि का काम न तो शिक्षा देना है न दार्शनिक तत्वों की व्याख्या करना है। उसके हृदय से तो वह गान उदगत होना चाहिए जिससे समस्त मानव-जाति की हृत्तंत्री में विश्व-वेदना का स्वर बज उठे।

मनुष्यों में ईश्वर प्रदत्त शक्तियों में से वाणी की महिमा सबसे अधिक है। हिन्दू मात्र उसे साक्षात् देवी सरस्वती के रूप में उपास्य समझते हैं। संसार के बाल्यकाल से लेकर आज तक इसी वाणी का ही विकास होता जा रहा है। जब भावों की वृद्धि होती है तब भाषा में रूपांतर होता है। जब कोई भाषा भाव ग्रहण करने में असमर्थ होती है तब उसका अंतर हो जाता है और उसका आसन दूसरी भाषा ले लेती है। यही कारण है कि भाषा एक सी कभी नहीं रहती। उन्नतिशील मानव-जाति के लिए भाषा में परिवर्तन होते रहना आवश्यक है। सारांश यह कि सभी भाषाएं सभी भावों को व्यक्त करने में समर्थ नहीं होती। यह कारण है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न स्वर प्रकट होते हैं। भारतीय भाषाओं में जो भाव व्यक्त हो सकते हैं वे भाव यूरोपीय भाषाओं में भली-भांति व्यक्त नहीं होंगे। तो भी इतना हम अवश्य कहेंगे कि भाव-स्रोत की एक ही धारा एक ही समय में सर्वत्र बहती है। प्राचीन काल में सभी कवि प्रकृति की देदीप्यमान शक्तियों का गान करते हैं। इसके बाद कवि वीरों का यशोगान करते हैं। इसके बाद नाटकों की सृष्टि होती है, फिर शृंगार-रस पर काव्य रचना होती है, भाषा का माधुर्य बढ़ता है, अलंकारों की ध्वनि सुन पड़ती है और पद-नैपुण्या प्रदर्शित किया जाता है। इसके बाद सांसारिक विषयों से घृणा होती है। भक्ति के उन्मेष में कोई प्रकृति का आश्रय लेता है, कोई प्राचीन आदर्शों का।

बाह्य प्रकृति के बाद मनुष्य अपने अंतर्जगत की ओर दृष्टिपात करता है। तब साहित्य में कविता का रूप परिवर्तित हो जाता है। कविता का लक्ष्य 'मनुष्य' हो जाता है। संसार से दृष्टि हटाकर कवि व्यक्ति पर ध्यान देता है। तब उसे आत्मा का रहस्य ज्ञात होता है। वह सांत में अनंत का दर्शन करता है और भौतिक पिंड में असीम ज्योति का आभास पाता है।

भविष्य कवि का लक्ष्य इधर ही होगा। अभी तक वह मिट्टी में सने हुए किसानों और कारखाने से निकले हुए मैले मजदूर को अपने काव्यों का नायक बनाना नहीं चाहता था। वह राजस्तुति, वीर-गाथा अथवा प्रकृति-वर्णन में ही लीन रहता था। परंतु अब वह क्षुद्रों की भी महत्ता देखेगा और तभी जगत का रहस्य सबको विदित होगा। जगत का रहस्य क्या है, इस पर एक ने कहा है कि असाधारणता में रहस्य नहीं है। जो साधारण है वही रहस्यमय है; वही अनंत सौंदर्य से युक्त है। इसी सौंदर्य को स्पष्ट कर देना भविष्य-कवियों का काम होगा।

(सितंबर 1920 'सरस्वती' में प्रकाशित)

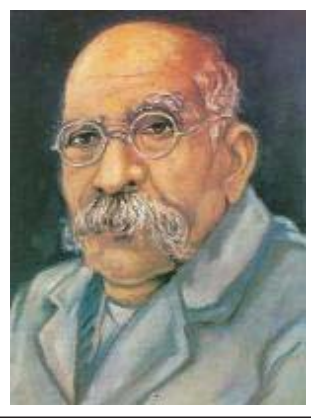


संगोष्ठी

संयोजकीय वक्तव्य

आधुनिक हिंदी के पुरोधाय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा एवं महादेवी वर्मा सृजनपीठ, कुमाऊं विश्वविद्यालय, रामगढ़ (नैनीताल) के संयुक्तत्व तत्वावधान में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 150वीं जयंती के अवसर पर दिनांक 28-29 अगस्त, 2014 को रामगढ़ में 'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण के सवाल' विषय पर केन्द्रित एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। संगोष्ठी का उद्घाटन विश्वविद्यालय के कुलपति, प्रो. अध्यक्षता कुमाऊं विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. एच.एस. धामी ने किया एवं विश्वविद्यालय के कुलपति एवं अध्यक्षता कुमाऊं विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो. वी.पी.एस. अरोड़ा पोखरिया, निदेशक महादेवी वर्मा अल्मोड़ा ने संगोष्ठी का संयोजन किया।



उद्घाटन सत्र के अतिरिक्त शास्त्र और भारतीय समाज', का विकास' तथा 'खड़ी बोली हिंदी पर सत्र आयोजित किए गए जिनमें अध्येताओं दोनों ने भाग लिया।

मुस्ताक अली, हरिसुमन बिष्ट, ब्रजेन्द्र अग्रवाल, मोहन रावत, सूरज पालीवाल, रामानुज अस्थाना, अशोक नाथ त्रिपाठी, बीरपाल सिंह यादव, अख्तर आलम, राजेश लेहकपुरे, शशांक शुक्ल, तेजपाल सिंह, प्रभा पंत, भावना मासीवाल, प्रकाश चंद्र, शैलेय, संजय, उर्वशी, अमृत कुमार प्रदीप त्रिपाठी एवं रीता तिचारी। इन सबने विभिन्न सत्रों में आचार्य द्विवेदी की साहित्य सेवा और उपलब्धियों के विभिन्न पक्षों पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचार व्यक्त किए और वर्तमान में उनकी प्रासंगिकता को चिह्नित किया। चर्चा में लगभग 80 प्रतिभागियों ने भाग लिया।

यह संगोष्ठी हिंदी नवजागरण के उन सवालों को एक बार फिर से केंद्र में लाती है जो सवाल एक शताब्दी के बाद भी भारतीय समाज को मथ रहे हैं। आचार्य द्विवेदी के विचार आज भी हममें आत्मविश्वास पैदा करते हैं और उनकी (सरस्वती) हमें अपने समय के सवालों से टकराने की ताकत देती है।

'बहुवचन' के इस अंक में संगोष्ठी में प्रस्तुत आलेखों में से कुछ महत्वपूर्ण आलेख संपादित कर प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

- शोभा पालीवाल

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का अवदान

गिरीश्वर मिश्र

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी बीसवीं सदी के आरंभ में हिंदी के नए युग के प्रस्थान बिंदु के प्रेरणा स्रोत के रूप में उपस्थित होते हैं। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और अनेक भूमिकाओं में तर्क और साहस के साथ अपने समय में एक सजग और समर्थ भारतीय बुद्धिजीवी के रूप में उभरते हैं। वे बहुभाषाविद थे और हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत, अंग्रेजी, ब्रज, फारसी, मराठी और बंगला भाषाएं भी जानते थे। उनके विपुल साहित्य में विषय और विधाओं की विविधता चकित करने वाली है। उन्होंने साहित्य के अतिरिक्त इतिहास, पुरातत्व, दर्शन आदि विषयों पर भी लेखनी चलाई। वे एक अथक हिंदी-सेनानी के रूप में किंचित असहिष्णु परिस्थितियों में भी हिंदी के उन्नयन के लिए आजीवन जुटे रहे। उन्होंने आलोचनाओं की परवाह न करते हुए भाषा को व्यवस्थित करने का बीड़ा उठाया। भाषा 'बहता नीर' तो है और उसमें विविधता से सौंदर्य भी बढ़ता है पर उसके लिए एक आधारभूत मानक भी आवश्यक है। संप्रेषण और संचार को व्यवस्थित और प्रामाणिक बनाने के लिए यह जरूरी है। द्विवेदीजी ने हिंदी भाषा को एक मानक रूप देने का महत्वपूर्ण प्रयास किया और हिंदी गद्य और पद्य की भाषा को नया तेवर और भंगिमा दी। द्विवेदीजी के साथ हिंदी का एक नया युगारंभ हुआ जिसमें हिंदी की एक नई पीढ़ी तैयार हुई जो वैचारिकी संवेदना और भाषा की नवीनता के प्रति सजग थी।

यह भी उल्लेखनीय है कि अनेकानेक दायित्वों का वहन करते हुए द्विवेदीजी ने सारा कार्य कई तरह की पारिवारिक और सामाजिक कठिनाइयों के बीच किया। यद्यपि कि उनकी औपचारिक शिक्षा मैट्रिक तक ही हुई थी पर उन्होंने स्वाध्याय से भाषा, साहित्य और ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों का गंभीर अध्ययन किया। रेलवे में विभिन्न पदों पर 1882 से 1903 तक नौकरी करने के बाद अपने मित्र और इंडियन प्रेस इलाहाबाद के मालिक श्री चिंतामणि घोष के अनुरोध पर द्विवेदीजी को 'सरस्वती' पत्रिका को स्वतंत्रतापूर्वक संपादित करने का अवसर मिला। 1903 में शुरू कर द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' का सतत 18 वर्षों तक संपादन किया, इस क्रम में उन्होंने अनेक लेखकों, कवियों और कथाकारों के भाषा, कथ्य, शैली, प्रस्तुति आदि में परिपक्वता लाने के लिए मार्गदर्शन किया। द्विवेदीजी के संपादकत्व में 'सरस्वती' वस्तुतः एक विशाल कलेवर की पत्रिका बन गई जिसमें निरा साहित्य ही नहीं समाज के सरोकार भी महत्व पाते थे। एक सम्पादक के रूप में जिस दृढ़ता, सतर्कता

और अनुशासन के साथ द्विवेदीजी ने रचनाकारों को साधा और रचनाओं के चयन, भाषा के परिष्कार पर कड़ी नजर रखी वह स्पृहणीय है। यह वह समय था जब हिंदी गढ़ी जा रही थी। उस अवधि में द्विवेदीजी की व्याकरणिक प्रतिबद्धता ने हिंदी भाषा को संस्कार देने में विशेष भूमिका निभाई। आज के संपादक और मीडिया की दुनिया जिस तरह संदिग्ध प्रामाणिकता और बाजार के दबाव में आ गई है उसे देख कर द्विवेदीजी का कर्तृत्व आश्चर्यजनक रूप से संतोषदायी और प्रेरणास्पद लगता है। द्विवेदीजी सचमुच, महाकवि निराला के शब्दों में कहें तो 'राष्ट्रभाषा हिंदी के मूर्तिमान स्वरूप हैं।'

द्विवेदीजी के साहित्य-सृजन का विस्तार देखने से यह प्रकट होता है कि वे न केवल हिंदी में कविता, कहानी, निबंध और आलोचना लिख रहे थे बल्कि देश की तात्कालिक राजनैतिक-सामाजिक व्यवस्था के व्याख्याकार का भी दायित्व निभा रहे थे। आरंभ में उन्होंने ब्रज भाषा में कविताएं लिखीं। नैषध-चरित-चर्चा (1988) हिंदी कालिदास की आलोचना (1898) उनकी आरंभिक आलोचनात्मक कृतियां हैं जिनसे हिंदी आलोचना का श्रीगणेश होता है। 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य करते हुए द्विवेदीजी का चिंतन-क्षितिज विस्तृत हुआ और अपने निबंधों में वह 'कविता' (1903), 'कवि और कविता' (1907) 'कवि- कर्तव्य' (1911) और 'कविता का भविष्य' (1920) जैसे विषयों पर गंभीर विमर्श करते दिखाई पड़ते हैं। उनके अनुसार 'कविता से समस्त मानवजाति की हृत्तंत्री में विश्ववेदना का स्वर बज उठता है'। भाषा और व्याकरण के प्रश्नों पर उन्होंने अनेक निबंध लिखे। खड़ी बोली और संस्कृत में उन्होंने कविताएं लिखीं।

गुलाम भारत में अंग्रेजी राज के शोषण के खिलाफ, विशेषतः किसानों और खेतिहरों की समस्याओं को लेकर द्विवेदीजी निरन्तर गुहार लगाते रहे। द्विवेदीजी ने अंग्रेजों की शोषणवादी आर्थिक नीतियों का सतत विरोध किया और समाज के हाशिए पर स्थित लोगों की सुधि ली। स्त्री शिक्षा, बाल विवाह, स्त्री के अधिकार जैसे विषयों पर उनकी रचनाएं इसी श्रेणी में आती हैं। द्विवेदीजी जन-जागरण के लिए भी कटिबद्ध थे। 'संपत्ति शास्त्र' जैसी रचना उनकी विश्लेषक बुद्धि और तीव्र सामाजिक चिंता दोनों को ही रेखांकित करती है हिंदी में, अर्थशास्त्र की विवेचना करने वाली कदाचित् यह पहली ही पुस्तक है। वे मानते थे कि सुदृढ़ आर्थिक आधार ही समाज को गति देता है। इस दृष्टि को स्वयं अपने लेखों तथा अन्य रचनाकारों से भी लिखवा कर दृढ़ता से प्रतिपादित किया। कृषक-चिंतन द्विवेदीजी के एक मुख्य प्रतिपाद्य के रूप में उभर कर आता है। साथ ही उन्होंने समाज विज्ञान की अनेक उभरती विधाओं जैसे अर्थशास्त्र, राजनीतिविज्ञान और समाजशास्त्र ही नहीं बल्कि विज्ञान से जुड़े तमाम विषयों पर मौलिक लेखन किया। और कई पाश्चात्य विचारकों जैसे बेकन और जान स्टुअर्ट मिल आदि की महत्वपूर्ण रचनाओं का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया। द्विवेदीजी ने स्वयं संस्कृत के अनेक काव्य ग्रंथों का अनुवाद किया जिनमें नैषध, रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत और किरातार्जुनीयम् के हिंदी अनुवाद महात्वपूर्ण हैं। सचमुच पचासी पुस्तकों में फैला उनके रचनात्मक कार्य का विस्तार विस्मित करने वाला है।

यह उल्लेखनीय है कि जिस अवधि में द्विवेदीजी रचनाशील थे वह चुनौतियों से भरा था और हिंदी के व्यवस्थित अध्ययन की कोई निश्चित परम्परा भी नहीं थी। द्विवेदीजी ने खुद राह बनाई और हिंदी में आलोचनात्मक विमर्श का आरम्भ किया परन्तु रामचंद्र शुक्ल, नंद दुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे हिंदी के सुधी इतिहासकारों और आलोचकों ने उनके अवदान पर यह कह कर

अपेक्षित ध्यान नहीं दिया कि उनका कार्य अपेक्षित स्तर का नहीं था। दूसरी ओर पंत, निराला और प्रेमचंद जैसे हिंदी के कृती रचनाकारों ने द्विवेदीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संपादक, भाषावैज्ञानिक और खड़ी बोली हिंदी के प्रबल समर्थक द्विवेदीजी ने समकालीन साहित्यिक और सामाजिक चिंतन को व्यवस्थित करने और आगे बढ़ाने का महनीय उद्यम किया। डॉ. राम विलास शर्मा ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा हिंदी नव जागरण' में संभवतः पहली बार द्विवेदीजी के महत्त्व को आंका और हिंदी गद्य को एक व्यवस्थित रूप देने के लिए द्विवेदीजी की सक्रिय प्रतिबद्धता को रेखांकित किया। एक गद्य-भाषा के रूप में हिंदी उस समय बन रही थी और उसका कोई निश्चित सांचा नहीं उभर सका था। द्विवेदीजी ने अथक प्रयास से भाषा में सुधार लाने की कोशिश की और उसे सरल और व्यापक बनाया। उन्होंने हिंदी की ग्राहिका शक्ति को पहचाना और उसे लोक भाषा माना। वे हिंदी की भाषिक स्वतंत्रता को मानते थे। द्विवेदीजी के मत में 'हिंदी संस्कृत के नियम पर आंख मूंद कर चलने को बाध्य नहीं है।... व्याकरण वाग्धारा का दास है। स्वामित्व उसके भाग्य में कहां!'

इसमें संदेह नहीं कि द्विवेदीजी ने हिंदी समालोचना को एक समर्थ वैचारिक धरातल दिया। उन्हें भारतीय वैदुषिक परंपरा का भी ज्ञान था तथा उनमें एक वैज्ञानिक की विश्लेषक रुचि और व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि भी मौजूद थी। वे संभवतः हिंदी जगत में प्रथम आलोचक के रूप में उपस्थित होते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र के साथ उभर रहे आधुनिक युग में, रीतिकालीन प्रवृत्तियों की जिन सीमाओं की ओर ध्यान दिलाया गया उसका विस्तार द्विवेदीजी के हाथों हुआ। उनका रीतिविरोधी अभियान इतना प्रभावी सिद्ध हुआ कि हिंदी समीक्षा शृंगारिकता के आग्रह से मुक्त हो सकी। उन्होंने मैथिली शरण गुप्त की प्रसिद्ध काव्य-कृति 'भारत भारती' की प्रशंसा करते हुए लिखा 'वह सोते हों को जगाने वाला है; भूले हों को ठीक राह पर लाने वाला है; निरुद्योगियों को उद्योगशील बनाने वाला है; आत्म-विस्मृतों को पूर्वस्मृति दिलाने वाला है; निरुत्साहियों को उत्साहित करने वाला है; उदासीनों के हृदयों में उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिंदी के किसी भी काव्य से नहीं हो सकती'। उनकी इन पंक्तियों में नवजागरणकालीन आलोचना के विवेक के बीज हैं।

द्विवेदीजी की प्रतिभा की बानगी का स्वाद लिए बिना उनकी चर्चा अधूरी ही रहेगी। काव्य के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा अनेक तरह से प्रस्फुटित हुई। उन्होंने हिंदी की पहली गद्य कविता 'प्लेगस्तवराज' लिखी, ब्रज भाषा की मनोहर कविताएं की और अपने ग्रामीण क्षेत्र की बैसवाड़ी भाषा में भी कविता रची है। देववाणी संस्कृत में भी पद्य रचना की। एक उदाहरण पठनीय है :

जागर्ति देव! तव शक्तिरनन्तरूपा,
व्याप्ता चराचरमये भुवनत्रयेस्मिन् ।
तारापथे, भुवि, नरे, च नरेश्वरे च,
तोयोनले, मरुति, म्रिद्यपि साविरास्ते॥

कविता के मर्म को पहचानते हुए द्विवेदीजी ने उसे 'मनोभाव का चित्र' कहा है। उनके अनुसार कविता में विश्रान्ति मिलती है। 'कविता का भविष्य' शीर्षक लेख में द्विवेदीजी कहते हैं 'जो साधारण है वही रहस्यमय है; वही अनंत सौंदर्य से युक्त है। इसी सौंदर्य को स्पष्ट कर देना भविष्य के कवियों का काम है।'

अंग्रेजी साम्राज्य का विरोध करते हुए द्विवेदीजी कहते हैं :

धड़ाधड़ धार रुपयों की बही है
विलायत ओर सीधी जा रही है।
यहां अन्याय हा हा हो रहा है!
कहें क्या कुछ नहीं जाता कहा है।
मरें असगर, बिसेसर और काली,
भरे घर ग्रांट, ग्राहम और राली।

द्विवेदीजी की राष्ट्र चिंता की अभिव्यक्ति 'स्वदेशी वस्त्र के स्वीकार', 'प्यारा भारत', तथा 'दुर्भिक्ष' जैसी अनेक कविताओं में व्यक्त हुई है। अपने विचारों में द्विवेदीजी ने स्त्री विमर्श, किसानों की समस्या और ज्ञान की भारतीय परंपराओं पर भी ध्यान दिया। भाषा की क्षमता उनके चिंतन का एक विशेष पक्ष था जिस पर विचार करते हुए उन्होंने 'मातृभाषा के स्वराज' की अवधारणा का विस्तार से विवेचन किया। वे मानते हैं कि 'भाषा की दृढ़ नींव पर स्वराज्य टिका है। मातृभाषा माता है। उनका दृढ़ विचार था कि मातृभाषा के द्वारा ही देश का विकास संभव है। वे कहते हैं कि जिनमें राष्ट्रीयता का भाव जागृत है, जो जातीयता के महत्व को समझते हैं वे प्राण रहते क्यों अपनी मातृभाषा का त्याग नहीं करते, कभी उसके पोषण और परिवर्तन के काम से पीछे नहीं हटते, कभी दूसरों की भाषा को अपनी नहीं बनाते। जिंदा देशों में यही होता है। मुर्दा और पराधीन देशों की बात मैं नहीं कहता, उन अभागे देशों में तो ठीक इसका विपरीत दृश्य देखा जाता है'।

द्विवेदीजी सरल, सुबोध और प्रवाहमयी भाषा के हिमायती थे। इसका एक प्रासंगिक उदाहरण दे कर मैं अपनी बात समाप्त करूंगा। भारत में सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख किरदार नगरीकरण है। गांव और शहर के बीच अस्तित्व की लड़ाई आज भी जारी है। आचार्य द्विवेदी ने गांव और शहर के द्वंद्व को ले कर 'शहर और गांव' शीर्षक एक सरल सुंदर रचना की थी जो 1906 की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। वह मुझे आज भी प्रासंगिक और ताजा लगती है। शहर गांव से बात करते हुए अपनी खूबियां बयान करता है और कहता है कि सुविधाओं से भरे अच्छे जीवन की संभावना तो सिर्फ शहर में ही है -

शहर गांव से बोला भाई।
मुझको तुझ पर मिली बडाई॥
मुझसे सबको बहुत नफा है।
तुझसे तो हर शख्स खफा है॥

मैं आराम बहुत देता हूं।
काम बहुत से मैं करता हूं॥
अच्छे अच्छे माल बनाकर।
रख देता हूं सजा सजा कर॥

तेरा भी हूं बहुत सहारा।
मुझसे तेरा बड़ा गुजारा॥
लेकर पैदावार तेरी।
देता हूं दौलत बहुतेरी॥

मुझ बिन तुझे चैन से रहना।
भाई मुश्किल है, सच कहना॥
जजी, मुंसिफी, मैजिस्ट्रेटी।
मैंने तेरे लिए समेटी॥

हाकिम, अहलकार, बैरिस्टर ।
सब बिठलाए तेरी खातिर॥
वैद, हकीम, डॉक्टर, सर्जन ।
जो हैं सब रोगी के दुश्मन॥

ये सब तुझे मदद करते हैं ।
बिगड़ा काम बना देते हैं॥
जो मेरा एहसान न माना ।
तो है तू पूरा दीवाना॥

शहर की मन भावनी और लुभावनी बातें सुन कर गांव जवाब देता है और दृढ़ता से कहता है कि भाई जो कुछ कह रहे हो वह ऊपरी दिखावा है। तुम्हारे भुलावे में आ कर लोग बहक जाते हैं और तरह-तरह की मुश्किलों में फंस जाते हैं। आदमी को नैसर्गिक और सहज जीवन का अवसर ग्राम जीवन के प्राकृतिक परिवेश में ही प्राप्त होता है।

गांव हंसा सुनकर ये बातें ।
कहा, जानता हूं सब घातें॥
जो यह सान जताते हो तुम ।
बातें बड़ी बनाते हो तुम॥

सब चंगे थे; रोग नहीं था ।
जूडी, प्लेग, बुखार नहीं था॥
सादा खाना सब खाते थे ।
पच जाता था, सुख पाते थे॥

अपने गुण सब गाते हो तुम ।
सब्जबाग दिखलाते हो तुम॥
सबको खूब लुभाते हो तुम ।
खोटी चाल चलाते हो तुम॥

अब भी मेरा हाल वही है ।
सीधी-सादी चाल वही है॥
तुमसे क्या आराम किसी को ?
दुःख ही दुःख है सबके जी को॥

अब तुम मेरी सुनो कहानी ।
हुई बड़ी मुझसे नादानी॥
जब मैं पास तुम्हारे आया ।
अपना सारा भरम गंवाया॥

जो सुख मैं सब को देता हूं ।
उसका बदला कब लेता हूं ?
मुझमें है आराम अनूठा ।
मुझमें खफा रहे वह झूठा॥

सारे दुःख, तकलीफें सारी ।
मिलीं मुझे तुमसे कर यारी॥
पहले दुनिया में मैं ही था ।
कोई दुःख उस वक्त नहीं था॥

सब सामान जो तू रखता है ।
मेरा पैदा किया हुआ है॥
मेरी ही मेहनत का फल है ।
जिससे तुझको इतना बल है॥

खुली, साफ, बेरोग हवा में ।
जो गुण है, वह नहीं दवा में॥
पहले तुम थे कहां? बताओ ।
कौन काम था रुका? जताओ॥

छल फरेब सब करते हो तुम ।
मार और को मरते हो तुम॥
काम अदालत से क्या हमको ?
क्या वकील की परवा हमको ?

तुम झूठे इल्जाम लगा कर ।
ले जाते हो फंसा फंसा कर॥
जेवर जरी वगैरह चीजें ।
तुम्हें मुबारिक रहें तमीजें॥

गौर करो तो मुझको जानो ।
दिल में सोचो तो पहचानो॥
अपने मुंह से सभी बड़े हैं ।
तुमसे मिल लाखों बिगड़े हैं॥

आचार्य द्विवेदी की समर्पित साधना और उनका कर्मठ जीवन बुद्धिजीवियों और साहित्यकर्मियों के लिए एक मिसाल है जिससे सामाजिक दायित्व और सृजनधर्मिता के लिए समर्पण की प्रेरणा मिलती है। आशा है कि हिंदी भाषा, विचार तथा संवेदना के विकास में उनके ऐतिहासिक योगदान के सम्यक् मूल्यांकन का पथ प्रशस्त होगा, यही पथ हमारे विवेक और सर्जना का भी समुचित दिशा निर्देश कर सकेगा।

(यह आलेख गोष्ठी के उद्घाटन वक्तव्य का संपादित रूप है)



रीतिवाद और हिंदी आलोचना

शशांक शुक्ला

हिंदी आलोचना-पद्धति का विकास रीतिवादी आग्रह की प्रतिक्रिया व टकराहट में निर्मित हुआ है। बालकृष्ण भट्ट ने जिस आलोचना को समाज की जातीय चेतना से जोड़ने का कार्य किया था, उसे सही रूप में महावीर प्रसाद द्विवेदी व आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्थापित किया। आचार्य शुक्ल के बाद तो 'रीतिवाद' खारिज ही हो चुका था, अतः बाद के आलोचकों के सामने रीतिवाद का प्रश्न उस रूप में उपस्थित न था। हर युग की आलोचना व आलोचक अपने लिए कोई-न-कोई केंद्र तय करते ही हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपनी आलोचना दृष्टि संस्कृत कवियों से प्रेरणा प्राप्त की, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्तिकाल से प्रेरणा ली तो छायावाद में नंददुलारे वाजपेयी ने रोमांटिसिज्म से... प्रेरणा प्राप्त की। रामविलास शर्मा की आलोचना दृष्टि मार्क्सवाद से होते हुए संपूर्ण भारतीय परंपरा बनती है...। कहने का अर्थ यह है कि ये सभी आलोचना दृष्टियां रीतिवाद की टकराहट में निर्मित हो रही थीं। यहां संक्षेप में हम रीतिकाल व रीतिवाद के पार्थक्य को समझ लें। रीतिवाद एक आंदोलन है, रीतिवाद एक मनोवृत्ति है। रीतिवाद का व्यापक रूप सभी प्रकार की बद्धता, पद्धति, संकुचन, दरबारीपन, चाटुकारिकता और अराजकता से है। रीतिकाल हिंदी का एक साहित्यिक आंदोलन है किंतु रीतिवाद एक बद्ध चेतना है। रीतिकाल ऐतिहासिक कालक्रम में समाप्त हो जाता है, किंतु क्या रीतिवाद भी समाप्त होता है? रीतिवाद सभी प्रकार की साहित्यिक अश्लीलता से निर्मित आभिजात्य है। 'कला कला के लिए' रीतिवाद का ही पश्चिमी-आधुनिक संस्करण है। जिस प्रकार रीतिकाल में आभिजात्य है, सामंतवाद है, दरबारी केंद्रीयता है, अलंकरण और अहंमन्य व्यक्तिवाद है; उसी प्रकार कलावाद में सामाजिक गति के बीच अपनी सत्ता-स्थापन का अतिरंजित प्रयास है। यही कारण है कि कलावाद के अतिक्रमण के बिना यथार्थवाद का आगमन असंभव होता है। कलावाद प्रतिरोधी दृष्टि का प्रतीक है तथा यथार्थवाद गतिशील दृष्टि का...। इसीलिए किसी भी सचेतन संस्कृति में कलावाद/रीतिवाद के बाद यथार्थवाद/नवजागरण का आगमन होता ही है। अतः महावीर प्रसाद द्विवेदी को रीतिवाद से टकराकर अपनी आलोचना दृष्टि विकसित करनी पड़ी हो तो क्या आश्चर्य?

महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है- 'साहित्य के विशिष्ट क्षेत्र में द्विवेदीजी ने रीतिवाद-विरोधी अभियान का संगठन और नेतृत्व किया

जैसे- सामाजिक क्षेत्र में वह सामंती रूढ़ियों के आलोचक थे, वैसे ही साहित्य-क्षेत्र में उन्होंने दरबारी साहित्य की परंपराओं-नायिकाभेद, अलंकारशास्त्र, चमत्कारवाद- की तीव्र आलोचना की। इस रीतिवादी धारा से भक्ति-साहित्य और भारतेंदु युगीन गद्य लेखन को अलग करते हुए उन्होंने यथार्थपरक साहित्य-रचना के नए सिद्धांतों की रूपरेखा स्थिर की। वस्तुतः महावीर प्रसाद द्विवेदी के आलोचना कर्म के मूल में उनका सिद्धांत वाक्य 'ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है'। रामविलासजी इसी कारण उन्हें सीमित अर्थों में केवल साहित्यकार नहीं माना है। महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी आलोचना-साहित्य को नवीन चेतना प्रदान कर रहे थे। स्वाभाविक था कि उनका लेखन-कर्म सांस्कृतिक-नवजागरणवादी चेतना की अभिव्यक्ति करता। महावीर प्रसाद द्विवेदी का समय भारतीय नवजागरण का विकास काल है, जिसमें साहित्य को व्यापक रूप देने की जरूरत प्रमुख थी और व्यापक आधार दिए बिना साहित्य का विस्तार संभव नहीं था। साहित्य का आधार अब न अलंकरण है और न भक्ति...। साहित्य अब नवीन ज्ञान-विज्ञान से युक्त होगा ही। अनायास नहीं कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका में डार्विन, स्पेंग्लर से लेकर आर्यभट्ट तक के लेख प्रकाशित किए। साहित्य अब अन्य ज्ञानात्मक अनुशासनों से भी जुड़ रहा था। ईश्वर की भूमिका बदलने लगी थी (देखें 'प्रियप्रवास' व साकेत महाकाव्य)। परलोक का स्थान लोक व ईश्वर का स्थान मनुष्य लेने लगे थे। नवजागरण के जिस 'तीसरा चरण' की बात कही गई है, वह वाकई हिंदी साहित्य के बनने का काल है। ऐसी स्थिति में सबसे बड़ा आलोचकीय-कर्म सौंदर्य प्रतिमान में बदलाव का होता है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी व उनकी रीतिवाद विरोधी आलोचना का सबसे बड़ा प्रदेय यह था कि उन्होंने हिंदी आलोचना में पहली बार सौंदर्य चेतना का प्रतिमान बदला। मिश्र बंधु के 'नवरत्न' पर प्रश्नचिह्न लगाया...आलोचना के मापदंड पर प्रश्नचिह्न लगाया। तुलसी-सूर-हरिश्चंद्र के साथ मतिराम- देव...इत्यादि क्यों बैठे जाएं? इस प्रश्न को पहली बार हिंदी आलोचना में द्विवेदीजी ने उठाया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल को यह श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने हिंदी कविता के केंद्र में देव- बिहारी की जगह सूर-तुलसी को बैठा दिया... लेकिन इस महत्व के वास्तविक अधिकारी महावीर प्रसाद द्विवेदी हैं। हिंदी साहित्य के सौंदर्य प्रतिमान बदल देना, रीतिवादी दृष्टि की जगह लोक दृष्टि स्थापित करा देना द्विवेदी की आलोचना दृष्टि की बहुत बड़ी विशेषता है। नवीन आलोचना दृष्टि का विकासबद्ध विषय पर प्रश्नचिह्न लगाए बिना संभव नहीं था। द्विवेदी ने लिखा है -'कविता का विषय मनोरंजक और उपदेशजनक होना चाहिए। यमुना के किनारे-किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की कोई आवश्यकता है और न परकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यंत पशु; भिक्षुक से लेकर राजा पर्यंत मनुष्य; बिंदु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल; अनंत आकाश; अनंत पृथ्वी- सभी पर कविता हो सकती है।' यहां ध्यान देने की बात है कि भिक्षुक, जल, आकाश, पृथ्वी, जल जैसे विषय प्रेमचंद, निराला, पंत, महादेवी, प्रसाद की रचना भूमि कैसे बनते हैं? इसे समझा जा सकता है। विषय की जड़ता को तोड़ते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है - 'तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूंढने से कवियों के विचार-स्वायत्त में बड़ी बाधा आती है। ऐसे नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियां हैं उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाईयों का सामना

करना पड़ता है। कवि का काम है वह अपने मनोभावों को स्वाधीनता पूर्वक प्रकट करे।' यदि निराला के 'परिमल' की भूमिका व द्विवेदीजी के इन कथनों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो हम समझ सकते हैं कि द्विवेदीजी ने निराला या उस पूरे युग को कितने गहरे तौर पर प्रभावित किया था। स्पष्ट है कि मौलिकता बिना विषय विस्तार के संभव नहीं है। जब रीतिकाल के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं - 'वाग्धारा बंधी हुई नालियों में बहने लगी।' तो रीतिकाल व रीतिवाद के कथ्य/विषय का संकुचन ही स्पष्ट होता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को नैतिकतावादी आलोचक कहा गया है। रीतिवाद की प्रतिक्रिया के कारण क्या ऐसा हुआ? द्विवेदीजी की आलोचना के केंद्र में डॉ निर्मला जैन, नैतिकता का आग्रह, लोकमंगल, कलावाद का खंडन... आदि मानती हैं। नायिका भेद जैसी पुस्तकों के अनौचित्य पर द्विवेदीजी ने लिखा है- 'इन पुस्तकों के बिना साहित्य को कोई हानि न पहुंचेगी, उल्टा लाभ होगा। इनके न होने से ही समाज का कल्याण है। इनके न होने से ही इनके बनाने और बेचने वालों का कल्याण है।' महावीर प्रसाद द्विवेदी उत्तम काव्य उसे ही मानते हैं जिससे समाज का कल्याण हो। उन्होंने लिखा है- 'इस विषय पर भाषा-पुस्तकों का प्राचुर्य देखकर यही कहना पड़ता है कि इस महा अनुपयोगी और महा सत्यनाशी नायिका-भेद में संस्कृत कवियों की अपेक्षा भाषा के कवियों और भाषा कवियों के प्रेमियों की विशेष रुचि रही है।' कविता के उद्देश्य पर लिखते हुए उन्होंने लिखा है- 'कविता लिखते समय कवि के सामने एक उच्च उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए केवल कविता के लिए कविता करना एक तमाशा है।' रीतिकाल में जिस प्रकार अश्लीलता है...असामाजिकता है...अ-ऐतिहासिकता है, उसने एक विचित्र प्रकार की सामंती अश्लीलता को जन्म दिया है। अश्लीलता दो प्रकार की होती है। स्थूल रूप में स्त्री-पुरुष के चित्रण में वासनात्मक उद्रेक पैदा करना तथा सूक्ष्म रूप में अपने कर्तव्यों से विमुख होकर कर्म-गति पर पर्दा डालना...। रीतिवाद में दोनों प्रकार की अश्लीलता मिलती है। वर्तमान समस्याओं से विमुख होने के लिए ही प्रायः लोग 'कलावाद' की शरण लेते हैं। कलावाद/रीतिवाद में एक तरह की अमूर्तता होती है, जो तत्कालीन समस्याओं से पलायन के पश्चात निर्मित होती है। यहां यह ध्यान रखा जा सकता है कि रीतिकाल में स्थूलता पर्याप्त है...वहां मांसलता भी पर्याप्त है... नखशिख वर्णन भी है किन्तु रीतिवाद में सूक्ष्मता है, अमूर्तता है और है भक्ति-शृंगार के माध्यम से पलायन...।

इस प्रकार रीतिवाद के इस बिंदु से बिना टकराए महावीरप्रसाद द्विवेदी आलोचना के नए मापदंड नहीं निर्मित कर सकते थे। नायिका भेद या इस प्रकार की रचनाओं में शृंगारिकता केंद्र में होती है। किन्तु शृंगार रस व अश्लीलता अन्योन्याश्रित नहीं हैं। इस संबंध में महावीरप्रसाद द्विवेदी को कोई भ्रम नहीं है। 'कवि सम्मलेन' शीर्षक लेख में वे लिखते हैं- 'अश्लीलता उसे कहते हैं जिसे सुनकर श्रोता के हृदय में जुगुप्सा, घृणा और विशेष संकोच के भावों का उदय हो।... शृंगार रस होने से ही कविता अश्लील नहीं हो जाती। यदि ऐसा होता तो कालिदास की क्या गति होती?' इस प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी अपनी आलोचना, अपनी पत्रिका, अपनी रचना के माध्यम से उस रीतिवादी पद्धति के समानांतर नया मार्ग तलाश रहे होते हैं। रीतिवाद का प्रमुख आधार है- अलंकरण, दरबारीपन, बाह्यता, अस्वाभाविकता यानी कृत्रिमता। कविता या साहित्य में जब-जब बाह्य रूपों पर अत्यधिक बल दिया जाने लगता है तब-तब कविता कमजोर पड़ती है। रीतिकाल में जहां अलंकारों पर ज्यादा बल था, वहीं रीतिवाद कृत्रिम रूपों की संरचना पर टिका होता है। कृत्रिमता-बनावट-नक्काशी-

महीन बेलबूटे-भाषा चमत्कार-कथ्य का पलायन-समसामयिकता का हास... इत्यादि उसके चिह्न हैं। नकली मनोभाव नकली साहित्य को जन्म दे सकते हैं। आचार्य द्विवेदी सतर्क करते हैं- 'कविता एक चीज है, तुली हुई शब्द स्थापना दूसरी चीज।' फिर प्रश्न यह है कि कविता क्या है। निश्चित रूप से कविता कर्म और श्रम पर टिकी हुई होती है और वही उसका प्राण है। कविता में विश्रान्ति मिलती है। वह एक प्रकार का विराम-स्थान है। उससे मनोमालिन्य दूर होता है और थकावट कम हो जाती है। चक्की पीसने के समय स्त्रियां, काम करने में मजदूर आदि परिश्रम कम होने के लिए गीत गाते हैं। जैसे मनुष्यों के लिए गाने की जरूरत है, वैसे ही देश के लिए कविता की जरूरत है। आचार्य द्विवेदी कविता और तुली हुई शब्द स्थापना में फर्क करते हैं। तुली हुई शब्द स्थापना रीतिवाद है, कलावाद है। बनावट, तराश से कविता नहीं बनती... कविता बनती है जीवन की उष्मान, उमंग से ... वही उसके प्राण है। आचार्य द्विवेदी फिर आगाह करते हैं- बनावट से कविता बिगड़ जाती है। जाहिर है जिसमें हमारी अनुभूति नहीं है, जिसमें हमारी जातीय संस्कृति नहीं है, वह कृत्रिम ही रहेगा।

जिस प्रकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य में स्थानगत विशेषता को आवश्यक बताया है, उसी प्रकार महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी साहित्य के लिए जातीय संस्कृति को अनिवार्य बताया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी कविता की कृत्रिमता व जड़ता पर बार-बार प्रहार करते हैं। रीतिकाल की कविता पर दरबारी प्रभाव अत्यधिक रहा है। खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है... उनको अर्थात् कवियों को खुशामद करनी पड़ती है। वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियां असलियत से दूर जा पड़ती हैं।' यहां द्विवेदी स्पष्ट कर देते हैं कि सत्ता का दबाव कविता को कृत्रिम व विकृत बना देता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी कविता व आलोचना में आंतरिक मनोवृत्तियों की खोज (शुक्ल इसी को अंतवृत्तियों की छानबीन कहते हैं) को आवश्यक समझते हैं। एक अच्छे समालोचक के गुणों की छानबीन करते हुए उन्होंने लिखा है- जो समालोचक रचना के रहस्य का उद्घाटन करके कवि के आंतरिक अभिप्राय को व्यक्त करता है, वही सच्चा समालोचक है।... कवि की कविता किस समय की है, उस समय देश की क्या दशा थी, समाज की क्या दशा थी, तत्कालीन लोगों के आचार-विचार और व्यवहार कैसे थे- इन बातों को जाने बिना समालोचक कृति के साथ ठीक ढंग से न्याय नहीं कर सकता। द्विवेदीजी आलोचना के लिए सामाजिक मनोदशा की सच्ची उपस्थिति को आवश्यक मानते हैं। रीतिवाद कृत्रिम अनुभूति पर टिका होता है/ रीतिकाल की उहात्मक- विरहजन्य कामदशाओं को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्पष्ट रूप से दिखाया है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी रीतिवाद विरोध का एक आधार प्रामाणिक अनुभूति को मानते हैं। कालिदास के प्रसंग में उन्होंने इस प्रश्न को उठाया है 'जिन सुंदरियों को देखने का लोभ वह यक्ष मेघ को देता है उसके विषय में उसकी अनुभूति प्रकट होती है और वह अनुभूति यथार्थ में कवि कुल गुरु की है, जिसे उन्होंने पाठकों के हृदय में प्रकट किया है।'... 'मेघदूत की यक्ष पत्नी का स्मरण कीजिए। उसकी जो दशा वर्णन की गई है उसके साथ कवि की सहानुभूति स्पष्टतया प्रकट होती है।' द्विवेदीजी के इस मत का प्रभाव नागार्जुन की कविता 'कालिदास सच सच बतलाना' पर देखा जा सकता है। जिस नई कविता में अनुभूति की प्रामाणिकता की बात कही गई है, उसका आरंभिक संकेत द्विवेदीजी के उपरोक्त कथनों में देखा जा सकता है। वस्तुतः रीतिवाद में अनुभूति की कल्पना है, अलंकरण की वृत्ति चित्रण पर टिकी होती है। पूरा

रीतिकाल- रीतिवाद (घनानंद को छोड़कर) बाह्य आधारों की खोज पर टिकता है। स्वच्छंदतावाद प्रभावात्मक आधार पर चलता है। रीतिवाद आरेखात्मक... चित्रात्मक- अलंकरणवृत्ति है... द्वैत है। यहां कवि की अनुभूति का पात्र की अनुभूति से पार्थक्य बना ही रहता है। पात्र ओर लेखक का द्वैत रीतिवाद की एक पहचान है। इसके विपरीत क्लासिकल रचना, स्वच्छंदतावादी रचना या प्रगतिशील रचना इस द्वैत को तोड़ती है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी लेखकीय अनुभूति के अद्वैत पर बल देकर रीतिवादी द्वैतता को ही तोड़ने का प्रयास कर रहे होते हैं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की संपूर्ण आलोचना के केन्द्र में रीतिवाद से मुक्ति का प्रयास तथा नवजागरणवादी विस्तार को साहित्यिक रूप देने की अकुलाहट ही है। द्विवेदीजी हिंदी के पहले बड़े आलोचक थे, जो साहित्य सौंदर्य के प्रतिमान को नए रूप में ढाल रहे थे। नवजागरण के जिस असांप्रदायिक रूप का प्रारंभ भारतेंदु के माध्यम से हुआ था, महावीर प्रसाद द्विवेदी उसका विस्तार कर रहे थे। साहित्य को नए विषय से जोड़ने का प्रश्न हो या उसे विज्ञान सम्मत बनाने का... महावीर प्रसाद द्विवेदी के योगदान को हमेशा स्मरण किया जाएगा।

सन्दर्भ :

1. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण- रामविलास शर्मा, भूमिका, पृष्ठ-382
2. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, द्वितीय खंड- संपादक भारत यायावर
3. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग- डॉ उदयभानु सिंह
4. हिंदी साहित्य का इतिहास- आचार्य रामचंद्र शुक्ल
5. महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग- डॉ उदयभानु सिंह
6. कवि- कर्तव्य निबंध- महावीर प्रसाद द्विवेदी
6. कवि और कविता, महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, द्वितीय खंड
7. कविता, ग्रंथावली, द्वितीय, खंड
8. ज्ञान भारती
10. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण- रामविलास शर्मा

साहित्य में वैज्ञानिक चेतना के संवाहक आचार्य द्विवेदी

मन्नू ठॉडियाल

आचार्य द्विवेदी के अवदान को स्वीकारते हुए सन् 1903 से 1920 की अवधि को हिंदी साहित्य में 'द्विवेदी युग' की संज्ञा दी गई है। विराट व्यक्तित्व के धनी द्विवेदीजी ने साहित्य में वैज्ञानिक चेतना के संचार का अद्भुत कार्य किया। वैज्ञानिक सिद्धांतों व चेतना का प्रसार उन्होंने ऐसे समय में किया जब वैज्ञानिक विचारधारा बहुत कम पढ़े-लिखे लोगों तक सीमित थी। उनके द्वारा 'सरस्वती' के माध्यम से जो लेख, टिप्पणियां तथा प्रतिक्रिया व्यक्त की गई उसका लक्ष्य था। सहज भाषा व रूप में जन साधारण को जटिल वैज्ञानिक तथ्यों से परिचित करवाना। इस कार्य में वे कितने सिद्धहस्त थे, इसे जून 1908 की 'सरस्वती' में पं. गिरिजादत्त वाजपेयी एम.ए. के नाम से लिखित 'शरीर के भीतरी भागों के फोटो' शीर्षक लेख में एक्सरेज के संबंध में उनकी सरल व सहज शैली देखकर समझा जा सकता है- 'चमड़े और रक्त मांस को ये किरणें किस तरह पार कर जाती हैं इसकी थोड़ी सी कल्पना सबको हो सकती है। रात को लैंप के सामने या दिन को सुबह सूर्य की तरफ हाथ का पंजा जोड़कर देखने से अंगुलियों के बीच से आता हुआ लाल रंग का प्रकाश साफ दिख पड़ता है। इससे साफ जाहिर है कि प्रकाश की किरणें थोड़ा ही क्यों न हों रक्त मांस को जरूर पार कर जाती हैं। यही किरण यदि अधिक तीव्र हुए तो वे अच्छी तरह चमड़े व मांस के भीतर चले जाते हैं परंतु हड्डी के समान जड़ और घनीभूत पदार्थ के भीतर प्रवेश नहीं कर सकते।... एक्सरेज सिर्फ रक्त मांस ही के भीतर नहीं प्रवेश कर जाती किंतु कपड़ा, लकड़ी आदि चीजों के भीतर भी घुस जाती हैं पर वे धातुओं के भीतर नहीं जा सकती। यही कारण है जो एक्सरेज की सहायता से हाथ के पंजे का फोटो लेते समय यदि कोई आदमी अंगूठी पहने हो तो फोटो में वह अंगूठी काली निकलती है।'¹

अपने लेखों के माध्यम से द्विवेदीजी ने जहां एक ओर जनसाधारण में वैज्ञानिक चेतना का संचार किया वहीं दूसरी ओर उनके अंधविश्वासों, रूढ़ियों, कुंठाओं को दूर कर उन्हें चिंतन के नवीन आयाम प्रदान किए। भारतीयों को उनकी प्राचीन गरिमामयी ओजपूर्ण संस्कृति का स्मरण दिलाकर वे एक ऐसा सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करना चाहते हैं जो उन्हें अंतःप्रेरित कर सके। इसके लिए वे यूरोप की तुलना में भारतीय परंपरा व संस्कृति को श्रेष्ठ ठहराते हैं। इस संबंध में विज्ञानाचार्य जगदीशचंद्र बसु के विज्ञान विषयक व्याख्यान का मतलब बताते हुए द्विवेदीजी लिखते हैं- 'आप भारत के प्राचीन गौरव को याद कीजिए।... पूर्वजों के गुण गाने ही में आप अपने कर्तव्य की इतिश्री न समझिए।... अपने हृदय की संकुचित वृत्ति को आप दूर कर दीजिए। अंधश्रद्धा को तो आस-पास फटकने तक न दीजिए। हमारे विचारशील ऋषि-मुनि अंधविश्वास के अनुयायी न थे। उस समय

को याद कीजिए जब यूरोप में विचार स्वातंत्र्य का नाम तक न था। बेचारा गैलीलियो जेल में पड़ा सड़ रहा था और नवीन ज्ञान का संपादन करने वाले जीते जलाए जा रहे थे।²

इसी क्रम में 'सरस्वती' नामक पत्रिका के माध्यम से उन्होंने सदैव वैज्ञानिक चेतना के प्रचार-प्रसार में विशिष्ट योगदान दिया। इस कार्य में उन्होंने सदैव राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना को सर्वोपरि रखा। वे जो कुछ भी कहते हैं सप्रमाण कहते हैं। वे विज्ञान का स्रोत वेदों को मानते हैं। उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, ज्योतिष विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, परमाणुवाद आदि पर लेख अनवरत प्रकाशित किए तथा पाठकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रसार किया। विज्ञान में डार्विन की विकासवादी विचारधारा ने विश्व में अनेकशः धार्मिक अंधविश्वासों की नींव को आमूल चूल परिवर्तित कर दिया था। द्विवेदीजी भी इस प्रभाव से अछूते न रहे तथा उन्होंने सबसे अधिक लेख डार्विन और विकासवाद पर छापे। वे विकासवाद का पूर्ण समर्थन करते हैं। वैज्ञानिक चेतना को प्रसारित करने की उनकी अदम्य इच्छा का ही प्रमाण है कि 'सरस्वती' में साधारणतः छोटे लेख ही छपते थे, पर द्वारिकानाथ मैत्र का विकासवाद पर लेख इसका अपवाद है। 'क्रम विकास' शीर्षक यह लेख 'सरस्वती' के छह पृष्ठ घेरता है। इसके अलावा चिकने कागज के छह पन्नों पर विकास से संबंधित चित्र दिए गए हैं। 'सरस्वती' के मितव्ययी संपादक ने यहां उदारता की हद कर दी है।³ द्विवेदीजी ने हिंदी गद्य को वैज्ञानिक चिंतन के लिए परिपुष्ट करने के साथ ही वैज्ञानिक शब्दावली को लोकप्रिय भी बनाया। बोलचाल की सहज और सरल भाषा के माध्यम से नवीन वैज्ञानिक खोजों व सिद्धांतों का परिचय देते हुए द्विवेदी ने जो विलक्षण प्रयोग किया वह था विज्ञान को नीरस सैद्धांतिकता से ऊपर उठाकर उसे रोचक व सरस तरीके से प्रस्तुत करना।

द्विवेदीजी को भारतीय ऋषि मुनियों के ज्ञान व उपलब्धियों पर गर्व होता है। उनके द्वारा स्थापित मान्यताओं व सिद्धांतों को जब यूरोपीय देश स्वीकार करते हैं तो अपने देश की इस सांस्कृतिक, आध्यात्मिक व दार्शनिक उपलब्धियों व ज्ञान पर वे फूले नहीं समाते हैं। 'अध्यापक बसु के अद्भुत आविष्कार' शीर्षक लेख में वे लिखते हैं- 'अध्यापक बसु ने यंत्रों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि इंद्रिय विशिष्ट पदार्थ ही चेतनायुक्त नहीं किंतु सोना, चांदी और पीतल इत्यादि के समान इंद्रियहीन जड़ पदार्थों में भी एक प्रकार की चेतना रहती है।... यह एक ऐसा आविष्कार है जिसका अस्तित्व यंत्रों की सहायता से सिद्ध हो जाने से हमारे प्राचीन ऋषियों की अनंत विद्वत्ता, निःसीम ज्ञान और अदृश्य पदार्थों की ग्रहण-पात्रता का प्रमाण भी सहज ही में मिल गया। इस नूतन आविष्कार के संबंध में अध्यापक बसु ने, ... जो प्रदर्शनी जर्मनी में हुई थी, उसमें पहले-पहले व्याख्यान दिया, उनके इस नवीन आविष्कार का वर्णन सुनकर वैज्ञानिकों को पराकाष्ठा का आश्चर्य और पराकाष्ठा का आनंद हुआ... अध्यापक बसु ने ही सबसे प्रथम इसका पता लगाया कि इस ब्रह्मांड में विद्युतात्मक प्रकाश अदृश्य रूप से प्रवाहित हो रहा है। यदि वे इसका पता न लगाते तो बिना तार समाचार भेजने की विद्या कभी उदय को न प्राप्त होती। इस अदृश्य विद्युल्लता के आविष्कर्ता अध्यापक बसु हैं किंतु इटली के मारकोनी साहब बिना तार के तार भेजने की क्रिया का प्रचार करके अध्यापक बसु के यश को बीच ही में उड़ा लिए जाते हैं।'⁴

'अध्यापक बसु ने अपने अद्भुत यंत्र द्वारा मनुष्य की शरीरांतर्गत कंपन क्रियाओं को प्रत्यक्ष

करके सोना, चांदी इत्यादि धातुओं पर भी परीक्षा की... धातुओं को बार-बार काटने और उन पर अनवरत आघात करने से उनकी कंपन क्रिया क्रम-क्रम से शिथिल हो जाती है। अध्यापक बसु ने ... धातुओं पर विष की भावना करके अपने यंत्र का प्रयोग किया। प्रयोग करने से उन्होंने देखा कि क्रम-क्रम से विषयुक्त धातु स्पंदनहीन हो गए अर्थात् उनकी चेतना मनुष्य के जीवन के समान जाती रही। फिर कुछ काल के अंतर्गत विषन्न औषधियों का प्रयोग करके विष के प्रभाव को दूर करके देखा तो धातुओं की कंपन क्रिया धीरे-धीरे उनमें आ गई। इन परीक्षाओं से यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि इंद्रिय विशिष्ट जीवधारियों के समान इंद्रियहीन पदार्थों में भी तंतु विद्यमान हैं।⁵

यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने विज्ञान का अंतःसंबंध मूलतः विरोधी समझे जाने वाले आध्यात्म के बीच उन्होंने स्थापित किया। उदाहरणार्थ वे पदार्थों की चेतना शक्ति व ज्ञान तंतु का संबंध प्राचीन भारतीय ऋषियों की मान्यताओं, आध्यात्म व दर्शन से जोड़ते हुए लिखते हैं- 'आत्मा का चिह्न सज्ञानता है और आत्मा परमात्मा का ही अंश है। अतएव जिन पदार्थों में ज्ञान का होना सिद्ध है वे अवश्यमेव ईश्वर से संबंध रखते हैं। ईश्वर के व्यापक होने में अभी तक लोगों को विश्वास न था, परंतु धन्य हैं अध्यापक बसु को जिन्होंने अपने अद्भुत आविष्कार द्वारा भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों के इस वचन को सिद्ध कर दिया- सर्व खल्विदं ब्रह्म।'⁶

विज्ञान के क्षेत्र में हो रहे नित नए अनुसंधानों, जानकारियों का ही वर्णन नहीं करते हैं बल्कि अपने स्वयं के शोध भी करते हैं और इस शोध में वैज्ञानिक सिद्धांतों के साथ-साथ अतींद्रिय अनुभवों का सम्मिलन भी करते हैं। 'विज्ञान की महत्ता' शीर्षक अपने लेख में उन्होंने लिखा है- 'मैंने यह जानना चाहा कि पदार्थ (Matter) पर शक्ति (Force) का क्या असर होता है। मैंने प्रयोग शुरू किया। मुझे ऐसे नियम ज्ञात हुए जो जड़ और चेतन दोनों पर एक से घटित होते हैं जो दोनों में तद्वत पाए जाते हैं। फिर मैंने अव्यक्त प्रकाश (Invisible) की परीक्षा आरंभ की। तब मुझे मालूम हुआ कि दैदीव्यमान प्रकाश-समुद्र के पास रहने पर भी हम लोग अंधे ही बने हुए हैं। वह तेज-वह प्रकाश हमारे चारों ओर फैला हुआ है। खेद है कि मनुष्य में अभी तक उन शक्तियों का पूरा विकास नहीं हुआ जिनकी सहायता से वह उस अज्ञान और अव्यक्त का अनुभव कर सके। मेरे कुछ प्रयोगों ने जीवन और मरण के जटिल प्रश्न को भी बहुत कुछ हल होने योग्य बना दिया है।'⁷ विज्ञान को जीवनोपयोगी व व्यावहारिक बनाने के प्रति वे कितने समर्पित हैं तथा यह कितना श्रमसाध्य कार्य है उनके इस कथन से पता चलता है- 'उद्भिज जीवन और मनुष्य जीवन में अत्यंत निकट संबंध है पर यंत्र सामग्री न होने के कारण हम इसे सिद्ध नहीं कर सकते थे। सामग्री मिलते ही यह सिद्ध करके दिखा दिया गया। प्रसन्नता की बात है, अब भारत में भी सूक्ष्म से सूक्ष्म यंत्र बनने लग गए हैं। संसार की बड़ी-बड़ी प्रयोगशालाओं में उनकी परीक्षा भी हो चुकी है। वहां के परीक्षागारों में वे काम में भी लाए जाते हैं। यही नहीं, योरप और अमेरिका में उनकी मांग भी बहुत है और दिन पर दिन बढ़ती जाती है। कारण यह है कि वे यंत्र जीवन-संबंधी प्रयोगों में बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं। ऐसे अनेक यंत्र मेरी प्रयोगशाला से विदेश भेजे गए हैं। इस काम को साधारण न समझिएगा। मुझ अकेले को 12 वर्षों तक वैज्ञानिक संसार से जूझना पड़ा है। तब कहीं यह सफलता मुझे मिली है।'⁸

सृष्टि एवं पृथ्वी की उत्पत्ति के संबंध में लगातार अनेकों शोध होते रहे हैं, विगत वर्षों में विभिन्न देशों के सैकड़ों वैज्ञानिकों द्वारा ब्लैक होल की संकल्पना पर आधारित महामशीन के प्रयोग से सभी

परिचित हैं। पूरे प्रयोगों के बाद वैज्ञानिकों द्वारा निष्कर्ष रूप में एक शब्द दिया गया 'गॉड पार्टिकल' यह अदृश्य तत्व वही है जिसे भारतीय दर्शन व शास्त्रों में ईश्वर कहा जाता है और जिससे पूरे ब्रह्मांड का संचालन होता है। विश्व के अनेक देशों के वैज्ञानिक महामशीन वाले प्रयोग के साक्षी हैं तथा उन्होंने परोक्षतः ही सही भारत के प्राचीन ज्ञान व दर्शन को मान्यता प्रदान की है।

द्विवेदीजी की मान्यताएं जो कि उनकी वैज्ञानिक चेतना का संवहन करती हैं इस 'गॉड पार्टिकल' वाले प्रयोग से उसकी भी पुष्टि होती है। इस प्रकार उनके द्वारा बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में जिस वैज्ञानिक चेतना की मशाल को प्रज्वलित किया गया था वह अनवरत आज भी प्रासंगिक सिद्ध हो रही है।

वे विज्ञान को व्यावहारिकता, मनोविज्ञान और नैतिक मूल्यों से भी संयोजित करते हैं। साहित्य जगत में साहित्यकारों का प्रशिक्षण व मार्गदर्शन करते हुए वैज्ञानिकों की समस्याएं भी गिनाते हैं और सफलता प्राप्त न होने के कारण भी तलाशते हैं। वे यह भी बताते हैं कि वे त्रुटियां कैसे दूर की जाएं। मार्च 1916 में 'सरस्वती' में प्रकाशित लेख 'विज्ञान की महत्ता' में वे लिखते हैं-

'हम ज्ञान प्राप्ति की राह नहीं जानते और हमें प्रयोग करने की ठीक-ठीक रीति मालूम नहीं। ... जो लोग नूतन तथ्यों की खोज के पीछे पड़ रहे हैं उनके मन शांत नहीं। हमारे देश की बहुतेरी बातें अनिश्चित और अस्त-व्यस्त हैं। आविष्कर्ता के मन और मस्तिष्क पर इस बात का बहुत बुरा असर पड़ता है... इसी कारण वे अपने प्रयोगों में प्रायः सफलता प्राप्त नहीं कर सकते।... भारतीय विज्ञान प्रेमियों के सुभीते के लिए कोई अच्छी प्रयोगशाला नहीं। वह होनी चाहिए। सभी आवश्यक यंत्र सामग्री उसमें मौजूद रहनी चाहिए।'⁹

वैज्ञानिक शोध में सफलता तभी प्राप्त होगी जब हम अपनी त्रुटियों को दूर करें। इसके लिए उन्होंने लिखा है- 'पहली बात तो यह है कि हमें अपने मन को एकाग्र रखना चाहिए। जिस काम को हाथ में लिया हो उसी में संपूर्ण भाव से मन लगा देना चाहिए। बात पहले मन में आती है तब वह हाथ से की जाती है। अतएव कोई काम करने के लिए मन की शांति और स्थिरता की बड़ी जरूरत है। जिसका मन स्वस्थ और स्थिर नहीं रहता, इधर-उधर भटकता फिरता है-जो मनुष्य सत्य की खोज करने के बदले निजी स्वार्थ-साधन में निमग्न रहता है वह बड़े-बड़े कामों में भी कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।'¹⁰

वैज्ञानिक चेतना को जागृत करने के लिए वे भारतीयों को उनकी क्षमताओं का स्मरण दिलाते हैं- 'भारतवर्ष योग-विद्या- आध्यात्म-शक्ति का घर है। उसके लिए ध्यान, धारणा और समाधि आदि बाएं हाथ का खेल होना चाहिए। मानसिक शक्तियों में बड़ा बल है। सम्राट अशोक को देखिए। कलिंग-देश पर उसने चढ़ाई की। हजारों वीरों का संहार होने लगा। समर भूमि लाशों से ढक गई। वह वीभत्स दृश्य देखकर अशोक का दिल दहल गया। 'युद्धं देहि' का निर्घोष करने वाला अशोक अहिंसा प्रेमी बन गया। कहां तो विजय प्राप्ति की वह अनिवार्य लालसा, कहां यह विरक्ति! यह किसी शक्ति का प्रभाव था। यह उसी आध्यात्म-शक्ति का प्रभाव था जिसे भूल जाने से हम वैज्ञानिक जगत में कृतकार्य नहीं हो रहे। भारत-भूमि में ऐसे अनेक महात्मा हो गए हैं जिन्होंने ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपना सारा जीवन अर्पण कर दिया। पर पश्चिमी ज्ञान की चमक से हममें चकाचौंध आ गई है। हम वास्तविक सत्य को भूल गए हैं। एक के स्थान पर हम अनेक तत्वों को मानने लगे

हैं। विज्ञान में सर्व-व्यापक सिद्धांतों का निश्चय करना ही सबसे अधिक महत्व की बात है। सिद्धांत ऐसे होने चाहिए जो अनेक प्रकार की भिन्नताओं के भीतर से समता-एकता-को ढूँढ़ निकालें। अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वभावों और रूपों की वस्तुओं में किसी ऐसे तत्व का पता लगा लें जिसकी सत्ता सबमें एक सी वर्तमान हो। यह काम तब तक नहीं हो सकता जब तक मन शुद्ध न हो, विकार-रहित न हो, अचल और शांत न हो। सच पूछिए तो भारतवासियों के लिए यह कोई नई बात नहीं। वे इस शक्ति को थोड़े ही परिश्रम से प्राप्त कर सकते हैं।¹¹

‘विज्ञान-वार्ता’ में द्विवेदीजी के विज्ञान संबंधी लेख, टिप्पणियां, प्रतिक्रियाओं को संकलित किया है। इसमें ‘पृथ्वी’ शीर्षक लेख में उन्होंने पृथ्वी की गतियों, उनके प्रकार, ऋतु चक्र एवं परिवर्तन आदि को बहुत ही सरल भाषा में सोदाहरण समझाया है। यह लेख 1903 की ‘सरस्वती’ में छपा था। इसके अतिरिक्त ध्वनि व उसकी चाल तथा रेडियम के विषय में नूतन जानकारी दी गई। सन् 1905 में ‘मार्तण्ड महिमा’, 1906 में ‘वानस्पतिक सज्ञानता’, ‘अंधलिपि’ आदि पर बहुत अच्छे लेख लिखे। वानस्पतिक सज्ञानता वाले लेख में वे लाजवंती के उदाहरण द्वारा वनस्पतियों की अनुभूति, वेदना आदि की बहुत सहज रूप में व्याख्या करते हैं। सन् 1907 में ‘कुछ आधुनिक आविष्कार’, सन् 1908 में ‘मंगल के चित्र’ आदि लेख बहुत सरल व सहज शैली में विज्ञान जगत की उपलब्धियों से परिचित कराते हैं। जनवरी 1903 की ‘सरस्वती’ में उनका एक लेख “ग्रहों पर जीवधारियों के होने का अनुमान” शीर्षक से प्रकाशित हुआ। जो इस बात का प्रबल साक्ष्य है कि द्विवेदीजी को वैज्ञानिक नियमों की बहुत अच्छी जानकारी थी। वैज्ञानिक तथ्यों व सिद्धांतों को वे जिस तार्किकता के साथ अभिव्यक्त करते हैं उसमें भी उनकी भाषा की सरलता व सहजता ने वैज्ञानिक चेतना को जन साधारण के लिए संप्रेषणीय बनाया है। वे लिखते हैं-

‘उष्णता और वायु के सिवा प्राणियों के लिए जल की भी आवश्यकता होती है। दूरबीन से देखने से यह जाना गया है कि शुक्र और मंगल में पानी है क्योंकि इन ग्रहों में बर्फ के पहाड़ के पहाड़ गलते हुए देखे गए हैं। जहां बर्फ है वहां पानी होना ही चाहिए।... जो ग्रह जितना बड़ा होगा उसमें उतनी ही अधिक आकर्षण शक्ति होगी। आकर्षण शक्ति उसे कहते हैं जिसके द्वारा जड़ पदार्थ ग्रहों की ओर खिंच आते हैं... इसी खिंच आने को गिरना कहते हैं। इस नियम के कारण बड़े ग्रहों में छोटे जीव नहीं रह सकते क्योंकि उनमें शक्ति कम होने के कारण वे चल फिर न सकेंगे... इसलिए विद्वानों ने यह निश्चय किया है कि बड़े ग्रहों में बड़े और छोटे ग्रहों में छोटे जीवों की बस्ती होगी।’¹²

अगस्त 1905 में ‘सरस्वती’ में द्विवेदीजी ने ‘जापान की जीत का कारण’ शीर्षक एक लेख प्रकाशित किया परंतु इसमें लेखक का नाम नहीं छपा गया। यह स्वयं सिद्ध है कि यह लेख स्वयं उन्होंने ही लिखा होगा। इसमें वे विज्ञान शिक्षा को राष्ट्रीय आवश्यकता बताते हैं। जापान की जीत का श्रेय वे विज्ञान की उन्नति को देते हुए लिखते हैं- ‘इस जीत का प्रधान कारण जापान की विज्ञान-वृद्धि है। यदि जापान में अनेक प्रकार की विज्ञान शिक्षा की उन्नति न होती तो कदापि जापान आज रूस-विजयी न कहलाता। यह राय बड़े-बड़े लब्धप्रतिष्ठित, नीतिनिपुण और प्रसिद्ध मनुष्यों की है।’

द्विवेदीजी विज्ञान शिक्षा के साथ प्राचीन भारतीय संस्कृति को भी जोड़ते हैं। वे औद्योगीकरण के लिए भी वैज्ञानिक शिक्षा को अनिवार्य मानते हैं। सदियों से चली आ रही रूढ़ियों व अंधविश्वासों

को समूल नष्ट करने के लिए वे विज्ञान को आवश्यक मानते हैं। सामान्यतया साहित्य के पाठक विज्ञान के मूलभूत विषयों व सिद्धांतों से अपरिचित ही होते हैं उन्हें विज्ञान की नवीन खोजों, सिद्धांतों व तथ्यों की जानकारी देना एक क्रांतिकारी और अनूठा प्रयोग था, जिसे द्विवेदीजी जैसा महावीर ही कर सकता है। वैज्ञानिक चेतना की प्रभावी प्रस्तुति का मुख्य कारण था कि वे भाषा से दुरुह वाक्य व शब्दावली को हटाकर उसे इतना सरल, सहज व सरस रूप प्रदान करते थे कि साधारण पढ़े-लिखे लोग भी उसे आसानी से समझ लेते थे। विज्ञान के नितांत सैद्धांतिक, नीरस व जटिलतम विषयों को भी मनोरंजक बनाने की जो कला द्विवेदी में थी वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार साहित्य में वैज्ञानिक चेतना के प्रसार का जो कार्य द्विवेदीजी ने किया उसमें वे सफल हुए हैं। उन्होंने विज्ञान को जैसा समन्वयवादी, व्यावहारिक व कल्याणकारी स्वरूप प्रदान किया है उससे हिंदी नवजागरण को नए क्षितिज तो मिले ही जनसाधारण को भी अनेक भ्रांतियों, कुंठाओं, अंधविश्वासों और पूर्वाग्रहों से मुक्ति मिली तथा उनके विचारों में अकल्पनीय परिवर्तन आए।

संदर्भ सूची :

1. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-9, भारत यायावर-पृ. 243
2. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-9, लेखक-भारत यायावर, पृ. 277
3. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, रामविलास शर्मा, पृ. -129
4. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-9, भारत यायावर, पृ. 170
5. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-9, भारत यायावर, पृ. 171-172
6. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-9, भारत यायावर, पृ. 171-172
7. मार्च 1916 की सरस्वती में प्रकाशित विज्ञान वार्ता में संकलित)
8. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-9, भारत यायावर, पृ. 276-277
9. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-9, भारत यायावर, पृ. 275
10. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-9, भारत यायावर, पृ. 275
11. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड-9, भारत यायावर, पृ. 276
12. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, खंड 9, भारत यायावर, पृ. 168

‘सरस्वती’ की भूमिका

साधना अग्रवाल

हिंदी के प्रसिद्ध समालोचक डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक ‘महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण’ की भूमिका का पहला ही वाक्य है- ‘हिंदी प्रदेश में नवजागरण 1857 ई. के स्वाधीनता-संग्राम से शुरू होता है।’ नवजागरण का दूसरा चरण भारतेंदु युग में शुरू हुआ। हिंदी नई चाल में ढली और खड़ी बोली कविता के साथ साहित्य की अन्य विधाओं कहानी को छोड़कर-उपन्यास, नाटक और समीक्षा का आरंभ हुआ। भारतेंदु युग तक कविता की भाषा ब्रज भाषा थी इसलिए स्वाभाविक रूप से खड़ी बोली कविता की टकराहट ब्रज भाषा से हुई। इस युग में अनेक साहित्यिक पत्रिकाएं निकलीं जिनमें भारतेंदु द्वारा संपादित ‘कविवचन सुधा’, हरिश्चंद्र मैगजीन’, बालकृष्ण भट्ट द्वारा संपादित ‘हिंदी प्रदीप’, पं. प्रताप नारायण मिश्र द्वारा संपादित ‘ब्राह्मण’, केशव राम भट्ट द्वारा संपादित ‘बिहार बंधु’ एवं बालमुकुंद गुप्त द्वारा संपादित ‘भारत मित्र’ प्रमुख थीं। इन पत्रिकाओं ने हिंदी प्रदेशों में राष्ट्रीय चेतना जगाने का काम किया और प्रच्छन्न रूप से लोगों में अंग्रेजी राज के प्रति क्षोभ और आक्रोश पैदा किया। साथ ही देश-प्रेम की भावना का संचार किया। हिंदी नवजागरण का तीसरा चरण द्विवेदी युग से शुरू होता है। हिंदी प्रदेश में राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने और स्वाधीनता आंदोलन को आगे बढ़ाने में हिंदी पत्र-पत्रिकाओं की बड़ी भूमिका है इसमें भी जिस एक पत्रिका का बड़ा योगदान है, वह है ‘सरस्वती’।

‘सरस्वती’ पत्रिका के प्रकाशन का एक दिलचस्प इतिहास है। प्रेमचंद द्वारा संपादित और 1932 में प्रकाशित ‘हंस’ के आत्मकथा अंक में आचार्य द्विवेदीजी तथा सरस्वती’ शीर्षक संस्मरण में पं. केदारनाथ पाठक ने लिखा है-‘सन् 1899 के अंत में स्व. बाबू राधाकृष्ण दास तथा बा. श्यामसुंदर दास बी.ए. का कार्यवश प्रयाग जाना हुआ। वहां इंडियन प्रेस के स्वामी बा. चिंतामणि घोष से वे मिले, और प्रसंगवश उनकी सेवाओं की चर्चा करते हुए कहा, कि आप हिंदी साहित्य के लिए उत्तमोत्तम विषयों पर सुलेखकों से पुस्तकें लिखवाकर प्रकाशित करें तथा एक सुंदर मासिक-पत्र भी निकालें, तो हिंदी का असीम उपकार होगा। तब घोष बाबू ने कहा, कि हमारा भी विचार एक उच्च कोटि का मासिक-पत्र निकालने का है, जो कि बा. रामानंद चटर्जी एम.ए. द्वारा संपादित ‘प्रदीप’-बंगला मासिक पत्र-के ढंग का हो।’ फिर आगे लिखते हैं-‘ स्व. चिंतामणि बाबू की प्रस्तावित पत्रिका का नाम ‘साहित्य’ रखने का विचार किया गया; पर उन दिनों, सुप्रसिद्ध साहित्य-सेवी स्व. सुरेशचंद्र समाजपति का ‘साहित्य’ नामक पत्र बंगला में निकलता था ; अतः जनवरी, सन 1900 से, अपने अनूठे नाम से, ‘सरस्वती’ ने, हिंदी संसार को दर्शन देना आरंभ किया।’ इस तरह इंडियन

प्रेस इलाहाबाद से 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका निकलने लगी। काशी की नागरी प्रचारिणी से जुड़े बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री, पं. किशोरीलाल गोस्वामी, बा. जगन्नाथदास रत्नाकर, बा. राधाकृष्ण दास और बाबू श्यामसुंदर दास इस संपादन समिति के सदस्य थे। एक वर्ष के बाद उसके चार संपादक अलग हो गए जिससे उसका सारा भार बाबू श्यामसुंदर दास के ऊपर आ पड़ा।

सुपरिचित आलोचक नंदकिशोर नवल ने महावीर प्रसाद द्विवेदी पर लिखे अपने मोनोग्राफ में लिखा है, 'बाबू श्यामसुंदर दास ने पत्र के स्वामी घोष बाबू को सूचित किया कि अब वे अधिक समय तक 'सरस्वती' का संपादन नहीं कर सकेंगे। सुयोग्य संपादक की तलाश शुरू हुई। घोष बाबू द्विवेदीजी से पहले ही से प्रभावित थे। उनकी दृष्टि उन पर जाकर टिक गई। बाबू श्यामसुंदर दास ने भी उनके नाम का समर्थन किया। घोष बाबू ने जब द्विवेदीजी के सामने 'सरस्वती' के संपादन से संबंधित प्रस्ताव रखा, तो उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

1903 से आ. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का संपादन भार ग्रहण किया। लगभग 2 वर्षों तक द्विवेदीजी ने झांसी से ही 'सरस्वती' का संपादन किया। 'सरस्वती' का संपादन संभालते ही उनके सामने एक विकट परिस्थिति उत्पन्न हुई। उनकी तीखी आलोचनाओं से हिंदी के कुछ लेखक उनसे नाराज थे और उन्होंने 'सरस्वती' का बायकाट किया। कुछ लेखक उनसे इसलिए भी अप्रसन्न थे कि द्विवेदीजी उनकी रचनाओं में भाव और भाषा संबंधी इस तरह संशोधन किया करते थे कि उसकी शक्ति ही बदल जाती थी। उनमें से भी अनेक ने सरस्वती से असहयोग शुरू किया लेकिन द्विवेदीजी मामूली व्यक्ति नहीं थे। इस असहयोग से वे जरा भी विचलित नहीं हुए और उन्होंने खुद को पूर्णतः 'सरस्वती' को समर्पित कर दिया। और एक साल तक अनेक नामों से विभिन्न विषयों पर स्वयं लिखने लगे, जिसका हिंदी संसार ने हार्दिक स्वागत ही नहीं किया बल्कि देखते-देखते उसे प्रसिद्धि के शिखर तक पहुंचा दिया। यह अकारण नहीं है कि दूसरे साल से 'सरस्वती' की पृष्ठ संख्या बढ़ा दी गई और उसमें सुंदर चित्र देने की भी व्यवस्था की गई। जब स्थिति सामान्य हुई तो उन्हें तरुण लेखकों का एक दल मिल गया और उनकी रचना 'सरस्वती' में छपने लगी। अपने अनुभव और ज्ञान से उन्होंने वस्तुतः 'सरस्वती' का स्तर इतना उठा दिया कि वह हिंदी की साहित्यिक पत्रिका का प्रतिमान बन गई। उनके संपादन के पहले साल में भी पत्रिका एकदम नियमित रहती थी जिससे असहयोग करने वाले लेखक परेशान थे। 1905 में द्विवेदीजी ने झांसी छोड़ दी और कानपुर के निकट जूही कलां नामक गांव में रहकर वह 'सरस्वती' का संपादन करने लगे।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा से द्विवेदीजी के पहले ही से अच्छे संबंध थे। न केवल सभा द्वारा आरंभ नागरी आंदोलन में उन्होंने सक्रिय हिस्सा लिया था बल्कि 1900 में वे उसके सदस्य भी हो गए थे। सभा से प्रकाशित 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका में वे लिखते भी थे और सभा के पदाधिकारियों बाबू श्यामसुंदर दास तथा अन्य से उनका परिचय भी था लेकिन 'सरस्वती' के अक्टूबर 1904 ई. के अंक में जब उन्होंने सभा की 1901 ई. की हिंदी पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट की आलोचना की तो उसे पढ़कर सभा का आसन डोल उठा। चूंकि 'सरस्वती' सभा के अनुमोदन से प्रकाशित होती थी और यह बात पत्रिका के हर अंक के आवरण पृष्ठ पर छपती थी। परिणाम यह हुआ कि सभा की प्रबंधकारिणी समिति की ओर से 'सरस्वती' के स्वामी बाबू चिंतामणि घोष से उनकी शिकायत की गई। द्विवेदीजी ने अगले अंक में उचित उत्तर के साथ उस पत्र को भी छाप दिया लेकिन सभा

के पदाधिकारी उससे संतुष्ट नहीं हुए और उन्होंने घोष बाबू से आग्रह किया कि या तो सरस्वती में सभा के विरुद्ध कभी कुछ न लिखा जाए, या फिर उसके आवरण पृष्ठ पर सभा के अनुमोदन की बात न छपी जाए। घोष बाबू संपादकीय कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे और उन्होंने छपा हुआ आवरण पृष्ठ नष्ट कराकर नए आवरण पृष्ठ के साथ जनवरी, 1905 का अंक एक सप्ताह की देरी से निकाला। फरवरी, 1905 के अंक में द्विवेदीजी की टिप्पणी निकली-‘अनुमोदन का अंत’, जिसमें ‘सरस्वती’ के प्रकाशन की कहानी ही नहीं है बल्कि सभा और इंडियन प्रेस के बीच मतभेद की अनुगूँज भी है। यही नहीं बल्कि सभा ने ‘सरस्वती’ को अपना अनुमोदन हटाने पर मजबूर कर दिया। इस टिप्पणी के अंत में द्विवेदीजी ने लिखा-

‘जब दो मित्र एक दूसरे से अलग होते हैं तब कई प्रकार के सात्विक भावों का उदय हो जाता है। अनुमोदन के रूप में सभा और ‘सरस्वती’ का पांच वर्षों तक संबंध रहा। इतने दिनों बाद, गत मास में, उसकी समाप्ति हुई। हम नहीं कह सकते कि इस कारण सभा के मन में कोई भावनाएं हुई या नहीं; और जो हुई तो कैसी हुई। पर ‘सरस्वती’ के मन में ठीक उसी तरह की भावनाएं हुई हैं, जिनका वर्णन ‘अनीस’ कवि ने अपने एक पद्य में किया है। उसी पद्य को नीचे प्रकाशित करके आशीर्वाद देती हुई ‘सरस्वती’ काशी की नागरी प्रचारिणी सभा से प्रेमपुरः से विदा होती है-

ए हो विटप-बर पुहूप तिहारे हम
 राखिहौ हमै तो, शोभा राउरे बढ़ावैंगे।
 तजिहौ कदाचित तो विलग न मानैं कछू
 जहां-जहां जैहैं तहां दूनो यश छावैंगे॥
 सुरन चढ़ैंगे नरसिरन चढ़ैंगे
 सुकवि ‘अनीस’ हाट-बाटन बिकावैंगे।
 देस में रहेंगे, परदेस में रहेंगे, काहू
 भेस में रहेंगे, तउ रावरे कहावैंगे॥’

ब्रजभाषा में लिखी कवि अनीसजी की कविता से यह प्रकट है कि द्विवेदीजी के मन में सभा के प्रति कितना आदर और श्रद्धा का भाव था। यह सच है कि द्विवेदीजी को जब कभी काशी जाने पर सभा के अधिकारियों या कर्मचारियों से मिलना होता था तो वे उन्हें पार्क में बुला लेते थे लेकिन सभा के भीतर फिर उन्होंने कदम नहीं रखा। अपनी सारी पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं तथा अपने द्वारा संपादित ‘सरस्वती’ की फाइल उन्होंने सभा को दान में दे दी थी, यहां तक कि वहां के निम्न कर्मचारियों को देने के लिए लिफाफे में अच्छी-खासी रकम रखी थी। दरअसल ‘अनुमोदन का अंत’ के पीछे सभा के कुछ अधिकारियों की साजिश थी क्योंकि उन्हें यह बात अच्छी नहीं लगी कि संपादक मंडल के स्थान पर अकेले द्विवेदीजी संपादन का कार्य करें। बाबू श्यामसुंदर दास की दो ग्रंथियां थीं-एक महावीर प्रसाद द्विवेदी और दूसरे रामचंद्र शुक्ल। चूंकि वे अपने समकालीनों की तुलना में ज्यादा पढ़े-लिखे थे। निश्चित रूप से उन्हें यह बात बुरी लगी होगी कि द्विवेदीजी ‘सरस्वती’ का संपादन कर रहे हैं। यदि सभा ने अनुमोदन वापस ले लिया तो इससे ‘सरस्वती’ का कुछ नहीं बिगड़ा उल्टे सभा का बिगड़ा क्योंकि द्विवेदीजी जैसे विद्वान से उसने अपने संबंध बिगाड़ लिए। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक ‘महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण’ में बिलकुल ठीक

लिखा है-‘किसी हद तक यह टक्कर सभा से नहीं, श्यामसुंदर दास से थी। द्विवेदीजी की तरह श्यामसुंदर दास भी हिंदी भाषा और साहित्य के लिए अपना जीवन अर्पित कर चुके थे। नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने अभ्युदय काल में जो महत्वपूर्ण कार्य किया, उसका श्रेय सबसे अधिक श्यामसुंदर दास को है। पर अपने बारे में उन्हें कुछ भ्रम थे। वह समझने लगे थे कि हिंदी साहित्य ही नहीं, वह साहित्यकारों के निर्माता भी हैं।’

श्यामसुंदर दास का ‘सरस्वती’ से अलग होना साधारण घटना नहीं थी। पहले वह हटे, फिर सभा द्वारा ‘सरस्वती’ का अनुमोदन हटा। ‘सरस्वती’ की सबसे महत्वपूर्ण देन यह मानी जाती है कि उसने हिंदी लेखन की वर्तनी को शुद्ध किया और भाषा को व्याकरण सम्मत बनाया। यहां प्रसंगवश एक विवाद का उल्लेख करना आवश्यक लगता है। द्विवेदीजी का ‘सरस्वती’ के नवंबर, 1905 अंक में ‘भाषा और व्याकरण’ शीर्षक लेख का पहला भाग छपा था जिसकी कटु आलोचना ‘भारत मित्र’ में आत्माराम ने 10 लेखों में की थी, जिसके कारण पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी और ‘भारत मित्र’ के संपादक बालमुकुंद गुप्त के बीच वैचारिक टकराहट उत्पन्न हुई। अब यह अनुमान नहीं बल्कि प्रामाणित सत्य है कि आत्माराम के छद्म नाम से ‘भारत मित्र’ के संपादक बालमुकुंद गुप्त ने ही द्विवेदीजी के लेख की आलोचना की। आलोचना-प्रत्यालोचना का यह सिलसिला लंबा चला जिसमें दोनों ओर से समर्थन और विरोध में लेख लिखे गए।

हिंदी को मानक स्वरूप देने में ‘सरस्वती’ ने द्विवेदीजी के 18 वर्ष के संपादन काल में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारी मन से द्विवेदीजी ने 31 दिसंबर 1920 को दौलतपुर, रायबरेली से अपना अंतिम संपादकीय-‘संपादक की विदाई’ लिखकर भेजा जो जनवरी 1921 की ‘सरस्वती’ में छपा। विजयदत्त श्रीधर ने ‘भारतीय पत्रकारिता कोश’ में उसके कुछ अंश उद्धृत किए हैं, जो इस प्रकार हैं-‘पुस्तक रचना के संबंध से तो इंडियन प्रेस से मेरा संपर्क बहुत पहले ही हो चुका था-बाबू चिंतामणि घोष और उसके उत्तराधिकारियों ने मेरे साथ बड़ी उदारता का व्यवहार किया, मेरे लिए अनेक सुखकर सुभीते कर दिए, किसी और काम के योग्य न रह जाने पर घर बैठे, मेरे लिए ‘सरस्वती’ का संपादन कार्य करने की अनुकूल योजना कर दी। उनके अनुग्रह का यह हाल है कि ‘सरस्वती’ का काम छोड़ देने पर भी वे मेरे सुख-साधन की चिंता से अपने चित्त को रिक्त रखना नहीं चाहते। उनके विषय में मेरे हृदय के कृतज्ञता सूचक भाव-‘हृद्येव जीर्णतां यान्तु।’

‘सरस्वती’ को निकलते पूरे 21 वर्ष हो चुके। जिस समय उसका आविर्भाव हुआ था उस समय हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य की क्या दशा थी यह बात लोगों से छिपी नहीं है, जिन्होंने उस समय को भी देखा है और जो इस समय को भी देख रहे हैं।

‘सरस्वती’ के आकार-प्रकार, उसके ढंग और लेखन शैली आदि को लोगों ने बहुत पसंद किया-अच्छी मासिक पुस्तक के संपादक में जो गुण होने चाहिए उनका शतांश भी मुझमें नहीं। अपनी अल्पज्ञता और असामर्थ्य का यथेष्ट ज्ञान होने पर भी मैंने ‘सरस्वती’ के संपादन का भार केवल यह समझकर अपने उपर लिया कि- ‘नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः’

‘मैं सेवा का अर्थ अच्छी तरह जानता हूं। अतएव मैं कह सकता हूं कि मैंने सेवाभाव से प्रेरित होकर ‘सरस्वती’ का संपादन नहीं किया। हिंदी की सेवा मैंने तो नहीं, पर इंडियन प्रेस के अध्यक्ष ने अवश्य की है। जन्मभूमि उनकी बंग देश है और मातृभाषा उनकी बंगला। ‘सरस्वती’ से उन्हें प्रत्यक्ष

कुछ भी लाभ नहीं हुआ, परोक्ष लाभ चाहे जो कुछ हुआ हो। यदि उनमें उदारता की मात्रा इतनी अधिक न होती तो 'सरस्वती' का विसर्जन कभी का हो गया होता। आज से लेख, समालोचनार्थ पुस्तकें, बदले के पत्र और 'सरस्वती' के संपादन से संबंध रखने वाली चिट्ठियां आदि 'सरस्वती' संपादक, इंडियन प्रेस लिमिटेड कटरा, इलाहाबाद के पते से ही भेजी जानी चाहिए, अच्छा तो अब मैं विदा होता हूँ-

*‘अतः परं व्याधिशतक्षतस्य मे
मनो मनोहारिणि जाह्नवीतटे
दौलतपुर, रायबरेली
महावीर प्रसाद द्विवेदी’
31 दिसंबर 1920*

इस तरह आचार्य द्विवेदी ने लगभग 18 वर्षों तक 'सरस्वती' का संपादन करके एक कीर्तिमान स्थापित किया। हिंदी के कुछ आलोचक द्विवेदीजी के महत्व को ठीक से नहीं समझते और उन्हें मात्र भाषा संशोधक कहकर टाल देते हैं। बेशक 'सरस्वती' में प्रकाशित रचनाओं की स्तरीयता बनाए रखने के लिए वे भाव और भाषा दोनों में संशोधन करते थे लेकिन नई-नई प्रतिभाओं को सरस्वती में प्रकाशित करने का जैसा गौरव उन्हें मिला वैसा आज तक शायद ही किसी पत्रिका के संपादक को मिला हो। द्विवेदीजी में अद्भुत संपादन कला थी। उन्होंने जिन महत्वपूर्ण लेखकों की रचनाओं में संशोधन किया उनमें कामता प्रसाद गुरु, मिश्र बंधु, रामचंद्र शुक्ल, वृंदावनलाल वर्मा, सरदार पूर्ण सिंह, गणेश शंकर विद्यार्थी आदि शामिल थे। भारत यायावर द्वारा संपादित महावीर प्रसाद रचनावली खंड 1 के परिशिष्ट 3 के अंतर्गत द्विवेदीजी द्वारा संशोधित लेखों की सूची दी गई है जिससे पता चलता है कि कितनी सूक्ष्मता और सजगता के साथ द्विवेदीजी संपादन करते थे। हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता में, आचार्य द्विवेदी का संपादक के रूप में योगदान कभी भी भुलाया नहीं जा सकता।



‘संपत्तिशास्त्र’ : दारुण जीवन का दस्तावेज

सूरज पालीवाल

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ‘संपत्तिशास्त्र’ के पहले भाग के पहले परिच्छेद में ‘भारतवर्ष में संपत्तिशास्त्र के अभाव का कारण’ विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ‘पहुंचे हुए महात्माओं और योगियों को छोड़कर, कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसे संपत्तिमान होने की इच्छा न हो? जो संपत्ति को कुछ नहीं समझते, जिनकी दृष्टि में मिट्टी का ढेला और अकबरी अशरफी तुल्य हैं, ऐसे लोग, इस जमाने में, शायद लाख में कहीं एक हों। संसार में रहकर संपत्ति का पचड़ा सबके पीछे लगा हुआ है। बिना थोड़ी बहुत संपत्ति के संसार में रहकर कालक्षेप करना बिलकुल ही असंभव है। जो संपत्ति इतनी महत्वमयी है और जिसकी कृपा बिना बड़े-बड़े विद्वानों, बड़े-बड़े विज्ञानियों, बड़े-बड़े पंडितों को भी संपत्तिमानों का आश्रय लेना पड़ता है, उसका शास्त्रीय विचार संस्कृत साहित्य में न देखकर आश्चर्य होता है। भारतवर्ष के जिन प्राचीन ग्रंथकारों ने गहन से भी गहन और क्लिष्ट से भी क्लिष्ट विषयों के विवेचन से भरे हुए ग्रंथ लिख डाले उन्होंने संपत्ति संबंधी इस इतने बड़े महत्वपूर्ण विषय पर एक सतर तक न लिखी? आश्चर्य की बात ही है। परंतु संपत्ति की महिमा भारतवर्ष के निवासियों की दृष्टि में अभी बहुत पुरानी नहीं। इस देश के तत्वदर्शी पंडित संपत्ति को कोई चीज ही नहीं समझते थे। लक्ष्मी को उन्होंने हमेशा तुच्छ दृष्टि से देखा है। यदि एक ने उसे स्पृहणीय कहा है तो दस ने त्याज्य। उसे तृणवत् मानने ही में उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा समझी है। उसे अनेक अनर्थों का मूल बतलाने ही में उन्होंने संसार का भला सोचा है। फिर भला ऐसी अनर्थकारी संपत्ति की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के नियम वे क्यों बनाते?’ यह क्षोभ की भाषा है। बहुत सधे शब्दों में वे दुनिया के अपरिहार्य विषय की उपेक्षा से दुःखी हैं। द्विवेदीजी अर्थशास्त्र के पंडित नहीं थे और न संपत्तिमान ही पर उन्हें लगा कि देश को अंग्रेज लगातार लूट रहे हैं लेकिन उस ओर हमारा ध्यान ही नहीं है। उन्होंने इसका कारण ढूंढ़ा और उन्हें लगा हमारे पास ऐसा कोई शास्त्र नहीं है, जिससे हम अंग्रेजों की लूट के प्रमाण इकट्ठे कर सकें। उन्होंने संपत्ति के रहने और न रहने के कारणों की तलाश की और प्रामाणिक तथ्यों के साथ इस देश की गरीबी के कारणों को चिह्नित किया।

ग्रंथ की भूमिका में जिन सत्तरह ग्रंथों की सूची दी गई है, उनके विषय में आचार्य द्विवेदी ने लिखा है ‘जिन पुस्तकों के अध्ययन, अवलोकन और सहायता से हम इस पुस्तक के लिखने में समर्थ हुए हैं उनके लिखने वालों के हम बहुत ऋणी हैं। उनके नाम आदि हम नीचे देकर अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।’ इन सत्तरह पुस्तकों में नौ अंग्रेजी की हैं, दो-दो बंगला, उर्दू, मराठी और गुजराती की हैं। इन पुस्तकों के अलावा ‘अनेक समाचार पत्रों और मासिक पुस्तकों में, समय-समय

पर, संपत्तिशास्त्र विषयक जो लेख निकले हैं और हमारे देखने में आए हैं उनसे भी हमने सहायता ली है। व्यापार आदि से संबंध रखने वाली गवर्नमेंट की कितनी ही रिपोर्टों से भी हमने सामग्री एकत्र की है।' इसके साथ ही माधवराव सप्रे की अप्रकाशित पुस्तक की सहायता भी इस ग्रंथ के लेखन में उन्होंने ली है, जिसका आभार उन्होंने स्वीकार किया है। इतनी सारी पुस्तकों के अध्ययन के उपरांत वे 'संपत्तिशास्त्र' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक लिखने बैठे थे, उनके मन में चिंता थी कि 'यदि दुनिया की अन्यान्य जातियों में अपना नाम बनाए रखने की जरा भी इच्छा हो तो उन्हें चाहिए कि वे 'संपत्तिशास्त्र' का अध्ययन करें, और सोचें कि कौन-सी ऐसी बातें हैं जो हमारी उन्नति में बाधा डाल रही हैं। इंग्लैंड में छोटे-छोटे बच्चों तक को भी 'संपत्तिशास्त्र' के मोटे-मोटे सिद्धांत सिखलाए जाते हैं। वहां के विद्वानों की राय है कि अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध किसी को भी संपत्तिशास्त्रीय ज्ञान से वंचित रखना बुद्धिमानी का काम नहीं। क्यों न, फिर, इंग्लैंड दुनिया भर में सबसे अधिक संपत्तिमान हो?'

दो चीजें आचार्य द्विवेदी को 'संपत्तिशास्त्र' लिखाने का आधार बनीं। एक, भारत की गरीबी तथा दूसरा, इंग्लैंड का संपत्तिमान होना। 'संपत्तिशास्त्र' की भूमिका में उन्होंने इसे लिखने के कारणों पर प्रकाश डाला है 'संपत्तिशास्त्र' इतने महत्व का है कि इस पर पुस्तकें लिखना सबका काम नहीं। जिन्होंने इस शास्त्र का अच्छी तरह अंग्रेजी में अध्ययन किया है और जिन्होंने देश की सांपत्तिक अवस्था पर अच्छी तरह विचार भी किया है, वही इस काम के योग्य समझे जा सकते हैं। हम इन गुणों से सर्वथा हीन हैं इस विषय की पुस्तक लिखने की हममें कुछ भी योग्यता नहीं। यहां पर हमसे यह पूछा जा सकता है कि यदि यह बात है तो क्यों तुमने इस पुस्तक के लिखने की धृष्टता की? इसके उत्तर में हमारा यह निवेदन है कि हमारे इस चापल्य का कारण- 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः' -लोकोक्ति में कहा गया सिद्धांत है। जिनमें संपत्तिशास्त्र विषयक अच्छी पुस्तक लिखने का सामर्थ्य है वे हिंदी पढ़ना पाप समझते हैं, हिंदी में पुस्तकें लिखने की बात तो दूर रही। इस दशा में हमारे सदृश अयोग्य जन भी यदि अपने सामर्थ्य के अनुसार इस शास्त्र के स्थूल सिद्धांत हिंदी में लिखकर उनके प्रचार का यत्न करें तो कोई दोष की बात नहीं। इसके लिए यदि किसी को दोष दिया जा सकता है तो उन्हीं को दिया जा सकता है जो इस शास्त्र का ज्ञान रखकर भी उससे अपने देश भाइयों को कुछ भी लाभ पहुंचाने का यत्न नहीं करते।' द्विवेदीजी 'अपने देश भाइयों' की आर्थिक अवस्था को देखकर दुःखी थे इसलिए उन्होंने 'सरस्वती' में जितना काम साहित्य और भाषा के मानकीकरण का किया उतना ही काम देश की अन्य ज्वलंत समस्याओं पर लिखने और लिखवाकर छापने के लिए भी किया।

आज हिंदी में अनेक पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही हैं, सरकारी और घरानों की पत्रिकाओं को छोड़ भी दें तो निजी उद्यम से भी कम पत्रिकाएं नहीं निकल रही हैं पर उनमें साहित्य के अलावा समाज की चिंताएं कम देखने को मिल रही हैं। देश में किसान लगातार आत्महत्या कर रहे हैं, किसान को उसकी लागत से भी कम मूल्य मिल रहा है और अधिकांश सीमांत किसान 'कहां जाई का करी' वाली अवस्था में है, ऐसी स्थिति में हमारे साहित्यिकों तथा संपादकों को आचार्य द्विवेदी को एक बार फिर पढ़ना चाहिए और देखना चाहिए कि हमारे शीर्ष संपादक की चिंता क्या थी? उनकी चिंता थी कि अधिक और मनमानी मालगुजारी के कारण किसान परेशान हो रहे हैं। सरकार कहती है कि

मालगुजारी ज्यादा नहीं है और किसान उसे ज्यादा मानते हैं तो आचार्य द्विवेदी ने इस पर लिखा 'यदि मालगुजारी जियादह नहीं तो फिर क्या कारण है जो हजारों लाखों कृषकों के बैल बधिए विक जाते हैं और लाखों एकड़ जमीन नीलाम हो जाती है? आप देहात में जाकर देखिए, 100-50 किसानों में कहीं एक आध आपको ऐसा मिलेगा जिसे रोटी, कपड़े की तकलीफ न हो। यह हम समय-सुकाल की बात कहते हैं। अकाल में तो जो दृश्य देहात में देख पड़ता है वह बहुत हृदयद्रावक होता है। यदि यह मान भी लिया जाए कि लगान की अधिकता अकाल की भीषणता का कारण नहीं तो यह प्रश्न उठता है कि अंग्रेजी राज्य के पहले भी तो अकाल पड़ता था। पर उस समय प्रजा में इतना हाहाकार क्यों न मचता था? एक भी फसल मारी जाने या खराब होने से क्यों न उस समय लाखों आदमी दाने-दाने के लिए तड़पते फिरते थे?' सचाई यह है कि अंग्रेजों की राज व्यवस्था का अधिकांश खर्च किसानों से वसूली गई मालगुजारी से पूरा होता था। इसलिए द्विवेदीजी ने स्पष्ट लिखा 'यदि इस देश के संपत्ति रस को निचोड़ना ही था तो और किसी मद से निचोड़ते जहां अधिक गीलापन होता। निचोड़ा कहां से जहां मुश्किल से दो चार बूंद निकलीं।' ये दो-चार बूंद विपन्न और कमजोर किसान की थीं, जिन्हें निकालते हुए उन्होंने देखा था।

अगस्त, 1915 की 'सरस्वती' में उन्होंने ईश्वरदास मारवाड़ी का एक लंबा लेख प्रकाशित किया था 'भारतीय किसानों के उद्धार का उपाय'। इस लेख में अठारहवीं सदी के दुर्भिक्षों से अंग्रेजी राज के दुर्भिक्षों की तुलना की गई थी 'अठारहवीं सदी के प्रारंभ से लेकर अंत तक केवल चार दफे दुर्भिक्ष पड़ा। किंतु उन्नीसवीं सदी से दुर्भिक्ष का जोर बढ़ने लगा। 1800 से 1825 तक संपूर्ण ब्रिटिश भारत में दस लाख भारतवासी भूखों मरे। 1825 से 1850 तक 5 लाख और 1850 से 1875 तक 50 लाख मनुष्यों ने बिना अन्न अपने प्राण खोए। उन्नीसवीं सदी के अंतिम 25 वर्षों के दुर्भिक्षों का विचार करने से तो छाती फटती है। केवल इन 25 वर्षों में दुर्भिक्ष दैत्य ने भारत पर 28 बार अपनी कोपाग्नि प्रकट की और लगभग चार करोड़ मनुष्यों को भस्मीभूत कर दिया। उन्नीसवीं सदी में सब मिलकर जितने मनुष्यों ने भूख से प्राण त्याग किए उन पर विचार करके कौन ऐसा पाषाण हृदय होगा जिसके नेत्रों में आंसू न आ जाएं? संसार में युद्ध से बहुत नरहत्या होती हैं किंतु जितने मनुष्य अकाल के कारण भारत में 100 वर्षों में मरे उतने संसार के सारे युद्धों में भी उन 100 वर्षों में नहीं मरे।' आज भी किसानों की आत्महत्याओं का दौर थमा नहीं है जबकि आजादी का 68वां पर्व हम मना चुके हैं। गूगल रिसर्च पर जो आंकड़े दिए गए हैं, वे बहुत डरावने हैं। ये आंकड़े हैं '1997 से 2008 तक महाराष्ट्र में 41404, म.प्र. तथा छत्तीसगढ़ में 32454, कर्नाटक में 25685 तथा आंध्र प्रदेश में 23279 किसानों ने आत्महत्या की।'

क्या कारण है कि आचार्य द्विवेदी की मूल चिंता किसानों की आर्थिक दुरवस्था है? इसलिए वे 'संपत्तिशास्त्र' लिखकर चुप नहीं बैठे बल्कि लगातार किसानों की समस्याओं पर स्वयं लेख लिख रहे थे और मित्रों से लिखवा रहे थे। 1915 से लेकर 1918 तक यानी प्रथम विश्व युद्ध के दौरान उन्हें किसानों की चिंता ने अधिक व्याकुल किया था। युद्ध का मैदान भारत के बाहर था पर किसानों की लूट इसी जमीन पर हो रही थी, जमींदारों, कारकूनों तथा सरकारी अफसरों द्वारा मालगुजारी के रूप में किसानों की सूखी हड्डियां निचोड़ी जा रही थीं। 1914 की 'सरस्वती' में उन्होंने 'देश की बात' शीर्षक से टिप्पणी में लिखा था 'हर साल जो यह कांग्रेस होती है उसने आज तक किसानों

पर अपनी कितनी भक्ति प्रकट की है? उसके किए हुए प्रस्तावों में कितने प्रस्ताव ऐसे हैं जिनसे किसानों को लाभ पहुंचने की संभावना है? अथवा इन प्रांतिक सभाओं ने ही इन बेचारों के लिए क्या किया है? कांग्रेस के जो प्रतिनिधि इस समय विलायत की हवा खा रहे हैं वे इन लोगों की कौन-कौन-सी शिकायतें सुनाने के इरादे से वहां गए हैं? ... इन 70 फीसदी किसानों की दुर्गति का ज्ञान शहरों में मेज-कुर्सी लगाकर बैठने और मोटर कार तथा फिटनों पर घूमने वालों को नहीं हो सकता। इन लोगों का हाहाकार इनके गंदे गांवों में घूमने, इनके साथ रहने और इनसे बातचीत करने से हो सकता है। प्रजा के प्रतिनिधि बनने का दम भरने वाले कितने माननीय महाशय वर्तमान कौंसिलों में ऐसे हैं जिन्हें इन बेचारों की दुर्गति का ज्ञान हो? हर साल हजारों रुपया नजराने के नाम से इनसे ऐंठा जाता है। ... काश्तकार निरन्न होकर मर जाएं, कुछ परवा नहीं। उनके हल बैल बिक जाएं, कुछ परवा नहीं, वे देश छोड़कर फिजी, जमाइका और त्रिनिदाद को चले जाएं कुछ परवा नहीं। उन्हें रुपए से काम! प्रजा के प्रतिनिधि बतावें इनके लिए उन्होंने क्या किया?’ यह जुलाई, 1914 की ‘सरस्वती’ में छपी टिप्पणी है, जब गांधीजी को भारत आने में लगभग 6 महीने शेष थे।

द्विवेदीजी अपनी टिप्पणियों के माध्यम से अपनी ही प्रजा के प्रतिनिधियों से प्रश्न पूछ रहे थे कि जो प्रजा गरीबी में अपना देश छोड़कर गुलामी के लिए अविकसित देशों में जा रही है, उसे रोकने तथा उसके लिए कुछ करने की दिशा में आपने क्या किया? प्रथम विश्व युद्ध की तबाही ने उन्हें व्यथित किया था। शहर में रहते हुए ‘सरस्वती’ का संपादन वे जरूर कर रहे थे पर उनका संपर्क गांव से था और विशेषरूप से अवध के गांवों से, जिन्होंने 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम लड़ा था। उनके मन में इस बात का गर्व भी था और चिंता भी कि इतिहास से आगे जीवन में हम कुछ नहीं कर पा रहे हैं जबकि किसानों की हालत निरंतर खराब होती जा रही है। द्विवेदीजी अपने ही नेताओं से जो प्रश्न 1914 में पूछते हैं वही प्रश्न 1930 में प्रेमचंद ‘गबन’ उपन्यास में देवीदीन खटीक के माध्यम से पूछते हैं और वही प्रश्न आज भी पूछा जा सकता है कि आजादी के 68 साल में किसानों के लिए सरकार ने क्या किया? सिवाय उनकी जमीन को कंकरीट में परिवर्तित करने, महामार्ग बनाने तथा उनकी पैदावार और पानी को बहुराष्ट्रीय कंपनियों को बेचने के? द्विवेदीजी की यह टिप्पणी इसलिए भी प्रासंगिक है कि इसे लिखे पूरे सौ वर्ष हो गए हैं। इतिहास की गति पीछे लौटने की नहीं होती, किसी भी देश का इतिहास यदि स्थिर है या पीछे लौट रहा है तो यह चिंता का विषय है। ‘सरस्वती’ की यह टिप्पणी उस समय लिखी गई थी जब देश पराधीन था, अंग्रेजों का शिकंजा पूरी तरह कस चुका था और दूर-दूर तक स्वाधीनता की रोशनी दिखाई नहीं दे रही थी। तब द्विवेदीजी किसानों की चिंता करते हैं और यह देखते हैं कि इस देश का नेतृत्व भी उन किसानों की दशा देखकर द्रवित नहीं है बल्कि अपनी तरह से आजाद होने के सपने में सोया हुआ है।

कहना न होगा कि गांधीजी के भारतीय राजनीति में शामिल होने से पूर्व कांग्रेस का व्यापक जनाधार नहीं था। लाखों-करोड़ों लोगों को सुराज का मतलब गांधीजी ने ही समझाया था इसलिए बड़े जनांदोलन उनके आने के बाद ही हो सके। यह टिप्पणी इसलिए भी मौजू है कि पूरे ‘संपत्तिशास्त्र’ में द्विवेदीजी की चिंता किसानों और उन गरीब लोगों को लेकर है, जिन पर तरह-तरह के कर लगाकर सरकार खोखला कर रही है। अंग्रेज सरकार द्वारा खेती पर लगाई गई मालगुजारी ने किसानों को मजदूरी करने और बाद में भूमिहीन बनाने को विवश कर दिया था। प्रेमचंद की कहानी ‘पूस की

रात' के हल्कू की पीड़ा को द्विवेदीजी ने पहले ही व्यक्त कर दिया था 'सरकार जमीन पर जो मालगुजारी लेती है वह मजदूरी आदि देकर बची हुई पैदावार का आधा है। अर्थात् पचास फीसदी मालगुजारी सरकार को देनी पड़ती है। यह शरह मामूली फसल के हिसाब से बांधी गई है। पर यदि फसल खराब हो जाती है तो भी प्रजा को अकसर उतनी ही मालगुजारी देनी पड़ती है जितनी कि अच्छी फसल होने पर देनी पड़ती। फिर यह पचास फीसदी की शरह सब कहीं प्रचलित नहीं। कहीं-कहीं साठ फीसदी तक लगान देना पड़ता है। और पटवारी, चौकीदार, स्कूल, शफाखाने आदि का कर लगाकर वह कहीं-कहीं पैंसठ फीसदी से भी अधिक हो जाती है। इसका फल यह होता है कि काश्तकारों को बहुत ही कम क्या, किसी-किसी को प्रायः कुछ भी नहीं बचता और उनकी जमीन नीलाम हो जाती है।' 'पूस की रात' कहानी के अंत में मुन्नी हल्कू से कहती है 'फसल तो सब उजड़ गई अब मालगुजारी क्या मजूरी करके दोगे? तो हल्कू अपनी पूरी पीड़ा के साथ कहता है कि 'अब रात को ठंड में यहां सोना तो न पड़ेगा।' यह संतोष की सांस उस पीड़ा से उत्पन्न हुई है जिसमें रात भर ठंड में मरने के बाद भी मालगुजारी देकर कुछ बचता नहीं था। जब खेती कुछ देती ही नहीं है तो उसे करने का अर्थ ही क्या है? हर आदमी अपने संतोष के कारण दूढ़ लेता है जो उसके जीवन के आधार होते हैं।

'पूस की रात' के हल्कू तथा 'कफन' के घीसू माधव को एक साथ रखकर पढ़ा जाए तो उनकी मानसिकता के कारण 1908 में आचार्य द्विवेदी ने पहले ही लिख दिए थे। हल्कू को यह संतोष है कि पूस की रात में बिना कंबल के ठंड में अब सोना तो नहीं पड़ेगा और घीसू माधव इसलिए निकम्मे हो गए हैं कि काम करने के बाद भी रोटी नसीब नहीं होती। 'संपत्तिशास्त्र' में 'हिंदुस्तान की आर्थिक अवस्था का दिग्दर्शन' शीर्षक से द्विवेदीजी ने एक लेख लिखा जिसमें वे कहते हैं 'इस दशा में यदि भारत की भूमि सुवर्णमय हो जाय तो भी किसी दिन यह देश कंगाल हुए बिना न रहे। विलायत में हर आदमी की सालाना आमदनी का औसत कोई 600 रुपया है और हिंदुस्तान में हर आदमी का सिर्फ 30 रुपया। इस पर भी विलायत वाले होम चार्ज के नाम से यहां के प्रति आदमी से औसतन साढ़े सात रुपया वसूल करके अपने देश को ले जाते हैं। फिर भला क्यों न यह देश दिनों दिन दरिद्रता की फांस में फंसता जाए?' दरिद्रता की इस फांस को द्विवेदीजी आंख खोलकर देख रहे थे और इस देश के नेतृत्व को दिखा भी रहे थे। यही कारण था कि गांधीजी ने 'संपत्तिशास्त्र' के एक वर्ष बाद केवल 9 दिनों में पानी के जहाज पर बैठकर 'हिंद स्वराज' नामक एक ऐसी किताब लिखी जो उनके सपनों के भारत का सभ्यता पाठ थी। इसके कोई प्रमाण नहीं है कि गांधीजी ने 'संपत्तिशास्त्र' पढ़ा था लेकिन इसके प्रमाण हैं कि उन्हें भारत के किसानों और उनके शोषण की जानकारी द्विवेदीजी से कम नहीं थी। इंग्लैंड से बैरिस्टर की पढ़ाई करके आए एम.के.गांधी दक्षिण अफ्रीकी आंदोलनों के दौरान एक पढ़े-लिखे बैरिस्टर का पहनावा पहनते रहे लेकिन हिंदुस्तान आकर दो वर्ष पूरे देश का भ्रमण करते हुए उन्होंने देखा कि लोगों के पास पहनने के लिए कपड़े तक नहीं हैं, उन्होंने तत्काल केवल एक धोती में रहने का व्रत लिया, जिसे सारे जीवन निभाया। द्विवेदीजी 'संपत्तिशास्त्र' में अपने पूर्वजों की परंपरा का ज्ञान कराते हुए सादगीपूर्ण जीवन का आह्वान करते हैं 'इंग्लैंड में जितना धनोत्पादन होता है उसका यदि आधा भी इस देश में होने लगे और हमारे पूर्वज जिस सादगी से रहते थे उसकी आधी भी सादगी स्वीकार करके यदि हम उसके आगे बढ़ें तो हमारे

दारुण जीवन-संग्राम की ज्वाला बहुत कुछ शांत हो जाए और बुभुक्षितों का लोमहर्षण आर्तनाद भी कम सुनाई पड़ने लगे।’

‘संपत्तिशास्त्र’ में द्विवेदीजी की पूरी चिंता भारत के गांव, उसकी जमीन और उसके किसानों की है। जो काम मुगलों ने नहीं किया उसे अंग्रेजों ने सबसे पहले किया। व्यापार के साथ पूरे देश की जमीन पर अंग्रेजों ने कब्जा कर लिया। इंग्लैंड में भी जमीन पर सरकार का कब्जा नहीं है पर भारत में उन्होंने यह किया और फिर किसान और सरकार के बीच ऐसे केंद्र विकसित किए जो अंग्रेजों का घर भरने के लिए अपने ही किसानों को लूट रहे थे। किसान बेहाल था पर उसकी सुनने वाला कोई नहीं था। अदना से अदना कारकून भी उसके लिए लाटसाहब था। द्विवेदीजी ने 1924 में एक लेख लिखा था ‘किसानों का संगठन’ जिसमें वे बताते हैं ‘खेतिहरों का व्यवसाय या पेशा खेती करना है और खेती खेतों में होती है। इन प्रांतों में जितनी जमीन खेती करने लायक है, कुछ को छोड़कर बाकी सभी के मालिक जमींदार, ताल्लुकदार, नंबरदार और राजा रईस बने बैठे हैं। वे काश्तकारों से खूब कसकर लगान लेते हैं, उसे समय-समय पर बढ़ाते भी हैं और कारण उपस्थित हो जाने पर उन्हें उनके खेतों से बेदखल भी कर देते हैं। इस संबंध में जो कानून बने हैं वे काश्तकारों के सुभीते के कम और जमींदारों के सुभीते के अधिक हैं। अतएव जिस जमीन के ऊपर काश्तकारों का जीना मरना अवलंबित है उसके लगान आदि के नियंत्रण के नियम सुभीते के न होने के कारण कभी-कभी काश्तकारों की बड़ी ही दुर्गति होती है।’ किसानों की इस दुर्गति का कारण अंग्रेज और उसके स्वामिभक्त बिचौलिए हैं, जिनके लिए देश की गरीब जनता के हितों का कोई अर्थ नहीं रह गया है। ऐसे लोगों से मिलकर ही अंग्रेजों ने भारत की जमीन और व्यापार पर कब्जा किया था। ‘संपत्तिशास्त्र’ की मूल चिंता विदेशियों द्वारा इस देश के कृषि तथा अन्य उत्पादों को सस्ते दामों पर विदेश ले जाने, किसानों की बेहाल अवस्था, अकाल तथा अन्य सरकारी प्रकोपों से हो रही अकाल मौतों तथा देश के प्रबुद्धजनों की इस ओर उदासीनता थी। द्विवेदीजी ने इसलिए एक ऐसे शास्त्र की रचना की जिसे समझकर न केवल अपनी दुरवस्था को देखा जा सकता है बल्कि दूसरों के द्वारा हो रहे लगातार शोषण को भी समझा जा सकता है। यह केवल उस समय की महत्वपूर्ण पत्रिका ‘सरस्वती’ के संपादक की चिंता भर नहीं थी बल्कि अवध के उस किसान पुत्र की भी चिंता थी, जिनके पूर्वज देश के स्वाधीनता आंदोलन में अंग्रेजों से लड़े थे। इसीलिए ‘संपत्तिशास्त्र’ की भाषा खिलखिलाती भाषा नहीं है बल्कि दुःखी मन की संवेदनशील अभिव्यक्ति है।



आचार्य द्विवेदी के समाज-विमर्श में किसान

अशोक नाथ त्रिपाठी

‘शोचनीय है दशा किसानों की हो गई आज भारी
विपदा का पहाड़ सा उन पर टूट पड़ा है दुःखकारी
कर श्रम कठिन देश भर को जो अन्न दान नित करते हैं
वे ही हो निरुपाय हाय! अब बिना अन्न के रहते हैं
मनमाना विवाह आदिक में जो निज द्रव्य उड़ाते हैं
रंडी- भड्डों को जो अपना अति औदार्य दिखाते हैं
जो सहर्ष आपस के झगड़े में सर्वस्व लुटाते हैं
वे ही जमींदार कृषकों पर जरा न दया दिखाते हैं
दया निधान! दया कर करिये इन्हें सदबुद्धि प्रदान
हो कर्तव्य-ज्ञान जिसमें इन जगतीपतियों को भगवान
जो किसान है इनके सारे ठाट-बाट के हेतु प्रधान
दे उन बेचारों के क्लेशों पर ये आज तनिक तो ध्यान’

(वर्तमान दुर्भिक्ष- महावीर प्रसाद द्विवेदी)

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य और सांस्कृतिक चेतना को एक दृष्टि प्रदान करने में महती भूमिका निभाई है। हिंदी जगत में उन्हें प्रायः भाषा के अनुशासक और आलोचक के रूप में चित्रित करने की परंपरा चल पड़ी है। इसके चलते उनका चिंतक और रचनाकार अपेक्षाकृत अलक्षित ही रह जाता है। द्विवेदीजी हिंदी को सामाजिक सशक्तीकरण की एक भाषा के रूप में देखते थे। इसीलिए उन्होंने हिंदी के अतिरिक्त ज्ञान, विज्ञान और समाज-चिंतन को वे सारी बातें लिखनी और लिखवानी चाही जिनका एक उभरते-बनते राष्ट्र से सरोकार हो सकता था। इस सरोकार का चरित्र समसामयिक समस्याओं और चिंताओं के अनुरूप ही प्रतिरोधी था और इसमें स्वतंत्रता की छटपटाहट लगातार बनी रही। ऐसे में यह स्वाभाविक था कि वे अपने आस-पास के समाज और उसकी राजनीति में होने वाली उथल-पुथल को अनदेखा न करते।

अतः द्विवेदीजी ने ‘सरस्वती’ में सर्जनात्मक साहित्य के अतिरिक्त भी बहुत कुछ चीजें छापीं हालांकि यह पत्रिका गणेश शंकर ‘विद्यार्थी’ द्वारा प्रकाशित ‘प्रताप’ की तरह जनसंघर्ष से जुड़ी पत्रिका नहीं थी। द्विवेदीजी ‘सरस्वती’ में कुछ न कुछ ऐसा छापते रहते थे जिससे यह साफ पता चलता था कि वे सामाजिक परिवेश के प्रति सचेत थे और उसका पूरी तरह संज्ञान ले रहे थे। उल्लेखनीय है

कि यही वह समय था जब गांधीजी के कार्य और दृष्टि में बदलाव आया था। 1916 की दिसंबर में चंपारण के एक संपन्न किसान-राजकुमार शुक्ल ने लखनऊ के कांग्रेस अधिवेशन में आकर किसानों की दुर्दशा का हाल बताकर गांधीजी को चंपारण यात्रा पर ले गए। चंपारण में 1917 में महात्मा गांधी द्वारा चलाए गए किसान सत्याग्रह की एक खास भूमिका थी जिसके बाद हिंदी क्षेत्र में कई किसान आंदोलन हुए।

1918 में 'सरस्वती' के जून और जुलाई के अंकों में गंगाधर पंत का लेख 'अवध के जमींदार और काश्तकार' दो किशतों में द्विवेदीजी ने छपा। पहली किशत में अवध में खेतिहर अंतर्विरोध तथा गदर और अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद की भूमि व्यवस्था और काश्तकारी के नियमों को उद्घाटित किया गया तथा दूसरी किशत में किसानों की तकलीफों का ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है। इस लेख के माध्यम से लेखक ने यह दिखाया कि 'जबरा मारे रोने भी न दे'। इसी साल अक्टूबर के अंक में शालग्राम का एक लेख 'कृषकों की दरिद्रता' भी छपा। यह वही समय है जब कृष्णकांत मालवीय की पत्रिका 'मर्यादा', गणेश शंकर 'विद्यार्थी' की पत्रिका 'प्रताप' तथा शिव प्रसाद गुप्त द्वारा निकाला जा रहा अखबार 'आज' प्रमुख भूमिका निभा रहे थे। विद्यार्थीजी साप्ताहिक प्रताप के अतिरिक्त 'प्रभा' नामक एक मासिक पत्रिका भी निकालते थे और पंडित मदन मोहन मालवीय का साप्ताहिक अखबार 'अभ्युदय' भी प्रकाशित होता था। अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र से संबंधित पूरी पत्रिका 'स्वार्थ' नाम से जीवन शंकर मलिक निकालते थे। इन पत्रिकाओं का स्वामित्व और संपादकत्व समय-समय पर बदलता रहा। उदाहरण के लिए इनमें से कई पत्रिकाओं को बाद में शिवप्रसाद गुप्त की संस्था 'ज्ञानमंडल' से निकाला गया किंतु उनका चरित्र नहीं बदला। इन सब में लगातार किसानों और किसानों से संबंधित लेख छपते रहे।

इसी समय के आस-पास बहुत सी किसान सभाएं भी बनीं और उनके अपने मुखपत्र का प्रकाशन भी होता रहा। उदाहरण के लिए उ.प्र. किसान सभा का मुखपत्र 'किसान' नाम की पत्रिका 'अभ्युदय' प्रेस से प्रकाशित होता था। प्रथम महायुद्ध के ठीक बाद हिंदी प्रदेश में किसानों में सुगबुगाहट हुई जिसने शीघ्र ही किसान आंदोलन का रूप लिया। ये आंदोलन मुख्यतः तीन स्थानों पर उभरकर सामने आए : बिहार में चंपारण, राजस्थान में महाराणा उदयपुर के क्षेत्र विजौलिया (विजय सिंह पथिक) और बाबा रामचंद्र के नेतृत्व में अवध क्षेत्र। इसके परिणामस्वरूप रायबरेली, फैजाबाद आदि में कई जगहों पर गोलियां भी चलीं।

इस परिवेश में महावीर प्रसाद द्विवेदी जो संपादक और लेखक के रूप में अपना योगदान दे रहे थे, उनका ग्रंथ 'संपत्ति शास्त्र' 1907-1908 में छपा। हमें यह ध्यान देना चाहिए कि यह लगभग वही समय है जब महात्मा गांधी की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंद स्वराज' भी प्रकाश में आई। इससे इस बात का अंदाजा लगाया जा सकता था कि जिस समय महात्मा गांधी देश के तमाम व्यवस्थाओं को लेकर चिंतित थे द्विवेदीजी भी लगभग उसी समय उन मुद्दों को अपनी लेखनी का विषय बनाते हैं। 'संपत्ति शास्त्र' में ब्रिटिश भारत की अर्थव्यवस्था पर बहुत सारी बातें हैं जो और कहीं नहीं मिलती हैं। अंग्रेजों के आने के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था में जो बदलाव हुए उनका अध्ययन करने के लिए यह पुस्तक अत्यंत महत्वपूर्ण है। 'संपत्ति शास्त्र' में द्विवेदीजी लिखते हैं कि- हमारे देश में लेनदेन का जितना काम था पहले महाजन लोग करते थे। अब भी कुछ न कुछ जरूर करते हैं। बहुतेरे लोग समझते

हैं कि देसी महाजन सूद अधिक लेते हैं, नहीं मालूम उन लोगों का यह ख्याल कहां तक ठीक है। बंगाल चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स के सभापति का कथन 'रुपये की मांग के समय कलकत्ते के बाजार की दर बैंकों की दर से कम रहती है। एक दफे मुझे हुंडियां बेचनी थी उनका बड़ा बैंक वालों ने साढ़े तेरह मांगा, मगर बाजार में मैंने उसको आठ सैकड़े बट्टे बेंच दिया। आगे वे यह भी कहते हैं कि- 'इसमें संदेह नहीं कि देहात के महाजन अपने आसामियों से अधिक सूद लेते हैं मगर रुपया भी ऐसे आदमी को दे देते हैं जिनसे वसूली होना आकाशवृत्ति पर ही अवलंबित है। इस दशा में अपनी रकम को खतरे में डालकर जो महाजन 2-3 सैकड़ा सूद अधिक लेता है उनपर दोष लगाना उचित नहीं है।' इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना गलत होगा कि द्विवेदीजी महाजनी व्यवस्था के पक्षधर हैं। उनका मत था कि यदि कंपनी बनाकर काम करने का ढंग न निकाला गया होता तो काम नहीं चलता। वे महाजनों के चालाकी से पूरी तरह वाकिफ थे और कहते भी थे कि- 'जिसको वे (महाजन) रुपया उधार देते थे उससे अपना सूद लेते हैं, मगर यदि कोई अपना रुपया उनके पास जमा कर दे तो उसको सूद देने में वे अपनी तौहीनी समझते हैं।' यहां वे बैंकों की तारीफ करते थे और कहते थे कि- 'बैंकों ने इस नियम को तोड़ा है इस कारण सर्व साधारण का बहुत सारा रुपया उनके पास जमा हो गया जिससे उनकी शक्ति बढ़ गई अब जो रुपया घरों में बंद था वह देश देशांतर की सैर करने लगा'। द्विवेदीजी के इन कथनों से यह साबित होता है कि वह अर्थव्यवस्था पर स्वतंत्र चिंतन भी करते हैं।

'संपत्ति शास्त्र' में ही भारत के किसान और किसानी की भी चर्चा दिखाई पड़ती है। अंग्रेजी सरकार के चरित्र को समझने के लिए भी इसे एक महत्वपूर्ण दस्तावेज के रूप में देखा जा सकता है। वे कहते हैं कि 'कल्पना कीजिए कि आपके पास एक बीघा जमीन है। उसमें 15 मन अनाज साल में पैदा हुआ उसमें 7 मन महाजन के सूद और मेहनत मजदूरी करके गया। रह गया 8 मन। उस आठ मन में से 4 मन गवर्नमेंट ने ले लिया बाकी सिर्फ 4 मन आपके हाथ लगा अर्थात् एक बीघा जमीन जोतने-बोने की जाफिशानी उठाने का फल आपको चार मन अनाज मिला और गवर्नमेंट ने कुछ भी न करके आधा बंट लिया। वह उसने अपनी जमीन का किराया लिया। यह किराया इतना ज्यादा है कि दुनिया के किसी भी सभ्य देश में इतना नहीं। द्विवेदी के इस उद्धरण में इस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं कि मालगुजारी के रूप में किसानों का जितना दोहन भारत में होता है उतना अन्य किसी भी सभ्य देश में नहीं।

'खेती की बुरी दशा' शीर्षक से जुलाई 1915 में द्विवेदीजी का एक लेख छपा जिसमें उन्होंने इस दुर्दशा के बारे में तो बताया ही लेकिन कृषि विज्ञान की शिक्षा के बारे में और उसे व्यावहारिक प्रशिक्षण से जोड़ने की जरूरत पर भी बल दिया। इस लेख में कहा गया है कि- 'हिंदी उर्दू की रीडरों में लड़के पढ़ते हैं कि मातादीन किसान हल जोत रहा है, मात्र इस कथन से खेती की महत्ता और तत्संबंधी जानकारी बच्चे नहीं प्राप्त कर सकते हैं बल्कि उनका यह मानना है कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश के बच्चों के लिए साधारण शिक्षा के साथ ही साथ कृषि की विशेष शिक्षा दी जानी चाहिए।' अर्थात् यदि एक तरफ किताबी ज्ञान दिए जाएं तो दूसरी ओर व्यावहारिक शिक्षा का प्रबंध भी होना चाहिए।

यहां यह याद रखना ठीक होगा कि 'संपत्ति शास्त्र' पर सोचने लिखने वालों में द्विवेदीजी अकेले

नहीं थे। इन्होंने 'संपत्ति शास्त्र' की भूमिका में स्वयं भी लिखा है कि इनसे पहले पं. गणेश दत्त पाठक की 'अर्थशास्त्रप्रवेशिका' नामक पुस्तक छप चुकी थी और पं. माधवराव सप्रे ने एक पुस्तक लिखी थी जिसे उन्होंने छपवाया नहीं किंतु अपनी हस्तलिखित प्रति द्विवेदीजी को भेज दी थी जिससे द्विवेदीजी को अपनी पुस्तक लिखने में बहुत सहायता मिली। इस ओर भी ध्यान देना चाहिए कि इसके पहले बांग्ला, उर्दू, मराठी, और गुजराती में इस विषय पर कई पुस्तकें आ चुकी थीं और द्विवेदीजी ने अपनी भूमिका में इनका उल्लेख भी किया है। इस अर्थ में द्विवेदीजी का प्रयास और भी महत्वपूर्ण है कि उन्होंने हिंदी की इस कमी को पूरा किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदीजी अपने लेखन में लगभग प्रारंभ से ही लगातार किसान और खेती की समस्याओं पर सजगता से सोचते-लिखते रहे हैं। वे केवल इतना कहकर चुप नहीं होते कि किसान गरीब है या कि उसका शोषण हो रहा है। वे यह कहकर भी चुप नहीं बैठते कि सरकार की जिम्मेदारी किसान को अत्याचार से बचाने की है। वे कृषि को एक व्यवसाय और उद्योग की तरह देखते हैं। उसमें सुधार के लिए समाज तथा प्रशासक की जिम्मेदारी को महत्व देते हैं। वे ऐसी नीतियां बनाने की वकालत करते हैं जिससे खेती की उपज बढ़े, कृषि एक लाभकर और सम्मानजनक व्यवसाय के रूप में सामने आए और देश की पूरी अर्थव्यवस्था में एक सक्षम भूमिका अदा करे। द्विवेदीजी का किसान चिंतन अपेक्षाकृत व्यापक था जिसे किसान के ऊपर अन्याय और किसान संघर्ष के नाम से जाना जाता है उस पर भी उनका चिंतन कई अन्य लेखकों की अपेक्षा बुनियादी है यद्यपि यह उनके संपादक और साहित्यकार रूप के नीचे दब सा गया है।

इस विषय पर द्विवेदीजी की रचना 'अवध के किसानों की बरबादी' को देखा जा सकता है जो 1921 में प्रकाशित हुई थी। इसे उन्होंने अपने नाम से न लिखकर 'एक किसान' के नाम से लिखा था। यह पुस्तक 8 लेखों का संकलन है। इस पर हम विस्तार से बात करेंगे, किन्तु इसके पहले यह जानकारी जरूरी है कि दिसंबर 1924 की सरस्वती में 'किसानों का संगठन' नाम से द्विवेदीजी ने पुनः एक लेख श्रीयुत चक्रपाणि शर्मा के छद्म नाम से लिखकर छपवाया जिसे 'अवध में किसानों की बरबादी' का एक पूरक लेख कहा जा सकता है।

यहां पृष्ठभूमि के रूप में एक तथ्य समझना जरूरी है। हिंदी क्षेत्र में जिन-जिन आंदोलनों का उल्लेख ऊपर आ चुका है वे सभी अलग-अलग जगहों पर लागू व्यवस्थाओं में निहित अत्याचार की उपज थे। बिहार, चूंकि प्रशासनिक रूप से 1912 तक बंगाल का अंग था वहां भूमि व्यवस्था का इस्तमरारी बंदोबस्त (permanent settlement) लागू था जो ईस्ट इंडिया कंपनी के लार्ड कार्नवालिस ने किया था। इसके बावजूद आंदोलनों की जड़ें इस बंदोबस्त में नहीं बल्कि नील की खेती करने वाले उन अंग्रेज जमींदारों द्वारा किए जा रहे अत्याचार में भी थीं जिन्होंने चंपारण क्षेत्र के जमींदारों का लगभग आधा भाग अपने नियंत्रण में कर रखा था जिसे आज उ.प्र. कहते हैं वह तब 'संयुक्त प्रांत 'आगरा' और 'अवध' के नाम से जाना जाता था। इसमें आगरा का क्षेत्र अंग्रेज सरकार के सीधे नियंत्रण में चला आ रहा था। 1801 में लखनऊ के नबाब सहादत अली को जब आसफुदौला के उत्तराधिकारी के रूप में अंग्रेजों ने मान्यता दी तो जिसे आज पूर्वी उत्तर प्रदेश कहा जाता है और जिसमें आज गोरखपुर, बस्ती, बलिया आदि जिले हैं वह क्षेत्र सीधे कंपनी के शासन में आ गया। बनारस और इलाहाबाद पहले से ही कंपनी के अधीन चले आ रहे थे जिसे हम तत्कालीन किसान आंदोलन

के नाम से जानते हैं, वह इन क्षेत्रों में नहीं हुआ।

अवध नबाब वाजिदअली शाह के बाद कंपनी के कब्जे में आया और जिसके लिए अंग्रेजों ने 'ताल्लुकेदारी' व्यवस्था शुरू की। यहां भी समझने की जरूरत है कि अवध के ताल्लुकेदार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के जमींदारी में अंतर था। फैजाबाद जिले का किसान ताल्लुकेदारी व्यवस्था में था और उससे सटे जिले बस्ती का किसान जमींदारी व्यवस्था में था। आंदोलन फैजाबाद में था पर बस्ती में नहीं इन व्यवस्थाओं के सूक्ष्म अंतर की भी पड़ताल की जानी चाहिए।

'अवध के किसानों की बरबादी' के अतिरिक्त अपने अन्य निबंध जैसे 'भारतवर्ष की चौथी मनुष्य गणना', शासन-सुधारों के विषय में रिपोर्ट, विलेज-पंचयात-बिल, म्युनीस्पैलिटीओं का कर्तव्य-पालन, किसानों का संगठन, तथा सरकारी कारनामों, में द्विवेदीजी ने खेतिहर किसान को वाणी दी है। इन निबंधों में न केवल सूचना एवं विश्लेषण है बल्कि उनसे जुड़े सवालों पर द्विवेदीजी की अपनी चिंता भी उभर कर सामने आती है। इस प्रकार के निबंध द्विवेदीजी द्वारा संवेदनशील यथार्थ को ग्रहण करने और उसे प्रस्तुत करने की चुनौतियों को भी उजागर करते हैं। इतने वैविध्यपूर्ण लेखन के बावजूद समाजशास्त्रीय अनुशासन की कोटियों का उपयोग न करते हुए भी द्विवेदीजी ने हिंदी मानस के आयाम को विस्तारित किया है। उनके द्वारा किसानों और किसानों की गई व्याख्या और उससे संबंधित कई प्रश्न आज भी मौजूद और प्रासंगिक हैं पर हिंदी सर्जनात्मक साहित्य ने किनारा कर लिया है। यह तब है जब आज के साहित्य को अधिक दायित्वबोध से जोड़ा जाता है और स्वानुभूति तथा सहानुभूति के साथ-साथ भोगे हुए यथार्थ पर साहित्य में बहस तो जारी है उसका स्वर और संबोध्य कुछ और हो चला है।

यद्यपि द्विवेदीजी का किसान समस्या पर लेखन उनकी साहित्य सेवा के अन्य पक्षों की तुलना में दबा रह गया किंतु ध्यान देने पर मालूम होता है कि शुरू से आखिर तक वे इस समस्या पर सोचते और लिखते रहे। साथ ही उनकी दृष्टि व्यापक और पैनी थी। वह यह तो चाहते ही थे कि किसान का लगान और मालगुजारी कम हो उससे बेगार न ली जाए और उसका शोषण न हो साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि कृषि की उपज बढ़े और किसान को समस्त आवश्यक सहयोग सरकार मुहैया कराए। यह कहना कठिन है कि द्विवेदीजी ने किसान और किसानों पर जो लेखन किया उसका प्रभाव परवर्ती या समवर्ती लेखकों पर कहां तक और कितना पड़ा।

द्विवेदीजी अपने आप में एक रचनात्मक संस्था या आंदोलन की तरह उपस्थित होते हैं जिसका जुड़ाव जमीनी हकीकत से रहता है और यही लगाव द्विवेदीजी को अन्य साहित्यकारों से अलग और विशिष्ट रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित करता है। वे किसी वाद से न जुड़कर भी साहित्य में सामाजिकता, मनुष्यता और सहज नागरिकता की भावना को प्रवर्तित करते हैं।



हिंदी के युग प्रवर्तक संपादक आचार्य द्विवेदी

अख्तर आलम

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का सार्वजनिक जीवन हमेशा सृजन की धार से भरापूर रहा लेकिन निजी और व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने काफी संघर्ष किए, या यूं कहे कि संघर्ष के जरिए उन्होंने सृजन के रास्ते बनाए। द्विवेदीजी ने रेलवे की 200 रुपये मासिक की नौकरी छोड़कर 20 रुपये मासिक पर 'सरस्वती' के संपादक के रूप में कार्य करने का उत्तरदायित्व संभाला था। उस समय में यह कोई मामूली फैसला नहीं था और यह बताता है कि उनके मन में रचना प्रक्रिया को लेकर कितनी बेचैनी और इच्छाशक्ति थी। द्विवेदीजी ने हिंदी सेवा की दृष्टि से 'सरस्वती' का संपादन स्वीकार किया था। उन्होंने 'सरस्वती' का दायित्व संभालने पर अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किए और सार्वजनिक तौर पर अपने संकल्पों को प्रस्तुत भी किया ताकि दूसरे भी उसी राह पर चल सकने को तैयार हो-

1. वक्त की पाबंदी करूंगा।
2. मालिकों का विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करूंगा।
3. अपने हानि लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि- लाभ का सदा ख्याल रखूंगा।
4. न्याय पक्ष से कभी न विचलित होऊंगा।

द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के संबंध में जो लक्ष्य रखे थे उनका पालन अपने संपादक के अंतिम क्षण तक वे करते रहे। चाहे पूरा का पूरा अंक उन्हें ही क्यों न लिखना पड़ा हो। उन्होंने अपने लाभ और हानि की चिंता न कर हमेशा पाठकों का ख्याल रखा।

द्विवेदीजी ने जनवरी 1903 में 'सरस्वती' के संपादन की जिम्मेदारी ली और दिसंबर 1920 तक बड़ी ही निष्ठा, लगन, धैर्य, साहस, कुशलता और ईमानदारी के साथ संपादन कार्य करते रहे। उनकी कर्तव्यनिष्ठा और साहस का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि बड़े से बड़े प्रलोभनों के सामने वे झुके नहीं और न ही अपने कर्तव्य से विचलित हुए। द्विवेदीजी ने हमेशा पाठकों की रूचि का ध्यान रखा। उन्होंने कभी भी अपने हानि-लाभ की परवाह नहीं की। 'सरस्वती' उस समय अन्य पत्रिकाओं की रानी ही नहीं बल्कि पाठकों की सेविका भी थी। द्विवेदीजी के समय 'सरस्वती' में कुछ छपवाना या किसी के जीवन चरित आदि को प्रकाशित करना बड़ी बात समझी जाती थी। ऐसी अवस्था द्विवेदीजी को कोई कहता- 'मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूंगा।' कोई लिखता- 'अमुक सभा में दी गई अमुक सभापति की स्पीच छाप दो, मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूंगा' परंतु ये प्रलोभन भी द्विवेदीजी को उनके आदर्शों के प्रतिकूल कार्य न करा सके। उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका

का के संपादन के माध्यम से एक ऐसा आदर्श स्थापित किया कि उस काल को हिंदी साहित्य के इतिहास में 'द्विवेदी-युग' के नाम से ही जाना जाने लगा।

आचार्य द्विवेदी हिंदी के युग प्रवर्तक पत्रकार थे। उनके संपादन कौशल के विषय में विष्णुराव पराड़कर ने लिखा है कि 'मेरे विचार से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्व उनके संपादन कौशल में है। वैसे तो स्कूल कॉलेज में रहते हुए भी मैं 'सरस्वती' पढ़ा करता था परंतु सन 1906 में जब स्वयं मैंने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया तो प्रति माह 'सरस्वती' का अध्ययन करना मेरा एक कर्तव्य हो गया और यह सिलसिला सन 1915 के अंत तक ज्यों का त्यों बना रहा।' पराड़कर आगे कहते हैं कि 'मैं 'सरस्वती' संपादन सीखने के लिए पढ़ा करता था।' 'प्रताप' पत्र के संपादक गणेश शंकर 'विद्यार्थी' भी द्विवेदी के प्रशंसक थे और उन्हें अपना गुरु मानते थे। उनके व्यक्तित्व के बारे में आचार्य किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है, 'उनके सुदृढ़ विशाल और भव्य कलेवर को देखकर दर्शक पर सहसा सुखद आतंक छा जाता था और यह प्रतीत होने लगता था कि मैं एक महान ज्ञानराशि के नीचे आ गया हूं।' उनकी प्रतिभा का लोहा मानते हुए और द्विवेदीजी के महत्व को प्रतिपादित करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है 'द्विवेदीजी ने अपने साहित्य जीवन के आरंभ में पहला काम यह किया कि उन्होंने अर्थशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने जो पुस्तक बड़ी मेहनत से लिखी और जो आकार में उनकी और पुस्तकों से बड़ी है, वह 'संपत्तिशास्त्र' है। अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के कारण द्विवेदीजी बहुत-से विषयों पर ऐसी टिप्पणियां लिख सके जो विशुद्ध साहित्य की सीमाएं लांघ जाती हैं।

प्रेमचंद ने तो वर्ष 1933 में द्विवेदीजी पर 'हंस' का विशेषांक ही निकाला था। अप्रैल और मई माह के दोनों ही अंक द्विवेदीजी पर केंद्रित थे। प्रेमचंद 'हंस' के संपादकीय में लिखते हैं कि 'आज हम जो कुछ भी हैं, उन्हीं के बनाए हुए हैं। यदि पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी न होते तो बेचारी हिंदी कोसों पीछे होती। सम्मुन्नति की इस सीमा तक उसे आने का मौका ही नहीं मिलता। उन्होंने हमारे लिए पथ भी बनाया और पथ प्रदर्शक का काम भी किया।' आचार्य द्विवेदी के बारे में ऐसी टिप्पणियां प्रायः साहित्यकारों ने की हैं और वे मानते रहे हैं कि द्विवेदीजी हिंदी की दुनिया में न आए होते तो हिंदी का स्वरूप आज ऐसा नहीं होता। साथ ही इस बात पर भी गौर करने की जरूरत है कि हिंदी में साहित्य के अलावा दूसरे जरूरी विषयों को समावेशित करने और उसे मूल रूप से स्थापित करने का श्रेय भी द्विवेदीजी को जाता है।

सच कहा जाए तो द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' को ज्ञान की पत्रिका बना दिया था। 'सरस्वती' शुद्ध साहित्यिक पत्रिका नहीं थी, उसमें विज्ञान, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, आध्यात्म, दर्शन आदि विभिन्न विषयों के लेख प्रकाशित होते थे। सरस्वती में प्रकाशित स्तंभ (निम्न विषयों पर) हुआ करते थे-

1. विविध विषय (संपादकीय)
2. आख्यिका
3. ऐतिहासिक विषय
4. कविता
5. जीवन चरित
6. देश, नगर

7. फुटकर विषय
8. विचित्र विषय
9. विज्ञान विषय
10. साहित्य विषय

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त कभी-कभार एक-आध विषय बढ़ भी जाया करते थे लेकिन सामान्यतया इन्हीं स्तंभों के अंतर्गत उपर्युक्त सामग्री का चयन और संयोजन होता था। विविध विषय के अंतर्गत साहित्यिक टिप्पणी के साथ-साथ तत्कालीन किसी वैज्ञानिक अनुसंधान, भौगोलिक परिवर्तन, किसी नवीन ऐतिहासिक खोज और किसी किसी महत्वपूर्ण राजनैतिक उथल-पुथल का संक्षिप्त विवरण भी प्रस्तुत किया जाता था, जिससे पाठकों को नई सूचनाएं मिलती थीं और दुनिया की प्रगति का ज्ञान भी प्राप्त होता था।

‘सरस्वती’ में केवल विषयों का वैविध्य ही नहीं था, भाषा के प्रति भी उसका दृष्टिकोण एक सतर्क एवं सावधान संपादक का था। भाषागत त्रुटियां उसमें नहीं होती थीं। द्विवेदीजी ने 1 जनवरी 1910 की ‘सरस्वती’ के संपादकीय में स्वयं स्वीकार किया कि 50-60 पृष्ठों वाली मासिक पत्रिका के 40-50 पृष्ठ उन्हें कानपुर के जूही के मैदान में रहकर लिखने पड़े हैं। एक अंक को छोड़कर कभी ‘सरस्वती’ का प्रकाशन देर से नहीं हुआ। ‘सरस्वती’ के लिए कहा जाता है कि यदि उसके सारे अंकों को एक साथ इक्कट्टा कर दिया जाए तो एक विश्व कोश बन जाएगा। ‘सरस्वती’ में प्रकाशित निबंधों में कुछ इस प्रकार के निबंध छपते थे-

- अफ्रीका के सर्पाकार जंगली मनुष्य
- पेरू का प्राचीन मंदिर
- इंग्लैंड की चित्र कला
- मंगल ग्रह के निवासियों से बातचीत की संभावना
- मृत्यु के बाद की घटनाएं
- हिंदुस्तान के वस्त्र व्यवसाय
- प्राचीन भारत के तोप और बंदूक
- सुकरात तथा प्लेटो का दार्शनिक विचार
- तमिल भाषा का वृहद कोष

इन थोड़े से निबंधों को सामने रखकर देखा जाए तो मालूम हो जाएगा कि ज्ञान के कितने स्रोतों से सामग्री लेकर ‘सरस्वती’ में द्विवेदीजी प्रकाशित करते थे। द्विवेदीजी के अनुसार ज्ञान साहित्य का संचित कोष ही साहित्य है। इसी आदर्श को ध्यान में रखकर वे ‘सरस्वती’ का संपादन करके इसे समृद्ध बना रहे थे। आज के संदर्भ में भी देखें तो हिंदी साहित्य में सबसे बड़ी चुनौती साहित्येत्तर विषयों की प्रस्तुति की है, जिसका रास्ता आचार्य द्विवेदी ने वर्षों पहले ‘सरस्वती’ के जरिए दिखाया था। जरूरत बस उस रास्ते को और विस्तारित कर चलने की है।

‘सरस्वती’ की दूसरी बड़ी विशेषता यह थी कि हिंदी साहित्य की सभी विधाओं का विकास ‘सरस्वती’ के माध्यम से ही हुआ। खड़ी बोली हिंदी को परिष्कृत करके उसे काव्य भाषा बनाने में ‘सरस्वती’ का योगदान अविस्मरणीय है। मैथिली शरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय ‘हरिऔध’, राय

देवीप्रसाद पूर्ण, गोपाल शरण सिंह, गया प्रसाद शुक्ल 'स्नेही', राम नरेश त्रिपाठी आदि कवियों की रचनाएं प्रकाशित करके उन्होंने प्रमाणित कर दिया कि खड़ी बोली हिंदी में भी उत्तम कोटि की कविता लिखी जा सकती है।

हिंदी में कहानियों का विकास भी द्विवेदीजी के संपादन में निकलनेवाली 'सरस्वती' के माध्यम से ही हुआ। गुलेरीजी की कहानी 'उसने कहा था', प्रेमचंद की कहानी 'शव' तथा वृंदावन लाल वर्मा की कहानी 'राखीबंद भाई' सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। इन्हीं कहानियों से ही हिंदी कहानी का आरंभ माना जाता है। इसी प्रकार निबंध एवं आलोचना के विकास में भी 'सरस्वती' का योगदान अविस्मरणीय है। आलोचक के रूप में 'रीति' के स्थान पर आचार्य द्विवेदी ने उपादेयता, लोक-हित, उद्देश्य की गंभीरता, शैली की नवीनता और निर्दोषिता को काव्योत्कृष्टता की कसौटी के रूप में प्रतिष्ठित किया। इनकी आलोचनाओं से लोक-रुचि बढ़ी। काव्य के प्रति नयी चेतना व विवेक का विकास हुआ। इन्होंने नवीन लेखकों और कवियों को भी खूब प्रोत्साहित किया। उनकी इस सहृदयता के गवाह राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त भी थे और इसी कारण वे इन्हें अपना गुरु भी मानते थे। वे कहते थे कि 'मेरी उल्टी-सीधी प्रारंभिक रचनाओं का पूर्ण शोधन करके उन्हें 'सरस्वती' में प्रकाशित करना और पत्र द्वारा मेरे उत्साह को बढ़ाना द्विवेदी महाराज का ही काम था।' द्विवेदीजी पत्रिका के प्रति समर्पित तो थे ही इन्होंने इसे दोषरहित, सरस, उपयोगी और नियमित भी बनाया भाषा के सौंदर्य और मूल भाषा की रक्षा को वे सर्वाधिक महत्त्व दिया करते थे।

द्विवेदीजी को इस बात का ध्यान रहता था कि 'सरस्वती' का स्तर एक राष्ट्रीय पत्रिका का स्तर हो। इसके लिए वे अन्य भाषा में प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं को भी बराबर सामने रखते थे। बांग्ला पत्रिका 'प्रवासी', और मराठी में निकलनेवाली 'महाराष्ट्र कोकिला' जैसी पत्रिकाओं से द्विवेदीजी थोड़ा-बहुत प्रभावित थे। द्विवेदीजी बांग्ला पत्रिका 'प्रवासी' से प्रभावित तो थे ही उसके संपादक रामानंद चटर्जी से विशेष लगाव रखते थे तथा उन्हें अपना गुरु मानते थे। संपादकीय लिखने की कला द्विवेदीजी ने उन्हीं से सीखी थी। उन्हींने किसी भी पत्रिका या व्यक्ति का अधानुकरण नहीं किया। सभी से मूल्यवान तत्व लेकर वे सरस्वती को संवारते थे। संपादक के रूप में द्विवेदीजी छद्म नामों से भी लिखते थे। उनके छद्म नाम हैं- कल्लू, अल्हीत, गजानन, गणेश गर्वखड़े, पर्यालोचक, कमल किशोर त्रिपाठी आदि। मई, 1933 ई. में नागरी प्रचारिणी सभा ने उनकी सत्तरवीं वर्षगांठ पर बनारस में एक बड़ा साहित्यिक आयोजन कर द्विवेदी का अभिनंदन किया था उनके सम्मान में द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन कर, उन्हें समर्पित किया गया था। इसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी को सम्मानित करने के लिए पूरा हिंदी जगत उमड़ पड़ा था। महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी के पहले ऐसे साहित्यकार थे जिन्हें आचार्य की उपाधि दी गयी थी। इसके पहले संस्कृत में ही आचार्य की परंपरा थी। सन 1903 में जब द्विवेदीजी 'सरस्वती' के संपादक हुए तो उसी वर्ष उन्होंने व्यंग्य-चित्रों द्वारा लेखकों, संपादकों, कवियों, उपन्यासकारों और हिंदी के उपेक्षकों पर करारी चोट की। द्विवेदीजी के व्यंग्य चित्र कुछ इस प्रकार हुआ करते थे- 'कविता कुटुंब पर विपत्ति', 'साहित्यी सभा', 'मातृ-भाषा का सरकार', 'नायिका भेद के कवि और उनके पुरस्कर्ता राजा', 'कला सर्वज्ञ संपादक', 'काशी का साहित्य-वृक्ष', 'शूरवीर समालोचक', 'मदरसों में प्रकाशित पुस्तक-प्रणेता और हिंदी', 'चातकी की चरमलीला।' इस तरह हम कह सकते हैं कि द्विवेदीजी साहित्य तथा समाज की विकृतियों को व्यंग्य

के सहारे हँसने-हँसाने योग्य बनाकर समाने लाए। उन्होंने व्यंग्य के माध्यम से हिंदी साहित्य की विकृतियां दूर करने का प्रयास किया।

इस प्रकार द्विवेदीजी न केवल 'सरस्वती' का कायाकल्प करने में सफल होते हैं बल्कि अपने लगन, सच्चाई, परिश्रम और त्याग के बल पर हिंदी भाषा को समृद्ध और परिष्कृत भी करते थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से जो कार्य किया वह हिंदी साहित्य की बहुत बड़ी उपलब्धि है। द्विवेदीजी ने जिस आस्था और विश्वास के साथ 18 वर्षों तक वे संपादक का कार्य करते रहे वह उनके धैर्य, आत्मविश्वास, कर्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी का सबसे बड़ा सबूत है। 'सरस्वती' के माध्यम से द्विवेदीजी ने न केवल हिंदी पत्रकारिता को एक नयी दिशा प्रदान की बल्कि हिंदी और हिंदुस्तान की चेतना को जागृत भी किया।

संदर्भ :

1. सिंह डॉ. धीरेंद्र नाथ, हिंदी पत्रकारिता भारतेंदु पूर्व से छायावादोत्तर काल तक, प्रथम संस्करण (2003), विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी
2. चतुर्वेदी, जगदीश प्रसाद, हिंदी पत्रकारिता का इतिहास, संस्करण 2009, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली 110002
3. श्रीधर, विजय दत्त, भारतीय पत्रकारिता कोश, प्रथम संस्करण (2008), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 110002
4. त्रिपाठी, रमेश चंद्र, पत्रकारिता सिद्धांत एवम स्वरूप, संस्करण (1995), राधा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली
5. यायावर, भारत (2008), महावीर प्रसाद द्विवेदी रचना संचयन, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
6. यायावर, भारत (2003), महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्व, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली.
7. शर्मा, रामविलास (2008) महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली



महावीर प्रसाद द्विवेदी का चिंतन और स्त्री

भावना मासीवाल

महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखन की शुरुआत गुलाम भारत में होती है। भारत उस समय बाह्य और भीतरी गुलामी से घिरा था। बाह्य गुलामी थी औपनिवेशिक शासन यानी अंग्रेजों की और भीतरी थी परंपरा, जातीयता और वर्गीय गुलामी की। गुलामी की यह मानसिकता उस समय के समाज में स्त्रियों के संदर्भ में भी रही। सदियों से दबाकर रखी गई स्त्रियों में उस समय अपने अधिकारों की चेतना बहुत कम थी। उस समय अंग्रेजी शासन व्यवस्था के परिणामस्वरूप जो नया शिक्षित वर्ग उभरता है वह भारत की गुलामी के कारणों को जानने लगता है और सुधार की प्रक्रिया को अपनाता है। राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, ईश्वरचंद विद्यासागर, केशवचंद सेन से लेकर ऐनी बेसेंट, पंडिता रमाबाई, सावित्रीबाई फुले, रमाबाई रानाडे, आनंदीबाई जोशी, एनी जगन्नाथन और रूक्माबाई आदि प्रमुख स्त्री सुधारक रहे।

भारत में स्त्री चेतना की यह लहर केवल सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक स्तर पर ही नहीं थी बल्कि साहित्य में भी इसकी गूंज सुनाई देती है। साहित्य के जरिए स्त्री चेतना को बढ़ाने का काम 1874 में भारतेंदु अपनी पत्रिका 'बालाबोधिनी' में करते हैं तो उससे पहले 'देवरानी-जेठानी की कहानी' उपन्यास के द्वारा पंडित गौरीदत्त 1870 में इसकी शुरुआत करते देखे जाते हैं। 1877 में श्रद्धाराम फुल्लौरी 'भाग्यवती' के जरिए स्त्री शिक्षा पर केंद्रित उपन्यास लिखते हैं जिसे उस समय स्त्री शिक्षा के पाठ्यक्रम में भी लगाया जाता है। नवजागरण काल में स्त्री चेतना का जो प्रवाह चला वह स्त्री अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों की बात करता था। वह परिवार में आदर्श बेटी, बहू, पत्नी की बात करता है और पश्चिम की स्त्री के तर्ज पर भारतीय स्त्री की कल्पना को नकारता था। यह युग सुधार का था परंतु यहां सामाजिक स्थितियों में सुधार की बजाय स्त्रियों को सुधारने की बात अधिक हुई जिसे नील देवी नाटक में भारतेंदु के वक्तव्य से जाना जा सकता है।

द्विवेदीजी का समय पुनर्जागरण व सुधार का समय रहा। स्त्रियां यहां जागरूक हो रही थीं और जागरूकता लाने का प्रयास भी कर रही थीं। इतना ही नहीं लेखन में भी सक्रिय होकर लिखना आरंभ कर चुकी थीं। 1865 में रसा सुंदरी देवी की 'अमार जीवन' बांग्ला भाषा में लिखी गई भारतीय साहित्य की पहली स्त्री कथा है जिसके बाद 1882 में बंगाल की मोक्षदायिनी मुखोपाध्याय का कविता संग्रह 'बनप्रसून' आता है तो 1882 में ही ताराबाई शिंदे की 'स्त्री-पुरुष तुलना'। 1907 में बंग महिला के नाम से जानी गई 'राजेन्द्र बाला घोष' की कहानी 'दुलाईवाली' और शिवरानी देवी की कहानी 'साहस' इसी कड़ी के प्रमुख नाम हैं जो साहित्य में 'सरस्वती' के माध्यम से सामने आती हैं। भारत

में स्त्री चेतना का आंदोलन तीन रूपों में सामने आता है। पहला इतिहास और पुराण के संदर्भों में दूसरा यूरोप में स्त्री आंदोलन के रूप में तीसरा भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में जिसका जिक्र वीरभारत तलवार भी करते हैं और जिसे द्विवेदी के चिंतन व लेखन में भी देखा जा सकता है। नवजागरण काल में चेतना का जितना प्रवाह भारतेंदु के समय देखा गया द्विवेदी के समय भी उसका अभाव न था बल्कि कहा जाए तो अधिक परिष्कृत होकर सामने आता है। स्त्री शिक्षा, विधवा पुनर्विवाह, सती प्रथा, रीतिकालीन संकुचित मानसिकता जैसी सामाजिक कृतियों पर तो यह बात करते ही हैं साथ ही स्त्री अधिकार और स्त्री-पुरुष समानता के मुद्दों पर भी कलम चलाते हैं।

द्विवेदीजी ने पहली चोट रीतिकालीन मनोवृत्ति पर की। नारी जहां महज शरीर मात्र थी जिसकी चेष्टाओं, हाव-भावों को देख कवि का नायिका भेद का ग्रंथ लिख देना आम था। इस रीतिकालीन रुग्ण मनोवृत्ति का द्विवेदी युग लेखक व कवियों पर भी गहरा प्रभाव रहा। 'रसज्ञ रंजन' में 'नायिका भेद साहित्यिक विचार' में वह कहते हैं- 'राजाश्रय मिलने की देरी, राजाओं को सब प्रकार की नायिकाओं के रसास्वादन का आनंद चखाने के लिए कवि ने देरी नहीं की। 10 वर्ष की अज्ञात यौवना से लेकर 50 वर्ष की प्रौढ़ा तक के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद बतलाकर और उनके हाव भाव, विलास आदि की सारी दिनचर्या वर्णन करके ही कविजन संतोष नहीं करते थे। दुराचार के लिए दूती कैसी होनी चाहिए; मालिन, नाइन, धोबिन इत्यादि में से इस काम के लिए कौन सबसे अधिक प्रवीण होती है, इन बातों का भी निर्णय करते थे।'¹ नायिका भेद में रीतिकालीन सामंती मानसिकता व समाज की सत्यता से पलायन की प्रवृत्ति का वह विरोध करते हैं और समाज के लिए उसे हानिकारक ठहराते हैं। इस सत्य और तथ्य से वाकिफ करवाते हैं कि स्त्री संबंधी सामंती चिंतन में भोग्या व वस्तु समझे जाने की मानसिकता हिंदी क्षेत्र में ही सर्वाधिक रही। अन्य बांग्ला, मराठी, गुजराती भाषाओं के साहित्य में हिंदी जैसी सामंती व्यवस्था का वर्चस्व नहीं था।

द्विवेदीजी का उद्देश्य इस रूढ़ हो चुकी स्त्री विरोधी सामंती मानसिकता को खत्म करना था। साहित्य में जिसके लिए वह कुछ मानदंडों का चयन करते हैं और शील व अश्लील साहित्य के विचार को सामने लाते हैं। इसी के चलते निराला की 'जूही की कली' को अश्लील साहित्य कह कर सरस्वती से खारिज कर दिया जाता है। अपने लेखन के प्रति भी द्विवेदी अधिक सतर्क रहे इसी कारण बाइरन की पुस्तक 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद 'सोहागरात' लिखने पर अपने आत्म-निवेदन में वह माफी मांगते हैं और उसका नाम लेना भी - 'अपने बूढ़े मुंह के भीतर धंसी हुई जबान से, आपके सामने, उस नाम का उल्लेख करते मुझे बड़ी लज्जा मालूम होगी। पर पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए, आप, पंचसमाजरूपी परमेश्वर, के सामने, शुद्ध हृदय से, उसका निर्देश करना ही पड़ेगा। अच्छा तो उसका नाम था या है-सोहागरात'²। द्विवेदी का साहित्य के प्रति यह नजरिया तत्कालीन समाज की आवश्यकता कही जा सकती है।

वह समय सुधारवादी नीतियों का भी रहा और अधिकारों का भी। समाज में स्त्री समस्याओं में बाल विवाह और विधवा पुनर्विवाह की समस्या सबसे बड़ी थी। पैदा होते ही लड़की का विवाह कर दिया जाता और सात-आठ वर्ष की आयु तक वह विधवा हो जाती। स्त्री के समक्ष केवल दो ही रास्ते रखे जाते या तो वह सती हो जाए अन्यथा आजीवन वैधव्य भोगे। सती प्रथा जैसी सामाजिक कुरीति भी इस समय अपने चरम पर थी जहां पति के मरते ही उसके साथ सती होना गौरव था तो विधवा

होकर रहना अभिशाप। द्विवेदी 'पुराना सती संवाद' समीक्षात्मक लेख में 17 वीं शताब्दी से तत्कालीन समाज में सती प्रथा की भारत में वास्तविकता को बताते हैं। स्त्री होने के दंश व आतंक के बीच समाज का एक दूसरा पक्ष भी रहा जहां पत्नी के मर जाने पर पति के दुबारा विवाह पर कोई आपत्ति नहीं थी। समाज में स्त्री-पुरुष अधिकारों का असमान विभाजन था जिसका विरोध ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने किया और 1850 में विधवा 'पुनर्विवाह' पर लगे प्रतिबंध को समाप्त करने का अभियान चलाया। धर्मशास्त्रों और पुराणों के पुनर्विवाह को सही ठहराया। महावीर प्रसाद द्विवेदी भी विधवा पुनर्विवाह के हिमायती रहे उन्होंने ईश्वरचंद्र विद्यासागर की 1875 में प्रकाशित पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश की समीक्षा 'विधवा विवाह मीमांसा' शीर्षक से 'सरस्वती' में लिखी और कहा कि-'उन्होंने युक्ति और तर्क से विधवाओं के पुनरुद्धार की आवश्यकता बताई और ऐसा करने के लिए शास्त्रीय प्रमाण भी दिए। उन्होंने अपने अन्य कई मित्रों के सहयोग से ऐसा प्रबंध किया कि विधवा विवाह कानूनन जायज मान लिया गया'³। द्विवेदी अपने लेखन से स्त्री समस्याओं को उठा रहे थे साथ ही धर्म के नाम फैले व्यभिचार को भी। ईश्वर के नाम पर जहां मंदिरों को दुराचार का केंद्र बनाया जा चुका था और विधवाओं को ईश्वर भक्ति के नाम पर जबर्दस्ती उस व्यभिचार का पात्र बनाया जा रहा था, जिसके कारण समाज विधवा विवाह का विरोध करता है। द्विवेदी विधवाओं की इस व्यथा को कविता के जरिए भी आमजन तक पहुंचाते हैं- 'गर्भप्रपात कत हा! विधवा न कीन्हा?/ काहे न जन्मतहि मो कहै मृत्यु चिन्हा?/ रोगदिहु न अबलौ मम जीव लीन्हा/रे देव निष्करुण! दुःसह दुःख दीन्हा'⁴। 'बाल विधवा विलाप' कविता में एक बाल विधवा समाज की इस कुरीति का शिकार होती है और समाज को इस दुःख का कारण मानते हुए पैदा होते ही मार देने की बात करती है ताकि इस वैधव्य के दुःख से मुक्त हो सके।

द्विवेदीजी के समय की स्त्री इतिहास और पुराणों सरीखे धर्म ग्रंथों का विरोध करती है। एक ओर जहां स्त्री को देवी माना तो दूसरी ओर दंड का अधिकारी। 'कान्यकुब्ज-अबला विलाप' कविता की स्त्री रामचरितमानस में तुलसीदास की स्त्री विरोधी उक्ति 'ढोल गंवार शुद्र पशु नारी/ ये सब ताडन के अधिकारी' का विरोध करती नजर आती हैं और कहती हैं-'महा मलिन से मलिन काम हम करती रहती हैं दिन रात/दुखी देख पति, पिता पुत्र को व्याकुल हो कृश करती गात/ हे भगवान, हाय! तिस पर भी उपमा कैसी पाती हैं/ ढोल-तुल्य ताडन अधिकारी हम बतलाई जाती।' ⁵ द्विवेदी का चिंतन वैज्ञानिक दृष्टिकोण लिए था जो रूढ़िवादी मानसिकता का खंडन करता है और प्राचीन उपलब्धियों वेदों व शास्त्रों का पुनर्मूल्यांकन। द्विवेदीजी की अनूदित पुस्तकों व उनकी आलोचनाओं में भी इसे देखा जा सकता है। 1899 में श्री हर्ष के महाकाव्य 'नैषधीय चरितम' के अंश पर वह 'श्री हर्ष का कलयुग' अलोचनात्मक लेख लिखते हैं जिसमें वेदों के सामाजिक विरोध व समय के साथ इनमें बदलाव की बात करते हैं- 'वेदों में बहुत पुराने जमाने की रूढ़ियों का उल्लेख है। वे रूढ़ियां उस समय जायज थी। जन-समुदाय उन्हें सुदृष्टि से देखता था। आजकल वे कुदृष्टि से देखी जाती हैं'। द्विवेदी स्त्री संबंधी परंपरागत रूढ़ियों का भी खंडन करते हैं जिनमें माना गया कि यदि स्त्री अपनी इच्छा से विवाह करती है तो कुल का नाश होता है। समाज ने अपने कुल की रक्षा के नाम पर ही स्त्रियों के लिए परम्परा और रिवाजों का निर्माण किया और स्त्री को उसमें कैद। द्विवेदी लिखते हैं 'अरे भले आदमियों, स्मरांधता जैसे नरों को पीड़ित करती है वैसे ही नारियों को भी। तिस पर भी

तुम लोग ईर्ष्याविश नारियों की रक्षा के लिए तो बड़े-बड़े ढोंग रचते हो, पर नरों की रक्षा की रत्ती भर भी परवा नहीं करते। कुल स्थिति को अक्षुण्ण रखने का दंभ करने वाले तुम जैसों को हजार बार धिक्कार!'⁶ द्विवेदी धर्म को स्त्री के विकास में बाधक के रूप में देखते हैं जिसके अधिकांश नियम स्त्री विरोधी रहे। वह लिखते हैं- 'अश्वमेघ-यज्ञ में, यजमान की पत्नी को, अश्व के प्रजोत्पादक' अंग से, अपने अवयव-विशेष का संस्पर्श कराना पड़ता है।..जिन वेदों में इस तरह की बातें हैं उनका करता ईश्वर कदापि नहीं हो सकता। हां, किसी भांड ने उन्हें बनाया हो सकता है'⁷। द्विवेदी इसी कारण वेदों, पुराणों और अन्य धार्मिक ग्रन्थों की आज के समय में पुनर्व्याख्या की बात करते हैं।

द्विवेदीजी स्त्री-पुरुष दोनों के लिए शिक्षा अनिवार्य मानते हैं और जब तक दोनों शिक्षित नहीं होंगे तब तक देश का विकास संभव नहीं इस सोच के साथ स्त्री शिक्षा पर प्रांतीय और राष्ट्रीय स्तर पर अपनाई गई ठंडी नीतियों की आलोचना करते हैं। 'मां-बाप का कर्तव्य' शीर्षक लेख में वह परिवार के भीतर माता-पिता को कर्तव्य रूप में स्त्री शिक्षा का पाठ याद कराते हैं तो दूसरी ओर 'स्त्री शिक्षा की आलोचना' लेख में समाज की शिक्षा नीतियों की कमियों की। 'समाज में लड़कों के लिए 14,741 मदरसे थे तो 967 लड़कियों के लिए....लड़कों के प्रति 15 मदरसों के मुकाबले में लड़कियों का सिर्फ 1 मदरसा'⁸, वह भी प्रायमरी स्तर तक। आगे की शिक्षा का अधिक प्रावधान इन मदरसों में लड़कियों के लिए नहीं था। स्त्री शिक्षा के प्रति समाज की भूमिका में महादेवी वर्मा के देहरादून स्थित कन्याविद्यालय का जिक्र वह करते हैं जो स्त्री शिक्षा के प्रति समर्पित था।

द्विवेदी स्त्री शिक्षा के प्रति जागरूक सुधारक रहे इसी कारण जब समाज का पढ़ा-लिखा शिक्षित वर्ग अपने वैदिक कुतर्कों से स्त्री शिक्षा का विरोध करता उन्हें नजर आया तो तीखी प्रतिक्रिया स्वरूप 'पढ़े लिखों का पांडित्य' नाम से 'सरस्वती' में आलोचनात्मक निबंध लिखते हैं जो बाद में स्त्री-शिक्षा के विरोधी कुतर्कों का खंडन शीर्षक लेख रूप में 'महिला मोद' पुस्तक में आता है। 'अत्रि की पत्नी-धर्म पर व्याख्या देते समय घंटों पांडित्य प्रकट करे, गार्गी बड़े-बड़े ब्रह्मवादियों को हरा दे, मंडन मिश्र की सह-धर्मचारिणी शंकराचार्य के छक्के छुटा दे! गजब! इससे अधिक भयंकर बात और क्या हो सकेगी! यह सब पापी पढ़ने का अपराध है। न वे पढ़तीं, न वे पूजनीय पुरुषों का मुकाबला करतीं। यह सारा दुराचार स्त्रियों को पढ़ाने ही का कुफल है। समझे! एम.ए., बी.ए., शास्त्री और आचार्य होकर पुरुष जो स्त्रियों को हंटर फटकारते हैं और डंडों से उनकी खबर लेते हैं वह सारा सदाचार पुरुषों की पढाई का सुफल है!'⁹ स्त्री शिक्षा व चेतना संबंधी सरस्वती के लेखों के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने कविताएं भी लिखीं। 1905 में काशी में महिला परिषद के जलसे दौरान भारत की महिलाओं को संबोधित करते हैं और अशिक्षा को भारतवर्ष की गुलामी का कारण बताते हैं- 'प्यारा है सबसे हमको हिन्दुस्थान हमारा/ सुख दुःख में हमेशा मेहरबान हमारा/ विद्या नहीं है, बल नहीं है, धन भी नहीं है/ क्या से हुआ है क्या यह गुलिस्तान हमारा/ पढ़ती थी वेद तक जहां महिला सदैव ही/ नारी समूह है वहीं अज्ञान हमारा/ विद्या धनों का मूल है पर उस तरफ बहन /अब तक गया नहीं है कभी ध्यान हमारा/ आओ करें प्रयत्न आज से लगा के दिल/बढ़ जाए जिससे ज्ञान और मान हमारा/ विद्या बिना स्वदेश की सेवा न हो सके/ विद्या से ही है सब तरह कल्याण हमारा'¹⁰। द्विवेदी की कविता भारत की स्त्रियों को शिक्षा के अधिकार को प्राप्त करने के लिए संबोधित करती है जहां एक समय था कि मैत्रेयी और गार्गी जैसी स्त्रियां वेदों और शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन किया करती थी और आज

अक्षर ज्ञान से भी वंचित है।

द्विवेदीजी ने भारत में स्त्री शिक्षा की अनिवार्यता को तो बताया ही साथ ही वैश्विक पटल पर स्त्री चेतना के आंदोलन में कैसे प्रगति हो रही है उसका परिचय भी दिया। 1903 में 'अमेरिका की स्त्रियाँ' पर अपनी छोटी सी टिप्पणी के जरिए भारतीयों को स्त्री शिक्षा की ओर प्रेरित करते हैं और लिखते हैं 'अमेरिका में व्यवसायी स्त्रियों की संख्या सभी देशों की अपेक्षा अधिक है और प्रतिदिन बढ़ती जाती है...इसी से अमेरिका की इतनी उन्नति है।' ¹¹ विश्व में महिलाएं किस तरह से पुरुषों के साथ एकजुट होकर चल रही थी, वह संभव हुआ शिक्षा से। द्विवेदी शिक्षा को अपने लेखों और संपादन के जरिए स्त्री अधिकारों का हथियार बनाते हैं। सरस्वती का एक और लेख 'सत्यशोधक का चीन में सामाजिक परिवर्तन' ¹² चीन में सत्ता परिवर्तन के बाद स्त्री जीवन में आए बदलावों को बताता है। भारत के समान ही चीन में भी साम्राज्यवादी ताकतों का शासन रहा। स्त्रियों को बचपन में पिता के यौवन में पति के और बुढ़ापे में पुत्र के अधीन रहने का विचार वहां भी प्रबल था। सती प्रथा और बहु विवाह जैसी भारत में प्रचलित कुरीतियां वहां भी थीं जिन्हें चीन की राज्यक्रांति के उपरांत दूर किया गया और पुरुष के समान ही स्त्री स्वतंत्रता के अधिकार की मांग की गई।

बदलाव, क्रांति और अधिकार से भी आगे महावीर प्रसाद द्विवेदी अपने लेखन और चिंतन में स्त्री स्वतंत्रता के प्रश्नों को उठाते हैं। द्विवेदी का चिंतन आधुनिक स्त्री स्वतंत्रता के प्रश्न को उठाता है। 'सरस्वती' में 1903 में 'एक तरुणी का नीलाम' शीर्षक से लेख प्रकाशित होता है जिसमें एक स्त्री समाज में अपनी शर्तों पर खुद को बेचने की बात करती है क्योंकि उसका कहना है हर तरुणी लड़की खुद को बेचकर लोगों की गुलामी करती है जो कभी नौकरी के नाम पर, कभी पत्नी के नाम पर, अच्छा पति पाने के नाम पर होती है- 'ये बातें सर्वसाधारण के सामने प्रकाश रूप से नहीं होती। हर एक नौजवान लड़की चुपचाप गुलामी स्वीकार कर लेती है। यह बात में प्रकाश रूप से करना चाहती हूं। मैं सब लोगों को सूचना देकर अपने को नीलाम करने जाती हूं। इस तरह नीलाम करने से मुझे आशा है कि मेरी कीमत लोग कुछ अधिक लगाएंगे।' ¹³ यह लेख भले ही अमेरिका की स्त्री पर केंद्रित है परंतु समस्या दोनों जगह एक ही है। स्त्री गुलाम वहां भी रही और भारत में भी। बेचने की यह प्रक्रिया भारत में दहेज के रूप में देखी जाती है तो बाहर खुद को बेचने की कीमत के रूप में। 1907 में 'सरस्वती' में प्रकाशित 'जौनसार बावर' लेख में भारत में स्त्रियों की गुलामी का जिक्र मिलता है जो अपने में थोड़ा अनूठा था 'यहां पर्दा नहीं है। स्त्रियों को बड़ी स्वतंत्रता है, विधवा विवाह भी प्रचलित है। व्यभिचार यहां बहुत है' क्योंकि समाज ने अपनी सुविधा के लिए घर से बाहर वेश्याएं और रखेलें रख ली थी, और सदाचार के लिए घर की लक्ष्मी पत्नी।' ¹⁴ दोनों ही स्थितियों में गुलाम स्त्री ही है। फिर वह चाहे किसी भी देश की क्यों न हो। समाज द्वारा स्त्री को गुलाम मानने की यह मानसिकता ही स्त्री को अपने स्वयं के अस्तित्व का मूल्य लगाने पर मजबूर करती है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने केवल पुराणों और आधुनिक संदर्भों के जरिए ही स्त्री चेतना का प्रसार नहीं किया बल्कि इतिहास को भी उसमें सम्मिलित किया। 1857 की क्रांति भारत के आजादी पाने के संघर्ष की पहली शुरुआत थी जिसमें सभी की भागीदारी रही। झांसी की रानी का महिला होकर इस क्रांति में सक्रिय रहना और जरूरत पड़ने पर अपने राज्य की रक्षा के लिए प्राण दे देना था 'एक कोमलांगी अबला, नंगी तलवार हाथ में लिए हुए, और बड़े-बड़े वीर योद्धाओं को उसके आघात से

भूतल-शायी करते हुए सुरक्षित निकल गई।¹⁵ इतिहास के जरिए द्विवेदी अपने समय की उसी स्त्री को पुनः जीवित करने का प्रयास करते हैं जो समाज की चारदीवारी में परंपराओं और अशिक्षा के नाम पर जकड़ दी गई थी। एक समय था कि 'स्त्रियां तक तोपखानों में काम करती थीं और गोला बारूद लाने में सहायता देती थीं'। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई पर यह लेख 1904 में 'सरस्वती' में छपता है। इतिहास के जरिए भारतीय स्त्रियों को अपनी शक्ति का अहसास कराने और आजादी की लड़ाई में उनकी भागीदारी को बढ़ावा देने का जिसमें द्विवेदीजी ने प्रयास किया।

द्विवेदीजी के चिंतन और लेखन का केंद्र तत्कालीन समाज और उसकी परिस्थितियां रहीं। वह स्वयं भी कहते हैं- 'संसार में जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसे वैसे ही वर्णन करना चाहिए।' भले ही कवि कर्म की ओर यह पंक्तियां इंगित करती हैं परंतु महावीर प्रसाद द्विवेदी के लेखन का इसे सार तत्व कहा जा सकता है। द्विवेदीजी के कृतित्व को खड़ी बोली हिंदी के सुधारक व संस्थापक के रूप में देखा व अध्ययन किया जाता रहा है। कुछ निर्धारित संदर्भों से हटकर अगर द्विवेदी के लेखन व चिंतन को देखते हैं तो, समाज के उस समुदाय पर भी वह लिख रहे थे जिसे आज हाशिए का समाज कहा जाता है। यह चिंतन उनकी कविताओं, निबंधों, अनुवादित पुस्तकों 'सरस्वती' में उनके द्वारा स्वीकृत लेखों में देखा गया है। हाशिए के समाज में समाज का सबसे निम्न तबका व आदिवासी समाज पहले से शामिल थे आज स्त्री भी उस में शामिल है। कारण था समाज के आर्थिक, समाजिक और राजनैतिक संसाधनों का असमान वितरण। महावीर प्रसाद द्विवेदी की कलम भी नवजागरणकालीन स्त्री प्रश्नों पर लिखती है और सुधार की अपेक्षा स्त्री अधिकार की बात करती है।

संदर्भ :

- महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, (सं.) भारत यायावर, किताबघर प्रकाशन, संस्करण-1995, नई दिल्ली
 - महावीर प्रसाद द्विवेदी रचना संचयन, (सं.) भारत यायावर, साहित्य अकादेमी, पुनः आवृत्ति संस्करण-2008, नई दिल्ली
 - महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दूसरी आवृत्ति संस्करण-2008, नई दिल्ली
 - महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्व, (सं.) भारत यायावर, किताबघर प्रकाशन, संस्करण-2003, नई दिल्ली
 - भारतेन्दु हरिश्चंद्र ग्रंथावली, (सं.) ओमप्रकाश सिंह, प्रकाशन संस्थान, संस्करण -2008, नई दिल्ली
 - राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य (कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृत्तियां), वीर भारत तलवार, हिमाचल पुस्तक भंडार, द्वितीय संस्करण-1994, दिल्ली
 - आधुनिक कविता का पुनर्पाठ, करुणाशंकर उपाध्याय, राधाकृष्ण प्रकाशन, संस्करण-2008, नई दिल्ली
1. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचना संचयन, (सं.) भारत यायावर, पृ-177
 2. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचना संचयन, (सं.) भारत यायावर, पृ-45
 3. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली खण्ड -2, (सं.) भारत यायावर, पृ- 348
 4. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, (सं.) भारत यायावर, पृ-65

5. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली खण्ड-13, (सं.) भारत यायावर, पृ- 232
6. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली खण्ड-8, (सं.) भारत यायावर, पृ- 110
7. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली खण्ड-8, (सं.) भारत यायावर, पृ-122
8. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली खण्ड-7, (सं.) भारत यायावर, पृ-62
9. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचना संचयन, (सं.) भारत यायावर, पृ-538
10. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचना संचयन खण्ड-13, (सं.) भारत यायावर, पृ-184
11. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, (सं.) भारत यायावर
12. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, रामविलास शर्मा, पृ-57
13. महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली खण्ड-4, (सं.) भारत यायावर, पृ-126
14. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, रामविलास शर्मा, पृ-171
15. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, रामविलास शर्मा, पृ-94



‘सरस्वती’ : समय और चिंतन

प्रकाश चंद्र

19 वीं सदी का अंत जहां ‘रोवहु सब मिलि आवहु भारत भाई / हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई’ जैसी साहित्यिक अभिव्यक्ति से होता है तो वहीं 20 वीं सदी का आरंभ ‘सरस्वती’ जैसी युगप्रवर्तक पत्रिका से होता है। युगीन साहित्यिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक संदर्भों को इस पत्रिका ने महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादन में पुनर्परिभाषित किया। जनवरी 1903 से लेकर दिसंबर 1920 तक द्विवेदीजी ने इस पत्रिका का संपादन किया। ‘सरस्वती’ के माध्यम से द्विवेदीजी ने आधुनिक साहित्य को विषय की विविधता से लेकर भाव व भाषा के स्तर तक परिमार्जित किया। साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना को दिशा और दृष्टि प्रदान करने में द्विवेदीजी की महत्वपूर्ण भूमिका रही, इसलिए एक पूरे साहित्यिक कालखंड को ‘द्विवेदी युग’ के नाम से जाना जाता है।

इस काल खंड की पूरी चेतना ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उपनिवेशवादी शक्तियों को देश से बाहर खदेड़ देने के लिए संकल्पबद्ध थी। लेकिन वहीं साहित्यिक धरातल पर अपने अतीत को फिर से मथने और राम, कृष्ण, आदि के मिथकों के द्वारा भारतीयता की तलाश साहित्य के माध्यम से की जा रही थी। ऐसे समय में द्विवेदीजी ने ‘सरस्वती’ के माध्यम से साहित्यिक संस्कार संवर्धित करने के साथ-साथ जनजागरण और पुनर्जागरण का भी अभियान चलाया। स्वाधीनता आंदोलन को भी लगातार साहित्यिक ऊर्जा ‘सरस्वती’ पत्रिका से मिलती रही। ‘सरस्वती’ के द्वारा उस पूरे कालखंड की मीमांसा रची गई।

द्विवेदीजी का समय भारतीय जीवन में हो रहे व्यापक परिवर्तनों का दौर था। 20 वीं सदी का आरंभ होते-होते कांग्रेस में उग्रदलीय नेताओं तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचंद्र पाल का प्रभाव बढ़ने लगा था। भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीतियों में निरंतर जकड़ा जा रहा था। 1905 में बंग-भंग की घोषणा ने भारतीयों के मन में ब्रिटिश सरकार के प्रति पल रहे आक्रोश को और बढ़ावा दिया, 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना के बाद अंग्रेजों की ‘फूट डालो शासन करो’ की नीति काम करने लगी थी। साथ ही अंग्रेजों की भारत-दोहन वाली आर्थिक नीति भी इस युग में अपना काम कर रही थी। किसानों और मजदूरों की दशा बड़ी ही शोचनीय थी। द्विवेदीजी ने ‘सरस्वती’ के माध्यम से देश में चल रही सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक उथल-पुथल को रेखांकित किया और लगातार किसानों, मजदूरों और स्त्रियों की स्थिति को लेकर लिखते रहे। अंग्रेजों की दमनकारी नीति के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा के बढ़ते वर्चस्व का भी उन्होंने विरोध किया। द्विवेदीजी का चिंतन सामाजिक

संस्कार से लेकर साहित्यिक संस्कार तक को अंग्रेजों और अंग्रेजी से मुक्त करना था। भाषा किसी भी देश का गौरव होती है, भाषा की गुलामी मनुष्य को गूंगा बना देती है, द्विवेदीजी इस बात से भलीभांति परिचित थे इसलिए उनके चिंतन के केंद्र में आरंभ से ही भाषा रही। निज भाषा की वकालत उन्होंने की और अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व को सरस्वती में खड़ी बोली हिंदी का आंदोलन चलाकर खत्म करने का प्रयास किया।

द्विवेदीजी का चिंतन बहुआयामी था। उन्होंने साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान के अन्य आनुशासनों और भारत के गौरवपूर्ण इतिहास से लोगों का परिचय कराया। युगीन परिस्थितियों को देखते हुए उन्होंने सबसे पहले अर्थशास्त्र को लेकर पुस्तक लिखी 'संपत्तिशास्त्र' जो अंग्रेजों की आर्थिक नीति से पैदा हुई विषमता को दिखाती है। 'संपत्तिशास्त्र' की भूमिका में द्विवेदीजी लिखते हैं- 'हिंदुस्तान संपत्तिहीन देश है।... जिधर आप देखेंगे उधर ही आपको दरिद्र-देवता का अभिनय, किसी- न-किसी रूप में, अवश्य ही देख पड़ेगा।' अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों ने सोने की चिड़िया कहे जाने वाले देश को संपत्तिहीन बना दिया है। इस प्रकार यदि उस पूरे कालखंड की स्थितियों और द्विवेदीजी के चिंतन को देखा जाए तो कई बिंदु उभरकर आते हैं जिनके माध्यम से 'सरस्वती' की भूमिका और द्विवेदीजी के चिंतन की गहराई और विस्तार को जाना जा सकता है-

- नवजागरण की चेतना का विकास जिसके तहत शिक्षा का प्रसार खासकर स्त्री शिक्षा पर जोर।
- स्त्रियों की सामाजिक स्थिति, अधिकार व सामाजिक जकड़न को ढीला करना। भारत के गौरवपूर्ण इतिहास का मंथन।
- गद्य और पद्य की एक ही भाषा पर बल। खड़ी बोली को स्थापित करने के लिए 'सरस्वती' के माध्यम से एक सुनियोजित योजना चलाई और भाषा को व्याकरणिक दृष्टि से समृद्ध करने की कोशिश की।
- नव उदित गद्य की विधाओं को सही दिशा देना और उनका परिष्कार करना।
- 'ज्ञान राशि के संचित कोश' का विस्तार करना और उसे ज्ञान के अन्य आनुशासनों से जोड़ना जैसे- पुरातत्व, इतिहास, विज्ञान, राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि।
- ब्रिटिश शासन का विरोध और स्वाधीनता की चेतना को भारतीयों में जगाना।
- अनुवाद के माध्यम से देश-दुनिया के श्रेष्ठ और मुक्तिपरक साहित्य को भारतीयों तक पहुंचाना।
- रीतिवादी शृंगार पद्धति का विरोध और समाज के बहुसंख्यक लोगों से जुड़ने वाले साहित्यिक मूल्यों का विकास।

इन बिंदुओं के आधार पर द्विवेदीजी के चिंतन को उनके समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए देखा जा सकता है। अगर इन बिंदुओं पर थोड़ा विस्तार से बात करें तो वस्तु स्थिति और स्पष्ट होगी।

द्विवेदीजी ने नवजागरण की चेतना का पूर्ण विस्तार कर उसकी कमजोरियों को दूर करने का प्रयास किया। तत्कालीन शिक्षा को लेकर चिंतन और चिंता दोनों 'सरस्वती' में छपे लेखों में दिखाई देती है। औपनिवेशिक शिक्षा के आगमन ने भारतीयों को सामाजिक अध्ययन के नए संदर्भ प्रदान

किए। पते की बात यह है कि कई वर्षों की लगातार गुलामी के शिकार ये लेखक निरंतर अपने समाज की आंतरिक आवश्यकताओं का मूल्यांकन करते रहे और इसमें परंपरा और अतीत कभी उनके लिए बाधा नहीं बना। इसका प्रमाण द्विवेदीजी के शिक्षा चिंतन से हमें मिलता है। द्विवेदीजी अपने एक लेख 'पढ़े-लिखों का पांडित्य' में उन तमाम पढ़े-लिखों का उपहास करते हैं जो स्त्री-शिक्षा के विरुद्ध अपने तर्क उपस्थित करते हैं- 'बड़े शोक की बात है, आजकल भी ऐसे लोग विद्यमान हैं जो स्त्रियों को पढ़ाना उनके और गृह-सुख के नाश का कारण समझते हैं।'² इसके साथ ही उन्होंने सामाजिक विषमता और स्त्री अधिकारों को लेकर आवाज उठाई।

भाषा द्विवेदीजी के चिंतन की धुरी है। वे देश की आजादी के साथ भाषा की आजादी को जोड़कर देखते हैं- 'इस समय इस देश में स्वराज्य प्राप्ति के लिए सर्वत्र चेष्टा हो रही है। जिधर देखिए उधर ही स्वराज्य, स्वराज्य का घंटा-नाद सुनाई दे रहा है। भाषा के स्वराज्य की प्राप्ति का कुछ भी उपाय अब तक नहीं किया गया है। और बिना इस स्वराज्य के शासन-व्यवस्था का विधान कभी सुचारू रूप से नहीं चल सकता।'³ गांधी उस समय राजनैतिक स्वराज्य की बात कर रहे थे तो महावीर प्रसाद द्विवेदी भाषिक स्वराज्य की बात कर रहे थे। इसके साथ ही एक भाषा का विकास उनका लक्ष्य था। द्विवेदीजी का जोर आरंभ से ही गद्य और पद्य की एक भाषा पर रहा। हिंदी भाषा में आए अंग्रेजी, उर्दू, फारसी के शब्दों के संदर्भ में द्विवेदीजी का मानना था कि- 'जिस तरह शरीर के पोषण और उद्यम के लिए बाह्य खाद्य पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्द और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बंद हो जाता है तो वह उपवास-सी करती हुई किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव अवश्य हो जाती है।'⁴ भाषा को लेकर द्विवेदीजी का चिंतन रूढ़ता से मुक्त है। वह अन्य भाषाओं के शब्दों को हिंदी में ग्रहण करने से परहेज नहीं करते हैं। उनका स्पष्ट संदेश था कि- 'भारत की आजादी के लिए अंग्रेजी की गुलामी से मुक्ति पाना जरूरी है। भारत स्वतंत्र राष्ट्र होगा अंग्रेजी के बल पर नहीं, किंतु अपनी राष्ट्रभाषा के बल पर।'⁵ राष्ट्रीय चरित्र गढ़ने के लिए एक राष्ट्रीय भाषा का होना भी जरूरी था। यही प्रयास द्विवेदीजी कर रहे थे।

हिंदी साहित्य की गद्य विधाओं का उदय भले ही भारतेन्दु युग में हुआ था पर उनका विकास द्विवेदी युग में ही हुआ। भाषा के साथ-साथ द्विवेदीजी ने उस समय विकसित हो रही गद्य विधाओं को भी एक आकार देने की कोशिश की। कविता, कहानी उपन्यास और समालोचना को लेकर उन्होंने 'सरस्वती' में बड़े-बड़े लेख लिखे और इन विधाओं को एक रास्ता दिखाने को कोशिश की। कविता के संदर्भ में उनका मानना था कि 'कविता का विषय मनोरंजक और उपदेश-जनक होना चाहिए। यमुना के किनारे-किनारे केलि-कौतूहल का अदभुत-अदभुत वर्णन बहुत हो चुका है। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य : बिंदु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल ; अनंत आकाश ; अनंत पृथ्वी ; अनंत पर्वत-सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है।'⁶ इसके अतिरिक्त भी खड़ी बोली में कविता लेखन को ठोस आधार देने के लिए द्विवेदीजी ने कई आलेख लिखे जैसे-'कवि का कर्तव्य', 'कवि और कविता', 'कविता', 'कविता का भविष्य', 'आजकल के हिंदी कवि और कविता' आदि।

उनका मानना था कविता को सर्वग्राह्य होना चाहिए। पद्य के अलावा उन्होंने गद्य विधाओं को भी संवर्धित किया। 'उपन्यास-रहस्य' नामक आलेख में वे लिखते हैं कि- 'आजकल हिंदी-साहित्य में उपन्यास- नामधारिणी पुस्तकों की भरमार हो रही है। इन पुस्तकों में से प्रायः 95 फीसदी उपन्यास कदापि नहीं, और चाहे जो कुछ भी हो' उपन्यास को लेकर द्विवेदीजी बांग्ला परंपरा से ज्यादा प्रभावित थे और कुछ उसी परिपाटी के उपन्यास हिंदी में भी चाहते थे जिसके लिए उन्होंने बांग्ला के कई महत्वपूर्ण उपन्यासों को लेकर कई आलेख 'सरस्वती' में लिखे। इसके साथ ही हिंदी में सच्ची समालोचना का विकास द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के माध्यम से किया। समालोचना को व्यक्तिपूजा से कृति केंद्रित करने का पूरा श्रेय द्विवेदीजी को जाता है।

द्विवेदीजी ने सिर्फ 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने साहित्य के साथ अन्य ज्ञानानुशासनों को भी जोड़ा। उनका विचार था कि 'ज्ञान-समूह अनंत काल से संचित होता चला आ रहा है। उसके संचय का कोष ही इतिहास है'। इसी संचयन में कुछ-कुछ निधि लेकर वह सरस्वती के मार्फत लोगों तक पहुंचा रहे थे। साहित्य को लेकर उन्होंने कानपुर में हुए साहित्य सम्मेलन के अपने वक्तव्य में कहा कि 'आंख उठाकर और देशों को देखो-आप देखोगे, कि साहित्य ने वहां की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ने वहां समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है। शासन-प्रबंध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं। यहां तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं है। यूरोप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उच्चाटन साहित्य ने किया है। जातीय स्वाधीनता के बीज उसने बोए हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बीज भी उसी ने बोए हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्र भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है। पतित देशों का उद्धार उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस का प्रजातंत्र किसने स्थापित किया है? साहित्य ने, साहित्य ने। जो साहित्य पतितों को उठाने वाले हैं, उसके उत्थान और संवर्द्धन की जो जाति चेष्टा नहीं करती, वह अज्ञानांधकार के गर्त में पड़ी रहती है। जो समर्थ होकर साहित्य सेवा नहीं करता, अनुराग नहीं रखता, वह समाजद्रोही है, जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही-आत्महंता भी है।'⁸ पूरे वक्तव्य में द्विवेदीजी ने साहित्य की महत्ता और उसके माध्यम से सामाजिक बदलाव को इंगित करने को कोशिश की और परतंत्र भारत के लोगों को सामाजिक उद्देश्य पूर्ण साहित्य रचने के लिए प्रोत्साहित किया। इसके साथ ही रीतिवादी शृंगारिक पद्धति का विरोध और साहित्य को यौवन के मदभरे उपवन से बाहर निकालने का प्रयास भी द्विवेदीजी ने किया जिसमें वे काफी हद तक सफल भी हुए।

स्वाधीनता की चेतना उस पूरे युग की मीमांसा थी। यह स्वतंत्रता ब्रिटिश शासन से तो थी ही इसके साथ ही अपने भीतरी सामाजिक जकड़नों से भी थी। अंग्रेजों के द्वारा भारतीयों का शोषण चरम पर था। एक ओर मजदूर और किसानों का शोषण ब्रिटिश हुकूमत कर रही थी तो दूसरी ओर भारतीय जमींदार। द्विवेदीजी ने इन स्थितियों के खिलाफ 'सरस्वती' में जमकर लिखा भी और लिखवाया भी। 1907 में माधव राव सप्रे ने 'सरस्वती' में 'हड़ताल' नाम से एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने पूंजीपतियों के द्वारा मजदूरों के शोषण को रेखांकित किया और हड़ताल की स्थितियां क्यों बनती है? इस पर भी विस्तार से लिखा। 1914 में द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में 'देश की बात' नामक अपनी टिप्पणी के माध्यम से किसानों से वसूले जाने वाले लगान के बारे में लिखा- 'यदि कृषकों से लगान मिलना

बंद हो जाए तो बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं की दुर्गति का ठिकाना न रहे, सरकार के शासन चक्र का चलना बंद हो जाए, वकीलों और बैरिस्टर्स के गाड़ी-घोड़े बिक जाएं और व्यापारियों तथा महाजनों को शीघ्र ही टाट उलटना पड़े”⁹। मजदूरों और किसानों की स्थिति उस समय बहुत ही खराब थी द्विवेदीजी लगातार इस चिंता से सभी को अवगत करा रहे थे और अंग्रेजों व जमींदारों के खिलाफ जनता में आक्रोश पैदा कर रहे थे। द्विवेदीजी ने अपने युग के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक वातावरण पर भी गंभीरता से चिंतन किया। 1918 में वे ‘अवध के जमींदार और काश्तकार’ नाम से एक आलेख सरस्वती में छापते हैं और जमींदारों के खिलाफ जमकर आक्रोश व्यक्त करते हैं। इस तरह से द्विवेदीजी का चिंतन सिर्फ साहित्य की परिधि तक ही सीमित नहीं था बल्कि अपने समय की हलचलों पर उनकी पैनी निगाह थी।

देश-विदेश के ज्ञान से भारत को जोड़ने के लिए द्विवेदीजी ने कई पुस्तकों का अनुवाद किया जिनमें जॉन स्टुअर्ट मिल की किताब ‘लिबर्टी’ (Liberty) का हिंदी में ‘स्वाधीनता’ नाम से अनुवाद किया और उनके चिंतन से भारतीयों को अवगत कराया। इसके अतिरिक्त हर्बर्ट स्पेन्सर, वाल्ट हिवटमैन आदि के विचारों से लोगों को परिचित कराया। द्विवेदीजी को जहां भी जिस भाषा में भी मुक्तिगामी साहित्य दिखाई दिया उनकी पूरी कोशिश रही उस साहित्य को किसी भी तरीके से भारत के पराधीन लोगों तक पहुंचाया जाए ताकि उनकी सोई हुई चेतना जाग सके। इस प्रकार द्विवेदीजी का समय और उनका चिंतन उस युग की पूरी मीमांसा को गढ़ता है। द्विवेदीजी का समय 1905 के बंगाल विभाजन से लेकर 1906 में मुस्लिमलीग की स्थापना, कांग्रेस का अधिवेशन, 1914 में प्रथम विश्व युद्ध, 1917 में रूसी क्रांति आदि भारतीय एवं वैश्विक घटनाओं से पूर्ण रहा। द्विवेदीजी ने अपने समय की इन सभी घटनाओं पर लेखन किया और ‘सरस्वती’ के माध्यम से लोगों तक पहुंचाया। इस तरह से द्विवेदीजी ने अपने चिंतन से ‘सरस्वती’ के सिद्धांत वाक्य-‘सरस्वती श्रुति महती न हीयता’¹⁰ अर्थात् ‘सरस्वती’ ऐसी महती श्रुति है जिसका कभी नाश नहीं हो सकता है, को पूर्णतः चरितार्थ किया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी का चिंतन अपने पूर्ववर्ती साहित्यकारों- जिनमें भारतेन्दु अग्रणी हैं के चिंतन का ‘विस्तार’ है न की ‘विकास’। ब्रिटिश हुकूमत की नीतियों का सवाल हो या भाषा का सवाल या फिर राष्ट्र भक्ति और राज भक्ति का सवाल, द्विवेदीजी इन सवालों से सीधे नहीं टकराते बल्कि इन सवालों के बीच से कहीं अपने लिए रास्ता बनाते हैं। आज जरूरी है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी के चिंतन का नए सिरे से मूल्यांकन किया जाए और चिंतन के उजले पक्षों के साथ-साथ स्याह पक्ष को भी देखने व समझने की कोशिश की जाए। ‘सरस्वती’ पत्रिका में छपे आलेखों और पत्रिका के पूरे मिजाज को भी बारीकी से समझने की जरूरत है। सन 1907 से पहले की ‘सरस्वती’ का राजनैतिक तेवर और 1907 के बाद की ‘सरस्वती’ का राजनैतिक तेवर बिलकुल भिन्न हैं इसलिए आज महावीर प्रसाद द्विवेदी और ‘सरस्वती’ की भूमिका व महत्ता को नए सिरे से देखने व समझने की आवश्यकता है।

संदर्भ :

- 1 महावीर प्रसाद द्विवेदी रचना संचयन : (सं.), भारत यायावर, पृ. 547
- 2 महावीर प्रसाद द्विवेदी रचना संचयन : (सं.), भारत यायावर, पृ. 536

- 3 हिंदी भाषा: महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ. 100-101
- 4 महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्व : (सं.), भारत यायावर, पृ. 205
- 5 महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्व : (सं.), भारत यायावर, पृ.53
- 6 साहित्य विचार : महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ. 15
- 7 साहित्य विचार : महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ. 91
- 8 हिंदी भाषा : महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ. 105
- 9 राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य : वीर भारत तलवार, पृ. 151
- 10 हिंदी साहित्य के विकास में 'सरस्वती' का योगदान : बच्चू शुक्ल, पृ. 1

स्मृति शेष हुए

- अध्येता आलोचक कृष्णदत्त पालीवाल
- दलित चिंतक तुलसीराम
- कथा आलोचक विजय मोहन सिंह
- कवि कैलाश वाजपेयी

के प्रति

म.गां.अं.हिं.वि. की विनम्र श्रद्धांजलि!

आलोचना के व्यास

अवनिजेश अवस्थी

पालीवालजी अब केवल स्मृतियों में हैं या फिर अपनी शब्द-रूप पुस्तकों में उनका व्याख्यान सुनने की कुछ ऐसी उत्सुकता होती थी कि बहुत बार बाकी अति आवश्यक कार्य छोड़कर भी उनको सुनने पहुंच जाते थे। उनका हर व्याख्यान खेमेबाज आलोचकों को ललकारता हुआ, एक चुनौती देते हुए होता था जिसमें उनका सिर्फ ओजस्वी-स्वर और शब्द-जाल ही नहीं होता था- उनके पास अपने हर कहे वाक्य का प्रमाण भी होता था जिसे वे साथ-साथ उद्धृत करते चलते थे। उनको मैंने कभी लिखा हुआ पढ़ते नहीं देखा- यहां तक कि तमाम उद्धरणों तक को वे जुबानी ही प्रस्तुत करते थे। मैं उन्हें कुछ असूया किंतु वस्तुतः श्रद्धा-सम्मानवश 'स्मृतिवीर' कहा करता था- वे कहीं से भी आरंभ करके पूरी की पूरी 'राम की शक्ति पूजा' सुना सकते थे। 'कामायनी' के पूरे के पूरे सर्ग उन्हें कंठस्थ थे, दिनकर की 'रश्मिरथी' हो या फिर गुप्तजी का 'जयद्रथ वध' उन्हें उद्धृत करने के लिए कभी इन कृतियों को देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। यही नहीं तुलसीदास, सूर, कबीरदास, मीराबाई को सुनाते-सुनाते वे उनके एक-एक शब्द चयन पर ऐसे मुग्ध होते हुए उसकी विशिष्टता बताते थे कि बड़े से बड़ा धुरंधर भी उनसे ईर्ष्या कर सकता था।

पालीवालजी के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उनका आलोचना कर्म केवल मंचों, सभाओं-सम्मेलनों और लोकार्पण समारोहों तक ही सीमित नहीं था। वे अद्भुत वक्ता थे लेकिन वक्ता से भी अधिक के लिक्खाड़ थे- इसीलिए अपने ने शुरू में ही कहा कि वे स्मृतियों में ही नहीं हैं- शब्दरूप पुस्तकों में वे आज और इस पीढ़ी के लिए ही नहीं आगे आने वाली कई आलोचना-पीढ़ियों के लिए भी उनकी चुनौतीपूर्ण उपस्थिति बनी रहेगी।

हिंदी आलोचना में उनकी इस निर्भत्त उपस्थिति का सबसे बड़ा कारण उनका 'खेमाबद्ध-आलोचना' से पूरी तरह से मुक्त होना है। उनके लिए कोई भी रचनाकार केवल अपनी रचनाओं के कारण ही उनका आलोच्य रहा है, अपनी अन्यान्य प्रतिबद्धताओं के कारण नहीं। अज्ञेय संभवतः उनके सर्वाधिक प्रिय रचनाकार हैं लेकिन इसके बावजूद बिना किसी पूर्वग्रह के धूमिल और राजकमल चौधरी जैसे रचनाकारों का भी मूल्यांकन और उनकी रचनात्मक विशिष्टता को स्वीकारने में उन्होंने कभी कोई कंजूसी नहीं दिखाई।

इधर एक अरसे से हिंदी में आलोचना को लेकर काफी बयानबाजी होती रही है। बयानबाजी

शब्द का इस्तेमाल सभिप्राय किया जा रहा है, क्योंकि गंभीर विमर्श का स्थान वक्तव्यों ने ले लिया है। मंच और अवसर के हिसाब से और देश-काल के परिदृश्य को भांपते हुए निष्कर्षात्मक वक्तव्यों से गंभीर आलोचना नेपथ्य में चली गई है- कुछ अगर-मगर के बावजूद इस पर व्यापक सहमति सी दिखाई देती है। पालीवालजी इस रूप में इस तथ्य के अपवाद कहे जा सकते हैं कि उन्होंने अपने आलोचना-कर्म में मध्यकालीन हिंदी कविता से लेकर बिल्कुल आज तक के कवियों-रचनाकारों और उनकी रचनाधर्मिता पर एकदम बेबाकी से लिखा है।

सन् 2011 में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'हिंदी का आलोचना पर्व' में आधुनिक हिंदी साहित्य का पड़ताल करते हुए 21 निबंध हैं जिनमें आधुनिक काल के सत्रह कवियों के काव्य-जगत का विश्लेषण-विवेचन किया गया है। मैथिलीशरण गुप्त से लेकर विनोद कुमार शुक्ल तक इस विवेचन में शामिल हैं। यह ठीक है कि यह पुस्तक आधुनिक हिंदी कविता का कोई सिलसिलेवार मुकम्मल विवेचन प्रस्तुत नहीं करती क्योंकि महादेवी वर्मा को छोड़कर छायावाद और प्रगतिवाद के तमाम कवि इस विमर्श में नहीं लिए गए हैं- लेकिन यह बात समझ लेनी चाहिए कि पालीवालजी इसमें इतिहासकार की तरह किनारे पर खड़े होकर कवि और कविता का संस्पर्श भर नहीं करते, वे केवल सूचनाएं नहीं देते, बल्कि वे कवियों के काव्य-सागर में भीतर उतरकर बाकायदा मंथन करते हैं। इसलिए उन्हें दिनकर-बच्चन जैसे कवियों के साथ हुआ आलोचनात्मक अन्याय दिखाई देता है, राष्ट्रीय काव्यधारा की उपेक्षा को वे चिन्हित करते हैं, और उसका बाकायदा आलोचनात्मक प्रतिवाद करते हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन, अध्यापन में जिस तरह से राष्ट्रवादी काव्यधारा का 'विलोप' दिखायी देता है। पालीवालजी ने साहस करके उस धारा के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक नैस्तर्त्य एवं विशिष्टता को पहचानने का आह्वान सा किया है- 'सार संक्षेप यह कि हमारी राष्ट्रीयता की अवधारणा और राष्ट्रीय काव्यधारा में हजार धाराओं वाली नर्मदा-संस्कृति और परंपरा वह आलोक है, जिसमें कोई भी अन्य नहीं है। वस्तुतः हमारी राष्ट्रीयता पश्चिम की लड़ाई करने वाली नस्लपरक राष्ट्रीयता नहीं है। वे बिना किसी लाग-लपेट के साफ-साफ शब्दों में उस औपनिवेशिक मानसिकता को धता बताते हैं जो हमारी राष्ट्रीयता की अवधारणा को अपने कुतर्कों से कुठित करने का प्रयास करते आए हैं।

अपनी अत्यधिक उज्वल एवं समृद्ध परंपरा को खारिज करने की कोशिशों के प्रति वे कितने स्पष्ट शब्दों का इस्तेमाल कर सकते हैं- 'दरअसल उन औपनिवेशिक चिंतकों की आज हम निंदा करें, जो यह कहकर हमें गुमराह करते रहे कि यदि इस्लाम न आता तो भारत समता और सहबंधुता का अर्थ ही नहीं समझता। अंग्रेज न आते तो हम असभ्य बर्बर-अनाधुनिक रह जाते, हम जंगली रह जाते और हमें मानवतावादी दृष्टि प्राप्त न होती। न हममें राष्ट्रवाद की परिकल्पना आती, न हमारी संस्कृति में आधुनिकता का खमीर उठता। इस तरह के पागलपन से प्रेरित विद्वानों के विचारों का खंडन योगी अरविंद ने किया है। उन्होंने कहा है कि भारतीय संस्कृति न राशीकरण है, न समन्वय, न अनमेल तत्वों से निर्मित सामासिक संस्कृति है। भारत लंबे समय से विचारों के क्षेत्र में बहुत समृद्ध तथा अगुआ था, उसे पिछड़ा-बर्बर कहना यूरोप के बुद्धिजीवियों का दिमागी दिवालियापन है।' माखनलाल चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी और सुभद्रा कुमारी चौहान जैसे राष्ट्रीय काव्यधारा के रचनाकारों को किस तरह से साहित्येतिहास में मुख्यधारा से खिसकाकर विस्मृति के गहन अंधकार

में डालने का सुनियोजित षड्यंत्र किया गया है, और समकालीन आलोचना में तो क्या शोध तक में से इस काव्यधारा ने पूरी तरह से निष्कासित कर दिया गया है। पालीवालजी ने इस पूरी की पूरी राष्ट्रीय काव्यधारा के ऐतिहासिक महत्व को न केवल पहचाना बल्कि उसको भारतवर्ष की अजस्र परंपरा के परिप्रेक्ष्य में भी देखा। हिंदी की इस राष्ट्रीय काव्यधारा के संदर्भ में अपनी समूची जातीय स्मृति एवं भारतीयता की बात जिस रूप में पालीवालजी ने रखी है, उससे बहुत से कुहासे और भ्रम समाप्त हो जाते हैं- 'मैं मानता हूँ कि राष्ट्रीयता अपने उदात्त-भाव विस्तार में भारतीयता का पर्याय है। भारतीयता की यही आहुति हिंदी की राष्ट्रीय काव्यधारा में भरी पड़ी है, अपार भंडार के साथ। यह भारतीयता की ही अवधारणा है जिसका विस्तार रामायण, महाभारत और पुराणों में हुआ। उपनिषदों और अरण्यकों में हुआ। पूरा भारत पीड़ा की रामायण है और पूरा महाभारत न्याय कर्तव्य की पुकार। गीता और भागवत पुराण भारतीयता की महिमा का विस्तार करते हैं- नर के नारायण की व्याख्या का संदर्भ यहां जुड़ता है। यहां भारतीय बनाम राष्ट्रीयता खोखला स्वाभिमान नहीं है- न नस्लवाद का दंभ। भारतीय जीवन और साहित्य में उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में जो राष्ट्रीयता का अभिमान जागा, उसने अंग्रेजी साम्राज्यवाद से लोहा लेने के लिए देश को एक अखंड राष्ट्र के रूप में आकार दिया। हमने अपने स्रोतों को, प्रतीकों को पहचान कर उनसे शक्ति पाई और जन-जागरण के साथ इतिहास का पुनर्पाठ किया। भारत को मातृभूमि के साथ पूजा और वंदे मातरम का संकल्प धारण किया।'

छायावाद-प्रगतिवाद और नई कविता के बीच माखनलाल चतुर्वेदी, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्रा कुमारी चौहान और दिनकर हिंदी कविता के अनुपेक्षणीय कवि हैं जिन पर ढंग से कहीं विचार हुआ ही नहीं। इसका एक कारण संभवतः यह रहा कि हिंदी कविता को वादों और आंदोलनों में बांटकर देखने के हम इस हद तक अभ्यस्त हो गए हैं कि वाद और आंदोलन का अपेक्षाकृत सामान्य कवि भी इतिहास और आलोचना में जगह पा जाता है और इनसे मुक्त सशक्त-समर्थ कवि भी फुटकर के खाते में डाल दिया जाता है।

पालीवालजी की हिंदी के आलोचना पर्व में केंद्रीय चिंता कोई है तो वह है हिंदी की राष्ट्रीय काव्यधारा को विस्मृति और उपेक्षा के कुहासे से बाहर लाना, उनका स्वर देखिए- 'हाय री विडंबना! हिंदी की आधुनिक आलोचना ने देशभक्तिपरक रचनाकर्म को तुच्छ भावुकता की सतही कविता कह कर ठुकरा दिया है। इस ठुकराने के पीछे हिंदी के उन आलोचकों की साजिश है, जो विदेशी विचारधाराओं के प्रचारक और कपटमुनि हैं। ये आलोचक देशभक्ति के नाम से ऐसे बिदकते-भड़कते हैं, जैसे पागल पानी से डरता है।' पालीवालजी का यह बेलाग अंदाज है- अपनी बात कहने का, उस सत्य को सामने लाने का जिससे सहमत तो और भी बहुत से आलोचक हैं, लेकिन वे पालीवालजी की तरह बिना हिचकिचाए कह नहीं पाते। माखनलाल चतुर्वेदी जैसे कवि के कवि-कर्म पर पिछले बीस-तीस वर्षों में किसी ने गंभीरता से विमर्श किया हो- ऐसा ध्यान में नहीं आता। वे माखनलाल चतुर्वेदी जो पहले कभी एक समय केवल छठी-सातवीं-आठवीं कक्षा तक के पाठ्यक्रम के कवि हुआ करते थे, आज वे वहां से भी बाहर कर दिए गए हैं- ऐसा कवि जिसने अंग्रेजी शासन का क्रोध, रोष और अत्याचारों को लगातार सहन करते हुए भी अपने कवि कर्म को राष्ट्रीयता की भावना जागृत करने के लिए समर्पित करता रहा हो- ऐसा कवि साहित्येतिहास के हाशिए तक में स्थान न पा सके

तो समझ में नहीं आता कि इस स्थिति में दुःखी हों या आश्चर्य करें। पालीवालजी हिंदी का आलोचना पर्व में माखनलाल चतुर्वेदी के समूचे रचनाकर्म पर केवल निष्कर्षात्मक वक्तव्य भर नहीं देते बल्कि उनके लेखन के भीतरी मर्म एवं ऐतिहासिक महत्त्व को समझने की आवश्यकता की तरफ ध्यान खींचते हैं।

इस आलेख में उनकी एक पुस्तक 'हिंदी का आलोचना पर्व' को केंद्र में रखकर पालीवालजी की आलोचकीय ईमानदारी एवं निर्भीकता को विनम्रता से स्मरण करने का प्रयास किया गया है। वास्तविकता यह है कि उनकी यह निर्भीकता और ईमानदारी उनकी बाकी की तमाम पुस्तकों एवं उनके लिखे-कहे एक-एक शब्द में दिखाई देती है। उनकी निस्संगता और बेलाग स्वभाव के ही कारण उन्हें बहुत बार अजीबोगरीब स्थितियों से भी गुजरना पड़ा और हिंदी समाज की तरफ से जिस स्थान के अधिकारी थे उन्हें सुनियोजित तरीके से छीना गया- किंतु सच यह है कि इस सबके बावजूद कृष्णदत्त पालीवाल की आवाज उनको सुनने वालों के कानों में देर तक गूंजती रहेगी, उनके द्वारा लंबी-लंबी कविताओं का बिना रुके वाचन और तमाम साहित्यकारों के अनंत संस्मरण उनके शिष्यों-मित्रों से चाहकर भी कभी कोई छिन नहीं सकता।



कैलाश वाजपेयी

जग सुने न इतना धीरे गा! : आवाजों के कोरस में एक विरल स्वर

ओम निश्चल

पिछले दिनों अचानक कैलाश वाजपेयी इहलोक से मुक्त होकर दूर चले गए तो उनके संग्रह 'हवा में हस्ताक्षर' की कविता 'डी 203' याद हो आई। उन्होंने लिखा है : 'जहां मैं रहता हूँ/उस घर का एक नंबर है/नाम लिख कर नहीं टंगा/ क्यों पता कल सुबह/चार लोग आए/ और उठाकर मुझे फूंक आए/घर तो तै है/न उन्हें रोकेगा आने से/न मुझे जाने से।' आज साकेत का उनका आवास-डी-203 कवि के बिना सूना है जिसकी पहचान केवल कैलाश वाजपेयी से नहीं, बल्कि कवि-चिंतक कैलाश वाजपेयी से थी। एक ऐसा इनसान वहां रहता था जो अपनी पूरी मस्ती में कवि था। पर फेसबुक पर दर्ज वरिष्ठ पत्रकार लेखक ओम थानवी की इस टीप को पढ़कर दुख हुआ कि 'उनकी स्मृति में आयोजित सभा में हिंदी के सिर्फ दो साहित्यकार थे- अशोक वाजपेयी और मृदुला गर्ग। मित्रों की ओर से बोलने वाले राजनारायण बिसारिया। बाकी सब दिवंगत कवि के घर-परिवार के लोग थे, मित्र-बांधव, पत्नी रूपा वाजपेयी और बेटी अनन्या के परिचित। बात चली तो पता चला कि कैलाशजी के अंतिम संस्कार में भी साहित्यकारों की उपस्थिति बड़ी दयनीय थी। ... इतनी बड़ी दिल्ली और साहित्यकारों का इतना छोटा दिल?' क्या हो गया है हमारे समाज को? सारे धूप दीप नैवेद्य फेसबुक पर ही चढ़ाकर इतिश्री कर लेने का चलन बढ़ा है। याद आया चाणक्य का नीति 'लोहक : राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः और यहां इतने बड़े साहित्यिक परिवार कहे जाने वाले समाज से सिर्फ दो या तीन लोग! यह इस निष्क्रिय और संवेदनहीन होते समाज की एक झांकी प्रस्तुत करता है।

कैलाश वाजपेयी का अध्ययन जितना विपुल था उनकी लाइब्रेरी भी उतनी ही संपन्न थी, जिसमें 'दस जरथुष्ट स्पोक' से लेकर अनेक बुनियादी ग्रंथ, अंग्रेजी व अन्य विदेशी भाषाओं के अनेक लेखकों, कवियों की कृतियां देखी जा सकती थीं। उनका ड्राइंगरूम अपने स्थापत्य में किसी प्राच्य कलाकोविद का बैठका लगता था। चित्र-विचित्र चीजें वहां देखी जा सकती थीं। उनका पहनावा भी किसी सूफी जैसा था। उनकी आंखें सदैव कुछ टटोलती हुई लगतीं। उन्होंने बताया था, कविता और साहित्यिक चिंतन के शुरुआती दौर में ही कभी ओशो अपनी किताब की भूमिका लिखवाने के लिए उनके पास आए थे। उनकी आवाज इतनी मोहक और गंभीर थी कि वे किसी पटकथा का आलेख बांच रहे हों या लाल किले की प्राचीर से बोल रहे हों तो लगता था, यह किसी निर्बंध, निस्संग, निर्मल सूफी कवि-मन के कंठ से निकले शब्दामृत हैं। उनके कंठ में वैसी ही कशिश थी, जैसी उनके युवा दिनों

में थी। मेरे इसरार पर उन्होंने अपना एक बहुत प्रिय गीत गाकर सुनाया था :

जग सुने न इतना धीरे गा
चुपचाप सुलग, बाहर मत आ
कब किसका दर्द बंटाय है कोलाहल ने
ये कहा पपीहे से सन्यासी बादल ने
यों नया नया कांटा भी कोमल होता है
पर विगत चुभन की सुधि से ही जग रोता है
जब भला बुरा सब आंका जाता है इति से
तू ही फिर क्यों अनभीगे स्वप्न संजोता है
अँधी आती है आने दे
मन बुझता है बुझ जाने दे
कब ढला सूर्य लौटाया है अस्ताचल ने
ये कहा किसी मरणोन्मुख से गंगाजल ने।

उत्तरवय में भी उनकी आवाज का जादू अप्रतिहत था। कहते हैं, उनके गीत का चंदोवा तनता था तो नीरज जैसे सिद्ध कवि की आवाज भी फीकी पड़ जाती थी। उनसे कई बार की मुलाकातें हैं। दिल्ली में रहा, पटना में, बनारस या कोलकाता में; दो-तीन महीने के अंतराल पर उनका फोन अवश्य आ जाता था। अकादेमी पुरस्कार के बाद उनसे एक लंबी बातचीत की योजना भी बनी जिसे मैं चाहता था कि वह 'वसुधा' में छपे पर कमला प्रसाद इसके लिए राजी नहीं हुए। फिर भी मैंने सौ सवाल उनके पास इस प्रत्याशा में कई बरसों से छोड़ रखे थे कि कभी उनसे बातचीत की यह सुदीर्घ आयोजना पूरी होगी तो यह साक्षात्कार आम इंटरव्यू की रस्म अदायगी से कितना अलग होगा। पर ये सवाल धरे ही रह गए। हालांकि औचक मुलाकात होने या बातचीत के दौरान वे बार बार आश्वस्त करते कि ओम, आपके सवाल मैंने सहेजकर रखे हैं, धीरे-धीरे इनके उत्तर लिखूंगा। पर बीच बीच में वे किन्हीं और रचनात्मक कामों में उलझ जाते और वे सवाल अंततः अनुत्तरित ही रह गए।

कविता के प्रति कैलाश वाजपेयी की आसक्ति प्रारंभ से ही थी। पर यह जानकर दुःख होता था कि हिंदी की दुनिया उन्हें कवि मानने से कतराती है। हिंदी आलोचना की संकीर्णता एक तरफ, समकालीन कवियों में भी उन्हें लेकर एक संकोच बना रहा। जबकि उनके सामने अनेक फीके कवियों की दुकानें सदैव सजी-धजी रहीं। ऐसी निस्पृहता मैंने और किसी कवि में नहीं देखी कि जिसे लेकर बातचीत की ऐसी विरल योजना बनाई हो, पर उसे छपा हुआ देखने की कोई ललक उसमें न हो। हां जब उन्होंने 'हवा में हस्ताक्षर' पर मेरी समीक्षा पढ़कर फोन किया तो उनसे उनकी कविता पर एक लंबी बातचीत ही हो गई। उन्हें सुनकर अचरज हुआ कि 'संक्रात', 'तीसरा अँधेरा', 'देहांत से हटकर', 'महास्वप्न का मध्यांतर', 'भविष्य घट रहा है', 'पृथ्वी का कृष्णपक्ष' व 'सूफीनामा' से कुछ विरल उदाहरण देने वाला यह शख्स आम समीक्षकों से हटकर है। बाद के दिनों में उनसे समय-समय पर मुलाकातें होती रहीं। उनकी कई कृतियों- 'डूबा-सा अनडूबा तारा', 'है कुछ दीखै' आदि पर लिखने का अवसर मिला। मिलने पर वे अपनी नई आई किताबें जरूर देते। उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार अनेक समकालीन कवियों की तुलना में देर से मिला पर इसका उन्हें। कभी मलाल नहीं रहा। उनकी

साहित्य साधना के सम्मुख कोई भी संस्थागत सम्मान छोटा प्रतीत होता था। पर विडंबना यह कि जिसके वैदुष्य का लोहा विश्व भर के प्राच्यविद्याविद् मानते रहे हों, जिसके काव्य में युगीन विशोभ और मानववादी चिंतन की छवियां विद्यमान हों, उसे हिंदी की संकीर्ण दुनिया की कितनी उपेक्षा सहनी पड़ी। लिहाजा, उन पर आज एक भी ढंग का आलेख, एक भी ढंग की पुस्तक नहीं है जिसे देख कहा जा सके कि उन्हें, उनके कवि व्यक्तित्व और उनकी कृतिकारिता को पहचानने की कोई संजीदा कोशिश की गयी है।

जिस तरह कबीर की कविता को पहचानने में हमें कोई पांच सौ वर्ष लगे, कुछ वैसी ही त्रासदी कैलाश वाजपेयी की कविता के साथ हुई, जिसे पहचानने में लगभग पचास वर्ष लग गए। उनके कविता संग्रह 'हवा में हस्ताक्षर' को साहित्य अकादेमी ने पुरस्कृत कर न केवल देर आयद दुरुस्त आयद की पुष्टि की बल्कि अपनी कविता के बलबूते दुनिया के कुछ इने-गिने कवियों के समकक्ष रखे जा सकने योग्य वाजपेयी के कृतित्व को चर्चा में लाकर हिंदी आलोचना को भी आत्मालोचन के लिए विवश किया। साठोत्तर कविता-परिदृश्य में उभरे कैलाश वाजपेयी स्वातंत्र्योत्तर मोहभंग के दौर के उन कवियों में हैं जिन्होंने अपनी कविताओं में नेहरूवियन मॉडल की पुरजोर ढंग से आलोचना की है। उनके पहले ही संग्रह 'संक्रांत' में आजादी के बाद की विशुब्धकारी परिस्थितियों की एक काव्यात्मक पड़ताल मिलती है। इसकी पहली ही कविता परास्त बुद्धिजीवी का वक्तव्य उस दौर की एक तीखी याद दिलाती है जब कवि को कहना पड़ा : 'न हमारी आंखें हैं आत्मरत/न हमारे होठों पर शोकगीत/ जितना कुछ ऊब सके ऊब लिए/हमें अब किसी भी व्यवस्था में डाल दो (जी जाएंगे)'। यही वह दौर था जब 'राजधानी' कविता लिखकर उन्हें सत्ता का कोपभाजन भी बनना पड़ा : 'मेरा आकाश छोटा हो गया है/मुझे नींद नहीं आती', जैसी कविता इन्हीं परिस्थितियों की उपज है। कहना न होगा कि पृथ्वी के व्यथा-बोध से जन्मे इस संशय-- 'रोगी की भूख-सा क्या वह सब जो दिखता है, झूठा है या मेरे ही भीतर फिर कहीं कुछ टूटा है'-- के पीछे केवल खुद से किया गया सवाल भर नहीं था, अनेक वैचारिक क्रांतियों, फासीवादी गतिविधियों से गुजरते विश्व की दरकती हुई आंतरिकता की सीवनें उधेड़ने की एक कोशिश थी। निषेध और प्रतिरोध का यही तेवर देहांत से हटकर और 'तीसरा अंधेरा' तक विद्यमान है। टूटे अक्षरों का विलाप लिखते हुए कैलाश वाजपेयी ने जैसे निज के संताप को भी कविता के अयस्क में ढाल दिया है--यह अधनंगी शाम और यह भटका हुआ अकेलापन/ मैंने फिर घबरा कर अपना शीशा तोड़ दिया। 'महास्वप्न का मध्यांतर' आपातकाल की निःशब्द पीड़ा का आख्यान है तो 'सूफीनामा' उनके सूफियाना तेवर की एक मार्मिक बानगी जबकि 'पृथ्वी का कृष्ण पक्ष' में समय के स्याह संवेदन को कृष्ण के श्लेष में उपनिबद्ध किया गया है। 'महास्वप्न का मध्यांतर' पर दिनमान में रघुवीर सहाय ने लिखा था-- संक्रांत से लेकर अब तक के वर्षों में कवि ने अपने को जिस कसौटी पर कसा है, वह तत्वज्ञान की कामना करने वाले अनेक भारतीय कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रकृत और निर्मल है जबकि कवि श्रीराम वर्मा का मानना था कि उनकी कविताएं खौलते पानी में ताजे कमल-जैसी हैं।

हमीरपुर, उ.प्र. में 11 नवंबर, 1936 में जन्मे एवं पृथ्वीखेड़ा, उन्नाव के निवासी कैलाश वाजपेयी की शुरुआती शिक्षा स्थानीय संस्कृत पाठशाला में हुई। उनका गांव गढ़ाकोला से महज 3 किमी पर है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, निराला, रामविलास शर्मा और शिवमंगल सिंह 'सुमन' जैसी विभूतियां इसी

इलाके में जन्मीं। लखनऊ विश्वविद्यालय से एम.ए., पी-एच.डी. कर वाजपेयी ने टाइम्स ऑफ इंडिया, मुंबई से नौकरी शुरू की। बाद में शिवाजी व हास्तिनापुर कालेज, दिल्ली में अध्यापन करते हुए वे रीडर पद से सेवानिवृत्त हुए। कविता और संगीत का शौक कैलाश को बचपन से ही था जो ननिहाल के सान्निध्य में उत्तरोत्तर परवान चढ़ा। मैत्री पर हुए आघात पर लिखी पहली कविता बड़े मामा ने दैनिक प्रताप में छपवाई। शुरुआत में कैलाश ने सुललित गीतों की राह चुनी किंतु डॉ. प्रेमशंकर जैसे मित्रों की सलाह पर वे मुक्त छंद की दुनिया में रम गए। उनकी स्मृति-दीर्घा में आचार्य नरेंद्रदेव, डॉ. राधाकमल मुखर्जी, डॉ. लोहिया व डॉ. देवराज जैसे मनीषियों और सज्जाद जहीर, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, रघुवीर सहाय, अमृतलाल नागर, धर्मवीर भारती और मजाज जैसे रचनाकारों की यादें जीवंत थीं। मुंबई उन्हें अभिनेताओं के कारण रास नहीं आई तो दिल्ली आकर उन्हें अभिनेताओं से भी गए-गुजरे नेता मिले। जीविका के चलते दिली इच्छा न होते हुए भी दिल्ली में बसना पड़ा।

‘संक्रांत’, ‘देहांत से हटकर’, ‘तीसरा अँधेरा’, ‘महास्वप्न का मध्यांतर’, ‘सूफीनामा’, ‘पृथ्वी का कृष्ण पक्ष’, ‘भविष्य घट रहा है’ व ‘हवा में हस्ताक्षर’ जैसी काव्यकृतियों के रचयिता और ‘आधुनिकता का उत्तरोत्तर’, ‘शब्द संसार’, ‘है कुछ दीखै’ और व ‘अनहद’ जैसी चिंतनपरक कृतियों व युवा सन्यासी (नाटक) के लेखक कैलाश वाजपेयी का कविता लिखने और सोचने-विचारने का सांचा समकालीनों से अलग है। कविता और चिंतन के एक सतत और स्वनिर्मित वातावरण में रहने वाले कैलाश वाजपेयी की कविताओं पर अस्तित्ववाद का एक झीना-सा असर अवश्य दिखता है। निर्वासन, ऊब, अजनबियत और निषेध की जानी पहचानी शब्दावली से ऐसा आभास होता है किंतु विचारधाराओं से उनकी अनासक्ति बराबर बनी रही है। वे कहते हैं, मैं अपने को सार्वभौमिकता से जुड़ा हुआ कवि मानता हूँ जो निरंतर अपने अहं का आत्मशोधन करने में रत है। उनका मानना है विचारधाराओं ने कलाओं को बहुत क्षति पहुंचाई है। पुरस्कार-प्रसंग में वे कहते हैं, एक रचना का सही, अभीप्सित रूपाकार में ढलकर कागज पर उतर आना ही रचयिता के लिए स्वयं एक उपहार से कम नहीं होता। उसकी सफल, सटीक अभिव्यक्ति से कवि को जो सुख मिलता है, वह निर्वचन से परे है। कैलाश वाजपेयी की कविताओं में एक ऐसी मानवीय सभ्यता की झलक मिलती है जो बुरी तरह से क्षत-विक्षत है। देश की राजनीतिक मूल्यहीनता के अलावा दुनिया के पूंजीपरस्त देशों में वैभव के अतिरेक से जन्मी सड़ंध और खोखली होती जीवनचर्या की आंखिन देखी की जिस अनुभूति से वे गुजरे हैं, उनकी कविता इसी आत्मपीड़ित मनुष्यता का शोकगीत है। जिस आत्मपीड़ा के साथ वे यह कहते हैं कि एक सिल की तरह गिरी है स्वतंत्रता और पिचक गया है पूरा देश, उससे कवि के टूटे अक्षरों के विलाप की वजह समझ में आती है।

शब्द संसार की यायावरी में रमे वाजपेयी ने अपने जीवनकाल में तमाम देशों की यात्राएं कीं तथा सांस्कृतिक विनिमय के तहत अनेक देशों में काव्यपाठ किए और व्याख्यान दिए। अनेक देशों में वे विजिटिंग प्रोफेसर रहे। प्रसारण के लिए सर्वाधिक प्रभावी आवाज के स्वामी वाजपेयी ने अनेक कवियों, चिंतकों—कबीर, हरिदास, सूरदास, जे कृष्णमूर्ति, रामकृष्ण परमहंस और बुद्ध के जीवन दर्शन पर दूरदर्शन के लिए वृत्तचित्र भी बनाए हैं। स्पैनिश और अंग्रेजी में कविता संग्रहों के अलावा रूसी, जर्मन, डेनिश, स्वीडिश और ग्रीक आदि कई भाषाओं में उनकी कविताओं के अनुवाद हुए हैं। हिंदी

अकादमी, एस.एस.मिलेनियम एवार्ड व व्यास सम्मान सहित साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित किया जाना उनका नहीं, बल्कि समूची जाग्रत हिंदी मनीषा का सम्मान है।

कैलाश वाजपेयी की चिंता ध्वस्त होती जा रही पारिस्थितिकी और पर्यावरण असंतुलन को लेकर रही है। वध हो रहे वृक्षों, बाँझ हो रही पृथ्वी और क्षीण हो रही नदियों को लेकर थी। वे अकारण नहीं कहते थे कि भविष्य घट रहा है। कपिल के सांख्य का आखिरी भोजपत्र फंसा फड़फड़ा रहा— अंत हो रहा या शायद पुनर्जन्म पस्त पड़ी क्रांति का। उनकी कविता भारतीय और पाश्चात्य विचार-सरणियों, आर्ष ग्रंथों, मिथकों और आख्यायिकाओं के विपुल अध्ययन-चिंतन का परिणाम है। उनकी प्रज्ञा बहुवस्तुस्पर्शनी है। शब्द संसार और अनहद का विमर्शमय संसार यह बताता है कि वाजपेयी की दिलचस्पी साहित्य के अलावा कितने ही साहित्येतर अनुशासनों में है। पूंजीवादी सभ्यता के विकारों, वैश्विक हलचलों, बाजारवादी आक्रामकताओं, बर्बरताओं, नस्लवादी स्वार्थपरताओं, नैतिक स्वलनों, अतिरेकों और परिवर्तनों की महीन से महीन कसमसाहट को उनकी कविता में सुना जा सकता है। उनकी कविता में भूखे की भाषा भी है और तृप्तात्म की देशना भी। यही कारण है कि समकाल की रट लगाती आलोचना कैलाश वाजपेयी की कविता में समाए काल-दिक्काल की गहराइयों में उतरने का धीरज नहीं दिखाती। जो लोग अभी भी उनकी कविताओं को नियतिवादी और अध्यात्मवादी लटक-झटकों का इतिवृत्त-भर मानते हैं, वे भुलावे में हैं। दरअसल उनकी कविता ध्वंस का जयगान नहीं है, सर्जना का अग्निपथ है। उसके स्फटिक प्रवाह में सामाजिक सरोकार तैरते नहीं दीखते। उसमें तत्वचिंतन की महक है। पृथ्वी के अस्तित्व को बचाने की प्रार्थना है। उनकी कविता आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों से निमज्जित है, जिसे सांख्यकारिका— दुखत्रयाभिधाताज्जिज्ञासा: के आलोक में पढ़ा जा सकता है।

कैलाश वाजपेयी पुस्तकों के सतत सान्निध्य में समय बिताने वाले कवि थे। अपने अध्ययन कक्ष में राजनीति, इतिहास, धर्मशास्त्र, महाभारत, पुराण, दर्शन, मिथक और नव्य कलाओं सहित नाना प्रकार के विषयों में खोए रहने वाले वाजपेयी के चिंतन में बहुआयामिता थी। उत्तर जीवन में उनकी दो कृतियां आई— 'डूबा-सा अनडूबा तारा'— प्रबंध काव्य और 'है कुछ दीखै' और— गद्यकृति। 'डूबा सा अनडूबा तारा' भ्रूणहत्या के उत्स की खोज में महाभारत की पृष्ठभूमि से उठाए गए कथ्य पर आधारित है, जिसके केंद्र में अश्वत्थामा हैं पर न तो वह इस काव्य का नायक है, न खलनायक, वह मात्र द्रष्टा है। वे इस बात के हामी हैं कि स्मृति में वही कविता जीवित रहेगी जिसमें किसी न किसी रूप में लयात्मकता होगी। यही कारण है कि प्रबंधकाव्य 'डूबा-सा अनडूबा तारा' में वे फिर लयात्मकता की ओर लौटे। यही नहीं, उनके आगामी लक्ष्यों में छंद के पुरोध कवियों और गीतकारों पर एक बड़ी परियोजना शामिल थी। विश्व के अनेक महान लेखकों-चिंतकों से हुई मुलाकातों को भी वे तरतीब देने में जुटे थे। अपने उत्तर जीवन को किसी ऊब और आलस्य के हवाले न कर वे सचमुच कुछ ऐसी कृतियां सौंप जाना चाहते थे जो साहित्य की संकरी पारिभाषिकी में नहीं अंटतीं। यह पूछने पर कि फिर से चुनने को मिले तो क्या कवि-जीवन का ही वरण करेंगे? वे दृढ़ता से हां करते हुए कहते थे कि 'इससे अधिक स्वतंत्रचेता जीवन कोई दूसरा नहीं हो सकता। इसलिए राजनीति तो बहुत दूर की चीज है, किसी भी दल के दलदल में फंसने का मन नहीं होता।' अगर आपको सचमुच दुनिया को निस्संग भाव से देखकर उस पर टिप्पणी करनी है तो आप पर किसी

प्रकार का दबाव नहीं होना चाहिए, चाहे वे आर्थिक हों या पद-सत्ता प्रदान करने वाले प्रलोभन हों। उनकी चिंताओं में पृथ्वी को बचाने की आकुलता सर्वाधिक थी, क्योंकि मनुष्य की स्वार्थपरता और मुनाफाखोरी ने पंचमहाभूतों को विकृत कर डाला है। वे कहते थे, जो जितना कोमल, विकसित और प्रकृति प्रदत्त है, उसे मनुष्य नष्ट करता जा रहा है। सत्रह सौ प्रजातियों की चिड़ियों में आज कितनी कम बची हैं? वे पूछते थे। इस तरह नष्ट होते मूल्यों, प्राणि प्रजातियों से लेकर मनुष्य के क्षीण होते मेटाबालिज्म तक की उन्हें चिंता रही। उनके लिए उस समृद्धि का भी कोई अर्थ नहीं, जिसकी चकाचौंध में जीवन नदारद हो। बकौल वाजपेयी, हर कोई मरता नहीं दुःख की पीड़ा से/ सतत सुख-शांति भी मार देती है लोगों को।

एक सतत चौकन्नी और सयानी अंतर्दृष्टि के चितरे कैलाश वाजपेयी ने दुःख की छत्रछाया में फलते अप्रतिष्ठित जीवन को उकेरा है तो लगभग अज्ञेय की ही तरह ऊबे हुए सुखियों के विषण्ण संसार की भी धज्जियां उड़ाई हैं। एक निर्बंध, निस्संग, निर्मल और सूफी मन वाले कैलाश वाजपेयी दुनिया के तमाम देशों में अपनी आवाजाही के बावजूद आखिरकार यही कहते हैं कि अपनी जड़ों की पड़ताल के बिना क्रांति कहां? विश्व के ज्ञान-विज्ञान से संपृक्त उनका कवि-मन बार-बार श्रीमद्भागवत, महाभारत, रामायण के पुरा प्रसंगों, मिथकों और भारतीय दर्शन की ओर लौटते हुए यही जताता है कि अंततः वह इसी महादेश की धूल-मिट्टी और जलवायु का कवि है।

कैलाश वाजपेयी सभ्यता के ध्वंस, मानवीयता के लोप, बंजर होते संवेदन और संताप से झुलसते आँसुओं पर विलाप करने वाले कविता के एक ऐसे वरिष्ठ नागरिक हैं, जिन्हें भले ही हिंदी के आलोचक कवि के रूप में खास तरजीह नहीं देते— प्रशस्तिपत्रों से लदे-फंदे आलोचकों की सूचियों में उनका नाम प्रायः नहीं मिलता, पर उनकी आवाज इतनी वेधक, प्रखर और सत्वग्राही है कि वह अपने अनहद से निष्करुण होती पृथ्वी तक को कंपा दे। कविता का यह तात्विक-सात्विक स्वर कैलाश वाजपेयी के फहले संग्रह- 'संक्रांत' से लेकर 'हवा में हस्ताक्षर' तक में समाया हुआ है।

मुझे 'महास्वप्न का मध्यांतर' संग्रह की कैलाश वाजपेयी की जन्मफल शीर्षक कविता की वे पंक्तियां नहीं भूलतीं, जिसमें वे कहते हैं :

कहीं भी लड़ाई हो
मुझको लगता है गृहयुद्ध हो रहा है
लोगों से दुख का दान मांगता हूं
बदले में देकर चंदन, कपूर, फूल, धूप, अगरबत्तियां
मैं चाहता हूं सब पारपत्र जला दिए जाएं
किसी भी अंकुर का मुरझाना सार्वजनिक शोक हो
जो आदमी-आदमी के बीच खाई हों
ऐसे सब ग्रंथ अश्लील कहे जाएं।

'महास्वप्न का मध्यांतर' के इस कवितांश में कवि की विक्षुब्धता का जो स्वरूप हम देखते हैं, वह 'सूफीनामा' और 'भविष्य घट रहा है' तक आकर मनुष्य के नैतिक स्वल्पनों पर धारदार चोट करने वाला सिद्ध हुआ। खत्म होती हुई सदी के साथ जीवन से खत्म होती जीवंतता, मनुष्य से विलग होती मनुष्यता और निरवधि काल से घटते भविष्य की ओर कवि का इशारा यह जताने के लिए पर्याप्त

है कि तकनीकी तौर पर समुन्नत होती हुई दुनिया और सूचना विस्फोट के वैभव से भरे इस दौर में मनुष्य-सज्जित तकनीक ही आज उसके वेदन तंत्र को निष्करण और अमानवीय बना देने पर आमामादा है। दूसरे शब्दों में, यांत्रिकता और मनुष्यता, पूंजी और नैतिकता आज आमने-सामने हैं। भूमंडलीकरण और बाजारवाद के पसरते प्रभुत्व ने सदियों की हमारी सांस्कृतिक विरासत की चूल्हे हिला दी हैं। हमारी संवेदना को जड़ बनाते पूंजी के प्रेतों ने हमारे इर्द-गिर्द प्रलोभनों का जाल बिछा दिया है, जिसके परिणाम निश्चय ही शुभंकर नहीं हैं। 'हवा में हस्ताक्षर' कवि के कारुण्य, विशोभ और उसकी कबीरी फटकार की साखी बन गया है।

एक समय था, उन पर अस्तित्ववाद का प्रभाव जबर्दस्त था। मृत्यु, अवसाद, ऊब, अकेलापन इस विचारणा के ही नहीं, कैलाश वाजपेयी की कविता के निजी लक्षण भी थे। वे नीत्से की तरह क्षुब्ध होकर कहते थे--हम सब अपनी मृत्यु से बहुत पहले ही मर गए हैं। दशकों तक दुनिया के अनेक देशों में घूमे-फिरे कैलाश की चेतना ने वैभव के अतिरेक से जन्मी अति आधुनिकता के प्रतिफल को प्रत्यक्ष महसूस किया था और भीतरी दिक् के अलावा एक और भूख उन्हें पुकारती-सी लगती थी, सामाजिकता से जिसका तालमेल बिठा पाना उन्हें कठिन लगता रहा है। एक समय तक धूमिल, श्रीकांत वर्मा, चंद्रकांत देवताले, लीलाधर जगूड़ी, जगदीश चतुर्वेदी और कैलाश वाजपेयी लगभग एक तरह के कथ्य और शिल्प के वशीभूत रहे हैं--परन्तु अन्य कवियों पर जहां यह मुलम्मा ऊपर से नजर आता था, कैलाश के यहां यह स्वतः अंतर्भूत था, क्योंकि उन्होंने जीवन की धज्जियां उड़ते देखीं, निज के अनुभव को महसूस और जिया था। यही वजह है कि अस्तित्ववाद के अनुगायक लगते हुए भी उनकी कविता का प्रतिफल मानवीय और ऊध्वमुखी रहा है।

'हवा में हस्ताक्षर' की कविताएं बताती हैं कि सच्चा कवि स्वयं विषपायी होकर भी दुनिया को जीने योग्य बनाने के लिए प्रतिश्रुत रहता है। नवक्रांति में उनका कथन कि तुम अगर परिवर्तन के पक्षधर हो/ मिट्टी से शुरू करना, जो बांझ हो रही है/ वृक्षों से शुरू करना जिनका वध हो रहा बेरहमी से-- और गेहूं में गेहूं की अभिलाषा कि 'वह जब पक जाए तो किसी शराबी-अघाए अय्याश की आंत में न जाए, किसी फटेहाल थके पेट की जलती भट्टी में स्वाहा होता हुआ उसकी तृप्ति बन सके'- वही उसके सुनहरे विकास का मोक्ष होगा--कवि को प्रकृति और सर्वहारा की चिंता से जोड़ता है। आर्यत्व के हमारे दंभ को चकनाचूर करता हुआ कवि जब यह निष्कर्ष सामने रखता है कि 'पिछले वर्षों में हमने पचीस लाख बहुएं जलाई हैं/ आप ही तय करें हम आर्य हैं या कसाई हैं--' तो कैलाश वाजपेयी पर चस्पा आध्यात्मिक रुझान और गैरिक-वसना चिंतना का आरोप स्वतः ही निर्मूल हो उठता है। वे दरअसल किसी आध्यात्मिकता के अनुगायक नहीं, सांसारिकता के कालुष्य फर प्रहार करने वाले कवि हैं। उनकी कविता दुख की पीड़ा से मरते व्यक्ति की ही नहीं, सतत् सुख-शांति से भी मरते लोगों की खबर लेती है। आधुनिकता के घटाटोप से घिरे समाज में उन्हें होरी की कोई जगह नजर नहीं आती जैसे केदारनाथ सिंह को कुदाल की। इस तरह उनकी कविता आधुनिकतावाद और उत्तर आधुनिकतावाद की व्याधि के विरोध में स्वर बुलंद करती है। वधिक संस्कृति और उपभोक्तावादी प्रवृत्ति के चलते आज हममें दुधारू पशुओं से अपना काम निकालने के बाद उन्हें कल्लगाह तक पहुंचा आने का कोई क्षोभ नहीं रहा-- 'गैया किसी हिंदू अंतःकरण से उपजी कविता नहीं है, वह हृदय में दबी हुई आह है जिसका, कवि के शब्दों में, बाजार में कोई मूल्य नहीं।' अकारण नहीं कि प्रगतिशील

चेतना के कवि भगवत रावत तक ने गाय के हकाल दिए जाने की पीड़ा दर्ज की है तथा उन लोगों पर गहरा व्यंग्य किया है जो अपने को उनकी मिठास का पहला वारिस मानते हैं (ऐसी कैसी नींद)। राजनीतिक तौर पर भी कैलाश वाजपेयी की कविताएं सचेत हैं—वे लेनिन के ध्वस्त समता महल या कि विलीन तिब्बत का निहितार्थ सत्ता के खेल में देखते हैं और धिक्कार से गाए जा रहे राग परदेसिया में स्वदेशी गले की कफ भरी घरघराहट नोट करते हैं। बलि का बकरा बनते जनमत और दिनोंदिन खत्म होते जमीर में उन्हें एक विलक्षण संगति नजर आती है। वे पृथ्वी की कोख में उठती मरोड़ और बाहर पसरे धब्बों के धुंधलके पर अवसन्न दिखते हैं।

‘हवा में हस्ताक्षर’ ‘की उद्भावना’, ‘मुंबई ब्लास्ट’, ‘विश्व पुस्तक मेला’, ‘लाल डोरा’, ‘जीवन बीमा’, ‘तरुदेवो भव’, ‘प्रत्यावर्तन’, ‘प्रेमयुद्ध’, ‘मधुमेह’, ‘न मिले की गांठ’, ‘त्रिपदी’, ‘द्रव्यद्रवित’, ‘नींद में हादसा’ और ‘सर्गविहीन’ आदि अनेक कविताएं ऐसी हैं, जिन्हें पढ़कर कविता के वीरागियों को भी कवि से अनुराग हो जाए। कवि के शब्दों में— ‘क्षत-विक्षत होकर भी/सिद्धहस्त है सजने संवरने में कृति/ निसर्गतः पुनर्जन्मवादी है/बिगड़ी कहां तक बिगड़ेगी/बार-बार डूब कर तिर आने की युक्ति जानती है वसुंधरा।’ यह तो कुटिल सांसारिकता के प्रत्याघातों से बने कैलाश वाजपेयी की कवि-संवेदना है जो लौ में अपना आत्मकथ्य सहेजती हुई किसी ठंडे एकांत में जागती बचपन में लगी लौ से आखिरी लपट की लौ तक पहुंचने की चाह में निर्विकार दिखती है। कैलाश वाजपेयी की कविताओं का स्पेस बड़ा है, जीवन के विरुद्ध रचे जा रहे मानवीय, राजनीतिक और वैश्विक षडयंत्रों के विरुद्ध ये एक श्वेतपत्र की तरह हैं, जिनमें तार्किकता और जिरह का सहमेल है तो मनुष्यता के कद को पतन की गहरी खाई में ढकेलती शाक्तियों के प्रति सात्विक आक्रोश तथा जो कुछ लुप्त हो रहा है, उसे बचा लेने की नैतिक विकलता और दुखी सीने को थपथपाती सहृदयता भी। यद्यपि कहीं कहीं एक सजल किस्म की भावुकता भी इन कविताओं में सांस लेती है।

कैलाश वाजपेयी की कविता में समाए अध्यात्मवाद की चर्चा बहुत की जाती है। उनकी कविताओं में मौजूद जीवन के यथार्थ और मनुष्य के संघर्ष की चर्चा नहीं होती जबकि शिवाकाशी के पटाखा उद्योग में जुते बच्चों पर ज्ञानेंद्रपति कविताएं लिखते हैं तो कैलाश वाजपेयी की कविता फिरोजाबाद के चूड़ी बनाने के कारखाने में दहकती भट्टियों के समीप टकटकी लगाए सैकड़ों बच्चों पर है जहां हजारों नन्हीं हथेलियां लपटों के सम्मुख हैं। उन भट्टियों से निकलती कांच की चूड़ियां भले सुहागन की कलाइयों की शोभा बनती हैं पर केवल कवि को पता है कि ये किस तरह बच्चों के पसीने और श्रम का प्रतिफल हैं। यह जो कैलाशजी के यहां उदासी है, ऊब है, तीखापन है, म्रियमाण होती दुनिया की छाया है, उसके पीछे उनके अवलोकनों का सत्यापन है। वे भविष्य घट रहा है की पहली ही कविता में कहते हैं :

कोलाहल इतना मलिन
दुख कुछ इतना संगीन हो चुका है
मन होता है
सारा विषपान कर
चुप चला जाऊं
ध्रुव एकांत में

सही नहीं जाती
पृथ्वी-भर मासूम बच्चों
मांओं की बेकल चीख ।

भविष्य घट रहा है इस दुनिया को देखने का एक विरल दृष्टिकोण है। चकाचौंध और नई जीवनशैली के विराट अंधकार को केवल कवि ही देख सकता है। वही लिख सकता है :

खत्मा हुई चीजों की खरीद का विज्ञापन
युवा युवतियों को बुला रहा
कि गर्भ की गर्दिश से बचने के
कितने नए ढंग अपना चुकी है
मरती शताब्दी

शोर-शोर सब तरफ घनघोर
नेता सब व्यस्त कुरते की लंबाई बढ़ाने में
स्त्रियां
उभारने में वक्ष
किसी को फिक्र नहीं सौ करोड़ वाले
इस देश में
कितने करोड़ हैं जो अनाथ हैं
कुत्तों की फूलों में कोई रुचि नहीं
न मछलियों का छुटकारा
अपनी दुर्गंध से
यों सारी उम्र रहीं पानी में।

वे खुसरो और गालिब के नाम खत लिखते हैं, तो रैदास, गोरखनाथ, रसखान व अब्दुलरहीम खानखाना, कार्ल मार्क्स से भी उसी आत्मीर्यता से बतियाते हैं। ऐसे में वे प्राच्य पुरुष और कवियों के सखा-सरीखे लगते हैं। उनकी कविता राजनीति की कारगुजारियों से लगभग असंतुष्ट रहने वाली कविता है, इसीलिए वे कहते हैं- 'कोई उलटता नहीं सरकारें/ राजनीति खुद आत्मघात करती है।' 'महास्वप्न का मध्यांतर' में एक कविता बांस पर है। तुलसी कह गए हैं- 'फूलहिं फरहिं न बेंत जदपि सुधा बरसहिं जलद।' वाजपेयी बांस को संबोधित कर कहते हैं- 'तुममें सुगंध और रंग की एक बेजबान नदी बंद है/ तुम्हें अगर खिलना आ जाए/ दुर्दिन नस जाए उपवन का/...तुम विस्तृत साम हो बांस बेहूदे/...कैद है तुममे ऐसा आकाश अनवरुद्ध कोख हर सरगम की।' (ऊंचे धरातल से वह) यह वही कैलाश वाजपेयी हैं 'संक्रांत', 'तीसरा अंधेरा' व 'देहांत से हटकर' संग्रहों तक जिसकी भाषा की तल्लीन दूर से पहचानी जाती थी। तब उनका मुहावरा विमुक्त शती के लोगों से-जैसी कविता को पढ़ कर जाना जा सकता था। यह वही दौर था जब न केवल कवियों में सत्ता को लेकर मोहभंग था, बल्कि- उस दौर के बुद्धिजीवियों से भी एक खास तरह की नफरत थी। सब चुप साहित्यिक चुप कहकर मुक्तिबोध ने बुद्धिजीवियों पर जैसा कटाक्ष किया है, कैलाश वाजपेयी की इस कविता का अंत कुछ ऐसे ही कटाक्ष से होता है : 'दरअसल हम बहुत बड़े ढोंगी थे/ अपने जमाने के/ नफरत

भी करते थे सत्ता से/ कायल थे पूंछ भी हिलाने के/ यों बुद्धिजीवी थे/ घायल थे!”

उनकी उत्तरवर्ती कविताओं के रचाव में प्रारंभिक दौर वाली तल्लीनी नहीं रह गयी थी बल्कि मन की मौज में कभी कभी मुक्त छंद में मुक्तक भी लिख लिया करते थे, कभी-कभार एकाधिक गीत भी। एक त्रिपदी में वे लिखते हैं :

दुख को है दुःख/उसको चाहता कोई नहीं

और सुख को दुःख

उसकी आंख अनरोयी रही

मार सुख की मार से सोयी नहीं

इसी तरह एक मुक्तक और देखें--

रात अपनी कालिमा से बेखबर

सूर्य पर चिनगारियों का क्या असर

लाख तू ठहरे मुसाफिर राह में

बिन चले भी खत्मा होगा यह सफर!

छोटी छोटी रचनाओं में भी वे अपने होने की छाप छोड़ते हैं। वे देश, काल और जीवन के विराट संदर्भों के कवि हैं। उनकी कविता में तत्त्वचिंतन की महक है। समकालीनता उनकी कविता के लिए एक छोटा पद है। उनकी कविता में बेशक आध्यात्मिकता का राग-रंग प्रखर है, व्यक्तित्व से कृष्णगंध और वृंदावनता की प्रतीति होती है, किंतु आचरण में वे निपट सूफी लगते हैं। वे शुरू से ही उस आलोक की खोज में लगे हैं जो संक्रांत से लेकर ‘हवा में हस्ताक्षर’ तक की कविताओं में दिखाई देती है। कुछ बीज शब्दों- यथा, अग्नि, माया, निरुक्त, पुनर्जन्म, मोक्ष, भाषा, देशना, दुख-सुख, नियति, फांस, लालसा और अनहद के सहारे वे कविता में अपने विचारों का वितान रचते हैं। मृणमय संसार की अनुभूति उनमें समाई थी तो सांसारिकता के खटराग से भी वे अपरिचित नहीं थे। उनके विचारों में तमाम विचारकों की छायाएं डोलती हैं। व्यतीत से वीतराग कैलाश को जब तब समय की अंजलि में थोड़ा-सा जल दिखता तो कभी भीतर से एक पुकार उन्हें मथती- ‘कहां जन्मता मैं कि होने की तृष्णा हो जाती निरबसिया! समय और नियति के संताप को इतने गहरे ढंग से व्यक्त कर सकने वाला कवि हिंदी में शायद दूसरा न हो। दुःख है कि आज की आलोचना में वह सदाशयता नहीं है, जो कैलाश वाजपेयी जैसे कवि के महत्व को समझ सके। वह तो कविता की अतल गहराइयों में डूबे बिना ही हमेशा फौरी नतीजे घोषित करने की हड़बड़ी में रही है। कदाचित् कैलाश जैसे कवियों के लिए ही कहा गया है--कालोह्य निरवधिः विपुला च पृथ्वी।



एक क्रांतिकारी दलित स्वर का खामोश हो जाना

वैभव सिंह

मार्क्सवादी-अंबेडकरवादी विचारक तुलसीराम का विगत 13 फरवरी 2015 को फरीदाबाद के एक अस्पताल में निधन हो गया और उसने हिंदी जगत को शोकग्रस्त कर दिया। निधन के साथ ही पूरे हिंदी जगत में श्रद्धांजलियां, शोकसभाएं, अखबारों में सूचनाएं व उनके साहित्यिक योगदान को लेकर बड़े पैमाने पर चर्चाएं आयोजित की गईं। उनका निधन दिल्ली जैसे बेवजह अस्त-व्यस्त और विचारों के लिए समय न रखने वाले महानगर में एक बड़े बौद्धिक केंद्र के विदा हो जाने के रूप में देखा गया। इसका कारण यह भी था कि वह पूरी हिंदी पट्टी की समस्याओं और बहसों को अपने लेखन में सघन तरीके से पूंजीभूत करते थे और संस्कृति का मुखौटा लगाकर फलने-फूलने वाली पिछड़ी चेतना को निरंतर अपने नुकुले तर्कों से तार-तार कर देने की बौद्धिक ईमानदारी का परिचय देते थे। वह हिंदी की कुछ आदतन सुस्त किस्म की बौद्धिकता को वैचारिक धार व दिशा प्रदान करते थे। साहित्य से राजनीति तक नहीं जाते थे बल्कि राजनीति से साहित्य की तरफ आए थे। उनकी सामाजिक संवेदना निजी अहं के कारण क्षुद्र या सीमित नहीं हुई थी बल्कि निजी अहं की दीवारों को तोड़ सकने की क्षमता के कारण ही ज्यादा खुले व उदात्त रूपों में व्यक्त होती थी। उनकी मृत्यु से कुछ समय पूर्व दिल्ली स्थित आईसीसी के सभागार में उनकी आत्मकथा के दूसरे खंड 'मणिकर्णिका' पर आयोजित चर्चा में उन्हें सुनने का मौका मिला था। डायलिसिस और गंभीर रोगों के बावजूद जीवन से भरी उत्साहपूर्ण ताजगी उनके शब्दों से छलक रही थी। वह अपनी मृत्यु के प्रति बड़े निर्दयी ढंग से बेफिक्र थे और जीवन के हर क्षण को जीते हुए प्रतीत होते थे। अपने अतीत के बारे में खास संजीदगी से चर्चा करने के बजाए उसे लेकर काफी सरलता से बात कर रहे थे। उस दिन एक किस्सा भी उन्होंने सुनाया था जिसमें बताया था कि किस तरह युवावस्था में ताल्लताय की तरह वह भी किसी लड़की के प्रेम में दीवाने होकर उसके पीछे ट्रेन से कलकत्ते तक जा पहुंचे थे और बाद में उन्हें उस प्रेम को कठोर मन से तिलांजलि देनी पड़ी।

तुलसीराम जेएनयू नई दिल्ली में 'सेंटर फार रशियन एंड सेंट्रल एशियन स्टडीज' में प्रोफेसर थे और अंग्रेजी में कई महत्वपूर्ण पुस्तकों का लेखन करने के बाद उन्होंने हिंदी में निरंतर लिखा और हिंदी साहित्य के साम्राज्यवाद-नवउदारवाद से लड़ने वाले मानवतावादी स्वरों को निरंतर पुख्ता किया। उनके लेखन में विश्लेषणात्मक दृष्टि तथा सरलता का गुण उपस्थित है। धरती से उनकी देह की विदाई उनके विचारों की विदाई नहीं है। उनका लेखन खासकर उनकी आत्मकथा के दोनों खंड 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' वर्तमान के साथ-साथ आने वाली कई पीढ़ियों को भारतीय समाज

व्यवस्था में व्याप्त जातिव्यवस्था की क्रूर सचाई के बारे में प्रबोधन प्रदान करती रहेंगी। कुछ सालों तक उन्होंने 'अश्वघोष' नामक पत्रिका का संपादन भी किया जिसमें समकालीन राजनीति, साहित्य और संस्कृति के विषयों पर धारदार सामग्री प्रस्तुत की। पत्रिका का नाम उन्होंने जिस प्रकार से एक बौद्ध विद्वान के नाम पर रखा, उससे अंदाजा लगता है दलित परिवार में जन्म लेने के बाद उन्होंने बौद्ध धर्म से गहरी प्रेरणा प्राप्त की। उन्होंने दलित साहित्य को भी मूल रूप से बौद्ध धर्म से उत्पन्न बताया क्योंकि बौद्धों के त्रिपिटक (अभिधम्म, विनय, सुत्त), धेरी गाथाएं वर्णव्यवस्था विरोधी विचारों को प्रमुखता से व्यक्त करते हैं। करीब नवीं क्लास में पहली बार उनके गांव के स्कूल में उनके अध्यापक ने उन्हें राहुल सांकृत्यायन और बुद्ध के बारे में जुड़ी जीवन-कथाओं के बारे में बताया था। बुद्ध की दूसरी बातें तो उन्हें बात में समझ आई पर बुद्ध का घर छोड़कर परिभ्रमण पर निकलने की घटना उनके जेहन में हमेशा के लिए बैठ गई। उन्हें सपने आते कि वह भी बुद्ध की तरह घोड़े पर सवार होकर अपने गांव से कहीं दूर भाग रहे हैं। वह मुर्दहिया के शवों या बूढ़ों को घूर-घूर कर देखते ताकि उनमें भी जीवन के प्रति विराग पैदा हो जाए और संसार से पलायन को जायज ठहरा सकें। बुद्ध के प्रति आकर्षण और घर से पलायन की आकांक्षा का प्रमुख कारण यह था कि हाईस्कूल के बाद की पढाई के लिए उनके गांव में कोई स्कूल न था और घर वाले आगे पढ़ाने के लिए तैयार न थे। बस, ज्ञान की खोज के लिए उन्हें लगने लगा कि वे भी बुद्ध की तरह कहीं दूर चले जाएं। बुद्ध के जैसा बनने की आस में उन्होंने गांव में ही मुर्दहिया में लगे पीपल के वृक्ष के नीचे कुछ दिनों तक चिंतनशील समाधि लगाने के प्रयास भी किया पर उन्हीं के शब्दों में- 'पीपल की ऊंची डालों पर बैठे गिद्धों की दूधनुमा सफेद विष्ठा फचफचाकर मेरे सिर पर गिरती, जिससे तंद्र भंग होते ही विचार भी भंग हो जाते और मैं प्रायः पलाश के पत्तों से सिर पोंछता हुआ पत्तू मिसिर के पोखरे की तरफ भागता।'

तुलसीरामजी का लेखन आजमगढ़ के ग्रामीण जीवन की बाधाओं से लड़ते, जाति-वर्णव्यवस्था के अपमानों को झेलते तथा जीवन के विश्वविद्यालय के साथ-साथ शहरी विश्वविद्यालयों से निरंतर सीखते व्यक्ति की कथा है। आजादी के कई बरसों तक भी पूर्वी उत्तर प्रदेश वह इलाका रहा है जहां लोग मानते थे कि पढ़ने से इंसान पागल हो जाता है। खास तौर पर सवर्णों के लड़के फेल हो जाते थे। इसलिए ब्राह्मणों द्वारा यह अंधविश्वास फैलाया जाता था कि ज्यादा पढ़ने वाले का दिमाग खराब हो जाता है और अशिक्षित दलितों में ब्राह्मणों द्वारा फैलाया जा रहा यह अंधविश्वास आसानी से स्वीकार कर लिया जाता था। उनकी एक आंख की रोशनी भी तीन साल की उम्र में चेचक के हमले में चली गई थी। उन्होंने लिखा है- 'भारत के अंधविश्वासी समाज में ऐसे व्यक्ति अशुभ की श्रेणी में हमेशा के लिए सूचीबद्ध हो जाते हैं। ऐसी श्रेणी में मेरा भी प्रवेश मात्रा तीन साल की अवस्था में हो गया। अतः घर से लेकर बाहर तक मैं सबके लिए 'अपशकुन' बन गया।' इसका बुरा प्रभाव यह पड़ा कि बचपन में जहां पहले लोग उन्हें गोदी में खिलाना चाहते थे, वहीं एक आंख की ज्योति जाने के बाद लोग उन्हें अकारण 'कनवा-कनवा' कहकर अपमानित करते थे। उन्हीं के शब्दों में- 'इन्हीं पीड़ाओं में मेरा सारा बचपन लुप्त हो गया और मैं अल्पायु में ही अत्यंत संवेदनशील हो गया।'

तुलसीराम की यह सारी पीड़ा उनकी आत्मकथाओं में झलकती है और वह मानते भी थे कि आत्मकथाएं लिखी नहीं जाती हैं बल्कि रोती हैं। उन्हें लिखने वाला व्यक्ति न जाने कितनी ही बार

रोया होगा तब तक वह आत्मकथा लिखी गई होगी। इन आत्मकथाओं में व्यक्ति वंचना से किसी महानता या समृद्धि की ओर नहीं भागता, जैसा कि धनकुबेरों के जीवन की कथाएं वर्णित करती हैं। बाधाओं से लड़कर उन पर विजय प्राप्त करने का नायक गुण उनमें भी दिखता है पर मुख्य रूप से वे सामूहिकता की निजी कथाएं हैं। यह व्यक्ति वंचना से न्याय की ओर आता हुआ व्यक्ति है और अपने जैसे ही दुर्भाग्य तथा वंचना से पीड़ित लोगों की कथा सुनाता है। इस तरह दलित आत्मकथाएं निजी वृत्ताओं के माध्यम से समाज के पीड़ित-वंचित समूहों की सामूहिक दशा पर विचार करने वाले आत्मकथाएं होती हैं। उनमें व्यक्ति स्वयं को स्थापित नहीं करता बल्कि वह समाज की अन्यायपूर्ण बनावट को उजागर करता है। तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' व 'मणिकर्णिका' इन दिनों हिंदी में सबसे लोकप्रिय आत्मकथाओं में हैं और मुर्दहिया में ही उन्होंने लिखा है- 'हमारी दलित बस्ती के अनगिनत दलित हजारों दुःख-दर्द अपने अंदर लिए 'मुर्दहिया' में दफन हो गए थे। यदि उनमें से किसी की भी आत्मकथा लिखी जाती तो उसका शीर्षक मुर्दहिया ही होता।' यह पंक्ति हिंदी में रचे जाने वाले करोड़ों शब्दों के बीच अविस्मरणीय पंक्ति है क्योंकि इसमें दलितों की ऐतिहासिक पीड़ा बड़ी ही तीखी सादगी के साथ प्रकट हो गई है। तुलसीराम के लेखन कला में यही तीखी सादगी और मारक अंतर्दृष्टि हर जगह बिखरी हुई है। आश्चर्य नहीं कि उनकी कथाओं में गिद्ध और सियार का उल्लेख बार-बार होता है। इसका कारण शायद यही है कि दोनों ही मृतकों पर झपट पड़ने वाले और उसके मांस को खा जाने वाले जीव हैं। तुलसीराम के अवचेतन में भी समाज का यही बिंब है जिसमें वर्णव्यवस्था किसी गिद्ध की तरह दलितों के जीवन के पीछे लगी रहती है और उनकी सांसों व जीवन के एक-एक हिस्से को नोंचकर खा जाती है।

तुलसीराम के व्यक्तित्व में समाजशास्त्री, संपादक, लेखक, विचारक और एक्टिविस्ट जैसे कई गुण मौजूद थे और सौभाग्य से अपनी इस बहुआयामिता के बावजूद वे किसी आत्ममुग्धता के रोग के शिकार नहीं हुए। आत्ममुग्धता से यह बचाव संभवतः समाज के बारे में लगातार सोचने और राजनीतिक प्रश्नों से जुड़े रहने के परिणामस्वरूप संभव हुआ होगा। वे वामपंथ, दलित चेतना और आधुनिकता से सीखते हैं और उनसे जिरह भी करते हैं। भारतीय अकादमिक तंत्र में ऐसे प्रबुद्ध लोगों की संख्या लगातार घट रही है जो निरंतर बहस से ज्ञान पैदा करने का काम करते हैं। वे स्वयं को ज्ञानी जनों का गैर-विवादास्पद मुखिया मानने या ज्ञान का अंतिम प्रतीक बना लेने के स्थान पर स्वयं को शोधित तथा संपादित करने के लिए भी तैयार रहते थे। ज्ञान को दूसरों से आगे निकलकर अपने लिए ऊंची सुरक्षित जगह कायम करने के माध्यम के रूप में नहीं देखते बल्कि ज्ञान को ज्यादा अहं-रहित तथा सहभागितापूर्ण जीवन जीने के माध्यम के रूप में देखते हैं। सौभाग्य से तुलसीराम की ज्ञान-संवेदना में यह गुण था कि वह ज्ञान और अनुभव को सहभागिता के बल पर समृद्ध होने वाली चीज मानते थे। समाज के बारे में गहरी समझ रखने वाला इनसान ही जानता है कि मुक्ति के आख्यानो का लाभ मानवता को उठाना चाहिए पर वह यह भी जानता है कि मुक्ति के आख्यान बहुत सारी सीमाओं के भी शिकार होते हैं और उन सीमाओं को अनदेखा करना समाज-हित में अकसर ही नहीं होता है। इसीलिए तुलसीराम के लेखन व आलेखों में प्रश्नाकुलता है और वह प्रश्नाकुलता सैद्धांतिकी की जटिल शब्दावली में जाकर निरर्थक हो जाने के स्थान पर बेहद भावपूर्ण शैलियों में सामने आती है। वे लोकस्मृतियों, अनुभवाश्रित प्रेक्षकों, जन-कथाओं के सहारे जिस समाज

की तस्वीर को गढ़ते हैं वह समाज दूर होते हुए भी हमें बेहद परिचित और आत्मीय लगता है। उसमें रोचक कथाओं का मनोरंजन भर नहीं है बल्कि बेहद कठोर सचाइयों का रंग घुला हुआ है। इसी तरह उन्होंने मार्क्सवाद के वर्गसंघर्ष की थीसिस को भारतीय समाज में जाति के प्रश्नों से निरपेक्ष रहने के कारण भारत में वर्गक्रांति की असफलता के मुख्य कारण के रूप में दिखाया। वर्गक्रांति ही नहीं बल्कि भारत में स्वाधीनता आंदोलन, लोकतंत्र या राजकीय समाजवाद की अधूरेपन के पीछे भी उन्होंने जाति व्यवस्था के आतंक को जिम्मेदार ठहराया। उनके लेखन और भाषणों में जाति व्यवस्था का निजी दर्द हिंदू धर्म द्वारा हड़प लिए गए भारतीय राष्ट्र के अंतर्विरोधों की अभिव्यक्ति के रूप में सामने आता था। राष्ट्र के आधुनिकतावादी संकल्पों और समाज की वास्तविकता के बीच मौजूद भारी खाई को वह स्वाभाविक नहीं बल्कि पूरी तरह से नियोजित मानते थे। नवंबर महीने में दिल्ली के एक सम्मेलन में उन्होंने अंबेडकर की विरासत पर एक व्याख्यान दिया था जो बाद में प्रकाशित भी हुआ। उसमें उन्होंने कई किस्सों के बीच भूकंप-आपदा के बीच भी मनुष्यों में जाति के आधार पर भेद करने की अमानुषिकता के कुछ किस्से सुनाए। उसी में एक किस्सा सुनाया कि 'मालवा में कुछ साल पहले भूकंप आया था जिसमें हजारों लोग दबकर मर गए थे। एक प्रतिभा बेदी नाम की महिला थीं जो बौद्ध भिक्षुणी बन गई थीं। मानसरोवर झील के बाद पड़ने वाला बौद्धों का देश देखने की उनकी तीव्र इच्छा थी। वह तिब्बत जा रही थीं। वह भी उस भूकंप में दबकर मर गईं। इस देश में जातिवादी लोग जब मलबे से लाश निकाल रहे थे, उस दौरान एक क्षेत्र विशेष में दबी लाशों को नगरपालिका के लोगों ने निकालने से मना कर दिया। जब उनसे पूछा गया कि आप ऐसा क्यों कर रहे हैं तो उन लोगों ने बताया कि वहां दलितों की बस्ती थी। इसीलिए वहां दबी लाशें दलितों की हैं, जिन्हें हम छू नहीं सकते। इसलिए हम उस मलबे में दबी लाशों को नहीं निकाल रहे हैं।' तुलसीराम ने यह उदाहरण इसलिए भी दिया क्योंकि भारत में जाति व्यवस्था आधुनिकता के सारे तामझाम और कानूनी प्रतिबंधों का सफलतापूर्वक सामना करते हुए निरंतर जीवित रहती है। वह अपने विरुद्ध खड़े होने वाले नए योद्धाओं के हमलों को बेहद चालाकी से पचा ले जाती है और कायम रहती है। एक समय भारत का अध्ययन करने के लिए आने वाले पश्चिमी लोगों को लगता था कि जाति व्यवस्था के कारण ही भारतीय समाज एकजुट है और राजनीतिक अस्थिरताओं के बावजूद समाज का बिखराव नहीं हो पाता है। लेकिन फुले, पेरियार, अंबेडकर की जो विचार-परंपरा स्थापित हुई, उसने भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के बारे में राष्ट्रवादी और रोमांटिक विचार को ध्वस्त कर दिया। तुलसीराम का लेखन भी उसी विरासत से प्रेरणा ग्रहण करता रहा है और उन्होंने सांप्रदायिकता, गरीबी, विषमता जैसी असाध्य बुराइयों से लड़ने के लिए जाति व्यवस्था से संघर्ष को भी उतना ही जरूरी बताया।

तुलसीराम समसामायिक घटनाओं पर गहरी अंतर्दृष्टि के साथ राजनीतिक टिप्पणियां करने से कभी गुरेज नहीं करते थे। अश्वघोष पत्रिका के उनके संपादकीय हों या उनके भाषण, सभी में उन्होंने दलित राजनीति पर खास तौर टिप्पणियां की हैं। उनके बहुत सारे भाषण हैं जिनका संकलन किया जाना चाहिए।

तुलसीराम का संपूर्ण लेखन भारतीय लोकतंत्र के महान दावों और सचाइयों के बीच के फर्क को उजागर करने वाला लेखन है। वे अपने जीवन और अस्तित्व के अनुभवों से सचाई को ग्रहण करते हैं और इसीलिए बहुत सारे किताबी सिद्धांतों से ज्यादा वे आपको जीवन की सही पहचान करा

सकते हैं। वे हिंदुत्व के द्वारा स्वयं को महान सभ्यता के रूप में पेश कर सभी अंतर्विरोधों को ढंकने या जाति की निर्ममता के प्रश्न को उपेक्षित करने के चालाक प्रयासों से निरंतर टकराते हैं। साथ ही दलित बुद्धिजीवियों को भी इस बात के लिए प्रेरित करते हैं कि वे केवल अंध-अंबेडकरवाद के भरोसे न बैठें बल्कि अंबेडकर के विचारों को व्यावहारिक की कसौटी पर नए सिरे से परखें और फिर उस पर यकीन करें।

संदर्भ सूची

1. दलित चिंतक कंवल भारती के 'हंस' (अप्रैल 2015) के अंक में प्रकाशित विस्तृत लेख से उद्धृत पंक्तियां।

लेखकों से अनुरोध

- ◆ वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- ◆ लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- ◆ भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गई हो। बेहतर होगा कि लेख यूनिकोड/मंगल फॉन्ट में ही टाइप कराकर भेजें।
- ◆ चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- ◆ रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- ◆ लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख bahuvachan.wardha@gmail.com, amishrafaiz@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

संपादक

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

मो. नं.- 09422386554

दो लोकप्रिय हिंदीसेवी कथावाचक : पंडित राधेश्याम तथा श्री श्रद्धाराम फिल्लौरी

कृष्ण प्रताप सिंह

शुरू में ही बता देना ठीक रहेगा। इन स्तंभों में पंडित राधेश्याम और श्रद्धाराम फिल्लौरी जैसे लोकप्रिय हिंदीसेवी कथावाचकों की चर्चा कई स्वनामधन्यों को अच्छी नहीं लगेगी। उनको हिंदीसेवी कहना भी शायद उन्हें न भाए। खासकर उन्हें, अपने ऊंचे सन्नाटे में सिर धुनते हुए लाख रगड़घिस करने के बावजूद जिन्हें अपने लोकप्रियता, प्रतिष्ठा, यश, मान या कि स्नेह कतई नसीब नहीं हुआ और इस कारण कुंठा व ईर्ष्या के वशीभूत होकर जो दूसरों द्वारा कैसे भी पुण्यों व सेवाओं से अर्जित लोकप्रियता को बीमारी या विकलांगता का दर्जा ही देते रहते हैं। आखिरकार यही स्वनामधन्य तो हैं, जिनके कारण हिंदीजगत में खासे लोकप्रिय 'गीतों के राजकुमार' गोपालदास नीरज को कहना पड़ता है कि उनका समुचित साहित्यिक मूल्यांकन इसलिए संभव नहीं हुआ, क्योंकि उनकी फिल्मी लोकप्रियता से चिढ़े आलोचकों ने ऐसा न होने देने के लिए न सिर्फ कमर कसे रखी बल्कि इसके लिए अपनी समूची शक्ति लगाते रहे।

यहां यह सवाल किए बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता कि क्या किसी हिंदी सेवी को गैर अकादमिक क्षेत्रों में हासिल हुई लोकप्रियता सचमुच इतनी बुरी चीज होती है कि उसके कारण हम अपनी सद्भावनाओं में से उसका उचित प्राप्य भी उसे न दे सकें? अगर हां, तो हम समकालीन हिंदी साहित्य के अपने लोक से लगातार कटते व किताबी होते जाने की शिकायतें क्यों करते हैं और हमारी तमाम उपेक्षाओं के बीच हर देश व काल में लोकप्रिय साहित्य की समानांतर धाराएं भी अपने पूरे वेग से चली आती क्यों दिखाई देती हैं? क्या हमें पारसी रंगमंच के प्रथम पुरुष व रामकथा के अद्भुत वाचक पंडित राधेश्याम कथावाचक और हिंदी के पहले उपन्यासकार व महाभारत कथा के अप्रतिम प्रस्तोता श्रद्धाराम फिल्लौरी की अतुलनीय सेवाओं को इसलिए विस्मृत कर देना चाहिए कि वे अकादमिक अथवा शास्त्रीय नहीं थीं? क्या इसे उस 'प्रथम पुरुष' का एकदम से नाकाबिल-ए-माफी कुसूर मान लिया जाए कि 1907-08 तक वयस्क होते-होते हिंदी, उर्दू, अवधी और ब्रजभाषा के प्रचलित शब्दों के सहारे अपनी खास गायन शैली में उसने जो 'राधेश्याम रामायण' रची, वह शहरी-कस्बाई व ग्रामीण धार्मिक लोगों में इतनी लोकप्रिय हुई कि उसके जीवनकाल में ही उसकी हिंदी-उर्दू में कुल मिलाकर पौने दो करोड़ से ज्यादा प्रतियां छप व बिक चुकी थीं और उसके निधन के पचास वर्षों बाद भी यह सिलसिला थमा नहीं है? सो भी, जब कई मुनाफाखोर व बेईमान प्रकाशक

मिलते-जुलते नामों से उनकी रामायण की दर्जनों नकलें छापकर बेच रहे हैं!

अगर नहीं तो हमें जानना ही चाहिए कि 25 नवंबर, 1890 को उत्तर प्रदेश में बरेली के बिहारीपुर गली कामारथियान मुहल्ले में पिता पंडित बांकलाल के कच्चे, खपरैल व छप्परों वाले घर में इस प्रथम पुरुष का जन्म हुआ तो भयानक गरीबी के दिन थे। कई बार तो चूल्हा जलने की भी नौबत नहीं आती थी। उनकी पौत्री शारदा भार्गव बताती हैं कि 'बाबा के होश संभालने तक कमोबेश यही स्थिति रही। एक बार बाबा को भजन गाने के एवज में अठन्नी मिली, तो उसी से एक वक्त के भोजन की व्यवस्था हुई।' छुटपन में गरीबी के इतने दारुण दाह झेलने वाले राधेश्याम के ऊपर, कहते हैं कि, बाद में लक्ष्मी व सरस्वती दोनों ने जी भरकर नजर-ए-इनायत की। यह बात और है कि भयानक गरीबी में रची 'राधेश्याम रामायण' के लोकप्रियता के शिखर पर पहुंचकर उसके तमाम कीर्तिमान तोड़ देने के बाद आए अच्छे दिनों में उन्होंने 'कृष्णायन', 'महाभारत', 'शिवचरित' और 'रुक्मिणी मंगल' वगैरह की रचना की तो उन्हें वैसी लोकप्रियता नहीं प्राप्त हो पाई।

अलबत्ता, रामकथावाचन की उनकी विशिष्ट शैली का प्रताप ऐसा था कि पंडित मोतीलाल नेहरू ने अपनी पत्नी श्रीमती स्वरूपरानी की बीमारी के दिनों में पत्र लिखकर उन्हें 'आनंदभवन' बुलाया, चालीस दिनों तक उनसे कथा सुनी और बेशकीमती भेंटें आदि देकर विदा किया था। तब नन्हीं विजयलक्ष्मी पंडित उनसे प्रायः रोज ही भजन सुनती थीं-माया तेरी अपार भगवन, माया तेरी अपार! उनके प्रशंसकों में देश के पहले राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद भी थे, जिन्होंने राष्ट्रपति भवन में आमंत्रित कर उनसे पंद्रह दिनों तक रामकथा का रसास्वादन किया था।

एक समय उनकी कथा से अभिभूत नेपाल नरेश ने उन्हें अपने सिंहासन से ऊंचे आसन, स्वर्णमुद्राओं की कई थैलियों और चार बाल्टियों में भरे चांदी के सिक्कों के साथ 'कीर्तन कलानिधि' की उपाधि दी थी। 'साहित्यवाचस्पति' और 'कथाशिरोमणि' जैसी उपाधियां भी उनके पास थीं। अलवर नरेश ने महारानी के साथ उनकी कथा सुनी तो एक स्मृति पट्टिका प्रदान की, जिस पर लिखा था- समय-समय पर भेजते संतों को श्रीराम, बाल्मीकि तुलसी हुए, तुलसी राधेश्याम! रावलपिंडी में तो राधेश्याम ने बिना माइक के पचास हजार लोगों की भीड़ को शांत व एकाग्र रखकर कथा सुनाने का करिश्मा कर दिखाया था और इससे प्रसन्न महिलाओं ने अपने आभूषण तक उन्हें दान कर दिए थे।

1922 में लाहौर में हुए विश्व धर्म सम्मेलन का श्रीगणेश पंडित राधेश्याम के गाए मंगलाचरण से हुआ और बौद्धगुरु दलाईलामा ने दुशाला, तलवार व वस्त्रादि भेंट करके उनका सम्मान किया था। संभवतः इसी साल लाहौर में ही हिंदी साहित्य सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन में उन्होंने 'वर्तमान नाटक तथा बायस्कोप कंपनियों द्वारा हिंदी प्रचार' विषय पर अपना बहुचर्चित व्याख्यान दिया था। तब लाहौर की एक सड़क को उनके नाम पर 'पंडित राधेश्याम कथावाचक मार्ग' भी कहा जाता था।

हालांकि कथावाचक भर कहने से रामायण से लेकर पारसी शैली के नाटकों की रचना व मंचन करने वाले उनके बहुआयामी रचनाकार के व्यक्तित्व का पूरा परिचय नहीं मिलता। वे पारसी रंगमंच के शीर्षपुरुष थे, तो स्वतंत्रता, भाषाई स्वाभिमान, स्त्रीसुधार व स्त्री शिक्षा आदि से जुड़ी तत्कालीन चेतनाओं के प्रतिनिधि भी। नारायणप्रसाद 'बेताब' व आगाहश्र 'कश्मीरी' के साथ वे पारसी रंगमंच की उस त्रयी में शामिल थे, जिसने अंधविश्वासों, पाखंडों, कुरुचियों, कुरीतियों व रूढ़ियों के खिलाफ

अपने श्रोताओं, पाठकों व दर्शकों का मानस बनाने में अविस्मरणीय योगदान दिया। उनके पास देश भर में दर्शकों, श्रोताओं व पाठकों का ऐसा बड़ा वर्ग था, जो सीधे जनता से आता और सीधा संवाद स्थापित करता था। उनके गृहनगर बरेली में आर्यसमाज के अनाथालय में उनके नाटक होते तो केवल 'माउथ पब्लिसिटी' की जाती थी और बिना किसी विज्ञापन के भरपूर दर्शक जुट जाते थे। हां, उन दर्शकों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था।

उनके प्रमुख नाटकों में 'वीर अभिमन्यु' (1915), 'श्रवणकुमार' (1916), 'परमभक्त प्रह्लाद' (1917) 'परिवर्तन' (1917), श्रीकृष्ण अवतार' (1926), 'रुक्मिणीमंगल' (1927), 'मशरिकी हूर' (1927), 'महर्षि वाल्मीकि' (1939), 'देवर्षि नारद' (1961), 'उद्धार' और 'आजादी' शामिल हैं। इनमें अन्तिम दो, जिनकी वे पांडुलिपियां छोड़ गए थे, अभी तक अप्रकाशित हैं।

कहते हैं कि प्रख्यात गायक व अभिनेता मास्टर फिदा हुसैन 'नरसी' को नाटकों की दुनिया में राधेश्यामजी ही ले आए। एक दौर में 'वीर अभिमन्यु' में भैरोंसिंह शेखावत ने, जो बाद में उपराष्ट्रपति बने, अभिमन्यु की और कर्पूरचंद्र कुलिश ने, जो 'राजस्थान पत्रिका' के संस्थापक-संपादक होने के नाते जाने जाते हैं, उत्तरा व द्रोणाचार्य की दोहरी भूमिका निभाई थी। हां, राधेश्यामजी की बीमार पत्नी ने उनके नाटकप्रेम के चक्कर में अपनी उपेक्षा से चिढ़कर एक बार व्यंग करते हुए कहा था कि पंडित जी को मेरी जान से भी ज्यादा नाटक प्यारा है!

राधेश्यामजी ने कुछ फिल्मों के लिए भी अपनी सेवाएं दी हैं। 'महारानी लक्ष्मीबाई' और 'कृष्ण सुदामा' फिल्मों के गीत उनके ही लिखे हैं। महामना मदनमोहन मालवीय उनके गुरु थे, तो पृथ्वीराज कपूर अभिन्न मित्र, जबकि घनश्यामदास बिड़ला भक्त! गांधीजी को अफसोस था कि वे दूसरे कार्यभारों के चलते न पंडित राधेश्याम की कथा सुन पाए और न नाटक ही देख पाए। काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना हेतु धन जुटाने मालवीयजी बरेली आए तो राधेश्यामजी ने उनको अपनी साल भर की कमाई दे दी थी।

26 अगस्त, 1963 को इस संसार को अलविदा कहने से पहले उन्होंने 'मेरा नाटककाल' नाम से अपनी आत्मकथा भी लिख डाली थी, जिसे अब पारसी रंगमंच की विकासयात्रा बयान करने वाला ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है। दिल्ली के राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में रंग प्रशिक्षार्थियों को उसका अध्ययन कराया जाता है। हिंदी जगत में विस्मरण की बढ़ती प्रवृत्तियों के बीच उनके प्रशंसकों को इतने को ही बहुत मानकर संतोष करना पड़ता है। हां, जाने-माने समीक्षक मधुरेश ने पिछले दिनों उनपर एक मूल्यांकनपरक पुस्तक लिखी तो 'संदर्भ' के संपादक सुधीर विद्यार्थी ने अपनी पत्रिका की एक पुस्तिका 'पंडित राधेश्याम कथावाचक : कुछ जीवन, कुछ रंग' नाम से छापी है।

श्रद्धाराम फिल्लौरी

पंडित राधेश्याम की ही तरह अपने परिवार की जीविका के लिए छोटी उम्र से ही कथावाचन को विवश हुए पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी पंजाब की धरती के उन संतों, साधकों और साहित्यकारों की शृंखला में आते हैं, जिन्होंने मनुष्यमात्र की सेवा में अपना सर्वस्व अर्पित कर देने के बावजूद कभी 'शिखर-सेवी' बनने की चाह नहीं की। पूरे जीवन नींव की ईंट, मील का पत्थर अथवा संवाद के सेतु ही बने रहे। 2012 में 175वीं वर्षगांठ मनाए जाने से पहले श्री फिल्लौरी ने लंबे समय तक विस्मृति के गर्त में खोए रहने का अभिशाप भी झेला। शायद इसलिए कि अपनी विरासत की ओर

ठीक से देखना और उसे संजोना हमें अभी भी नहीं आता। यही कारण है कि अनेक आदरास्पद विभूतियों को प्रायः भूल जाते हैं और किसी प्रसंग में अचानक उनके याद आने के बाद चौंकते भी हैं।

यों, श्रद्धाराम फिल्लौरी की जीवनयात्रा इतने उतार-चढ़ावों से भरी रही है कि उनके बारे में जानना खासा दिलचस्प है। 1837 में पंजाब के छोटे से शहर फिल्लौर में एक पारंपरिक ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए श्रद्धाराम अपने परिवार की जीविका के लिए छोटी उम्र में ही कथावाचक बन गए थे। उन्हें अपने श्रोताओं को महाभारत की कथा सुनाना बहुत अच्छा लगता था। चूंकि वे पूरी तन्मयता से कथा सुनाते थे, इसलिए जहां भी सुनाते, श्रोताओं की बड़ी भीड़ जमा होते देर नहीं लगती थी।

लेकिन युवावस्था आते-आते उनके भीतर पता नहीं कैसे देशभक्ति का जज्बा इतना प्रबल हो गया कि उन्होंने अपने कथामंचों को लोगों को अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध 'भड़काने' और आजादी की चेतना जगाने के लिए इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। 1865 में जब वे 28 वर्ष के ही थे, उनके इस जज्बे की खबर गोरी सरकार तक जा पहुंची और उसका कहर कुछ इस तरह टूटा कि उनको शहर-बंदर कर दिया गया। यह ऐसी सजा थी जो उन दिनों आजादी के दीवानों को उनकी सक्रियता वाले क्षेत्रों की उन्हें विश्वासपात्र मानने वाली जनता से दूर करने और उनके सफलता की ओर बढ़ रहे अभियान को जड़-मूल से खत्म करने के लिए दी जाती थी।

इस सजा के बावजूद भी श्रद्धाराम न तो टूटे, न ही विचलित हुए। शहरबंदर की अवधि समाप्त होने के बाद फिल्लौर वापस आए तो समाजसुधार के कामों में लग गए। अब तक वे शहर के लोगों में 'पंडित जी' के नाम से प्रसिद्ध हो चुके थे और उनके लिए अपने प्रति लोगों में व्याप्त सम्मान की भावना को सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध आक्रोश में बदलना आसान हो चला था।

आज यह जानकर हैरत होती है कि उन्होंने उन दिनों ही भ्रूणहत्या के अंदेशों को समझकर उसके खिलाफ लोगों को एकजुट किया और नारा दिया था कि बेटा-बेटी समान हैं इसलिए माता-पिता को दोनों के लाड़-प्यार व पढ़ाई-लिखाई में कोई फर्क नहीं करना चाहिए। काश, बढ़ती कन्या भ्रूण हत्याओं के चलते निरंतर खराब हो रहे स्त्री-पुरुष लिंगानुपात का कहर झेलते पंजाब व हरियाणा उनकी सीख पर समय रहते अमल कर पाते!

इतना ही नहीं, पंडित श्रद्धाराम ने सामाजिक सक्रियताओं में व्यस्तता को अपनी साहित्य सर्जना के रास्ते की बाधा नहीं बनने दिया। उन्होंने कविकर्म के लिए अपने नाम के साथ 'फिल्लौरी' जोड़ लिया जो आगे चलकर उनकी पहचान से तो जुड़ा ही, अपनी जन्मभूमि से उनके जुड़ाव का प्रतीक भी बना। बहुत कम ही लोग जानते हैं कि 'ओम जय जगदीश हरे' वाली जो आरती आज हिंदू धर्मावलंबियों के गले के हार जैसी है और उनकी धार्मिक भावनाओं को स्वर देती है, उसकी रचना श्रद्धाराम फिल्लौरी ने ही की थी। अलबत्ता, उन्होंने इसमें अपने तखल्लुस 'फिल्लौरी' का प्रयोग नहीं किया था। 'श्रद्धा भक्ति बढ़ाओ' वाली पंक्ति में अपने नाम के पूर्वार्ध 'श्रद्धा' को इस चतुराई से डाला था कि श्रद्धा बढ़ाने के संकेत के साथ ही 'श्रद्धाराम' नाम का भी संकेत हो जाए। उन्होंने कविकर्म से इतर भी हिंदी साहित्य को समृद्ध किया है और कई विद्वान 1888 में प्रकाशित उनके उपन्यास 'भाग्यवती' को हिंदी का पहला उपन्यास मानते हैं लेकिन उम्र ने श्रद्धाराम के साथ बहुत बड़ी नाइंसाफी की। इस उपन्यास के छपने के कुछ ही वर्षों बाद केवल 43 वर्ष की अवस्था में दबे पांव आई मृत्यु ने उनकी जीवन यात्रा तो रोकी ही, पंजाब से उसका एक बड़ा दूरदर्शी साहित्यकार

छीन लिया। ऐसा अनूठा साहित्यकार, जो सामाजिक आंदोलनों को नेतृत्व प्रदान करने में भी अपना सानी नहीं रखता था।

उनकी बची हुई यादों के संरक्षण के सिलसिले में इधर के वर्षों में एक अच्छी बात यह हुई है कि उनके शहर फिल्लौर में उन्हें विस्मृति के गर्त से निकालने व उनकी यादों को संजोने की जागरूकता बढ़ रही है। सुधीजनों के प्रयासों से इसके कुछ उपक्रम भी किए जा रहे हैं। उनकी बाबत जानकारियां बढ़ाने के उद्देश्य से उन पर अध्ययन व शोध प्रवृत्ति भी दिखने लगी है। फिल्लौर शहर के बस अड्डे पर उनकी एक प्रतिमा स्थापित की गई है और उनके नाम पर बने ट्रस्ट की गतिविधियां तेज हुई हैं। ट्रस्ट के कर्ता-धर्ता अजय शर्मा बताते हैं कि प्रतिमा की स्थापना की भी एक दिलचस्प अंतर्कथा है। यह प्रतिमा बनकर आने के बाद हमारी सामाजिक कृतघ्नता की शिकार होकर बीस वर्षों तक फिल्लौर नगर परिषद के कार्यालय में पड़ी धूल खाती रही। लंबे संघर्ष के बाद 1995 में बेअंत सिंह की सरकार के दौरान इसे वहां से निकाला गया और बस अड्डे पर स्थापित किया जा सका। तब से हर बरस उनकी जयंती पर कार्यक्रम आयोजित करके उन्हें श्रद्धांजलियां दी जाती हैं। 2012 में 175वीं वर्षगांठ के अवसर पर एक अपेक्षाकृत बड़ा कार्यक्रम हुआ, जिसमें श्रद्धांजलियों के अतिरिक्त उनके बारे में हासिल की गई जानकारियों को एक-दूसरे के साथ साझा किया गया।



कहानी

ठंड

मदन मोहन

बस अड़्डे पर उतरकर सुभाष ने व्यग्र निगाहों से गांव की ओर देखा। गहराती शाम की कालिख गांव पर झर रही थी। पेड़ों के झुरमुट में दुबका गांव उसे गोबर की रंगत वाले काले धब्बे-सा लगा। वह उदास हो गया। और सोचने लगा, शाम हो या रात, सुबह हो या दोपहर, अपने गांव की ऐसी सूरत तो उसे पहले कभी नहीं दिखी थी! 'कहीं बस अड़्डे की जगह तो नहीं बदल गई है, जहां से गांव उसे ठीक से दिखलाई नहीं पड़ रहा!' फिर खुद पर ही उसे हँसी आई, 'गांव में जगहें इतनी जल्दी तो बदलती नहीं, फिर यह बात उसके दिमाग में कैसे आई?'...

गांव को लेकर उसके मस्तिष्क में कुछ और ऊलजलूल बातें जगह बनाने लगीं, तो वह पक्की रोड से उतरकर गांव के मार्ग पर आ गया। कुछ दूर चला होगा, कि उसे लगा, जैसे वह गांव के रास्ते पर नहीं, किसी पहाड़ी पर चढ़ रहा है। उसे थकान-सी हुई। और सिहरन भी। वातावरण में बर्फ घुली-सी महसूस हुई, जिसे उसने जब्त किया। और सोचा, यहां ठंड कुछ ज्यादा ही है। उस दिन अखबार में ठीक ही खबर छपी थी- 'प्रदेश में शीत लहर जारी, सैकड़ों काल कवलित।'

वास्तव में उस दिन वह खबर उसे झूठ का पुलिंदा लगी थी। और उसने अखबार को मन ही मन खूब कोसा था, कि ये वक्त की नजाकत देख खबरें गढ़ भी लेते हैं...! काल का ग्रास बने किसी गरीब को देखने तो गए नहीं, और लिख दिया, सैकड़ों कालकवलित! है कोई प्रमाण इनके पास इस आंकड़े का? इनका क्या भरोसा, सैकड़ों की जगह हजारों भी लिख सकते हैं, और हजारों की जगह। कुछ भी...।

अखबार की खबर को परे धकेलते हुए सुभाष ने आज भी अपने भीतर की आशंकाओं को निर्मूल कर देना चाहा, और अपने कदम तेज कर लिए। रास्ते पर सन्नाटा पसरा था। उसकी आंखों में एक माह पूर्व देखी मां, पिता, सरोज और 'उसकी' शक्तें उभर-उभर आती थीं। और तब खुद के नाकारेपन की कचोट लगभग असहनीय-सी हो जाती थी। आज वह फिर खाली हाथ घर पहुंच रहा था... इस बार तो सरोज कितनी दुःखी होगी, कहना मुश्किल है। नहीं है, उसके स्वभाव में खफा होना। और यही टीस-टीस जाता है सुभाष को! पिछली बार उसने उसे सहेज भर दिया था 'देखिए, दिमाग में धर लीजिए, क्योंकि आप भूलते बहुत हैं...' मगर खफा? नहीं, वह यह इलजाम नहीं लगाएगा उस पर।

चलते-चलते वह सोचता जा रहा था। और हर पल अपने को सहज करने की कोशिश कर रहा था। पर भीतर की अबूझ बेचैनी थी कि थमने का नाम नहीं ले रही थी। उसने कदम और तेज किए। दोनों पंजों को परस्पर रगड़ कर कानों पर रखा-राहत मिली। अच्छा लगा। अँधेरे में वह घर

के रास्ते पर निगाह टिकाए था। अभी टोले में घुसा ही था कि उसकी बेचैनी बढ़-सी गई। आजू-बाजू टिबेरियों की दुर्बल रोशनियां दिखने लगी थीं। उसे तसल्ली हुई कि चलो गांव जुगजुगा तो रहा है, बेशक कोई डरावनी शांति है, तो क्या?

अब वह अपने घर के काफी निकट था। थोड़ा उत्साहित हुआ और भीतर सहजता महसूस की। उसे लगा, 'कहीं कुछ भी तो नहीं! वही बहुत कमजोर दिल का है! बस, अखबार में खबर क्या देख ली कि बेवजह एक दिमागी परेशानी...

घर पहुंचकर वह सीधे पिताजी के पास चला गया। पिताजी दालान में आग ताप रहे थे। दालान के चौखट पर एक छोटी-सी लालटेन टिमटिमा रही थी। इस लालटेन को वह 'उसके' होने के पखवारा पहले शहर से खरीद कर ले आया था। छोटी लालटेन की धीमी रोशनी पिताजी के पास तक नहीं पहुंच पा रही थी। पिता कंबल भी ओढ़ रखे थे। उन्हें रह-रह कर खांसी आ रही थी। 'ठंड से शायद बढ़ गई हो', उसने सोचा। और दोनों हाथ जोड़ पिता को प्रणाम किया। पिता ने होठों में ही उसका जवाब दिया जिसे वह ठीक से सुन नहीं पाया।

कुछ देर खड़ा रहा कि पिता उसे बिठा कर उसके हाल-चाल पूछेंगे। जब भी वह शहर से आता, पहले पिता के पास चला जाता। दोनों हाथ जोड़ उन्हें प्रणाम करता। वह अपने पास उसे कुछ देर बिठा लेते। रहने, खाने-पीने की एक-एक चीज पूछते। फिर काम-धाम कैसा चल रहा है, पूछना न भूलते। इस संबंध में दो-चार हिदायतें देना जरूरी समझते। मसलन ऐसी नौकरी-चाकरी से उसका कब तक चलेगा! यह भी कोई नौकरी हुई! दो महीने काम, तो चार महीने सड़क नापो। कोई स्थिरता नहीं। जितना किया, उतना समय से मिल जाए तो गनीमत, लेकिन उसे भी पाते-पवाते महीने दर महीने लग जाते हैं! यह तो कोई बात हुई नहीं। पढ़ाई-लिखाई सब दिखाने के दांत! और यह कि जमाना खराब है तो कुछ ढंग से सोचो... हमें जो करना था, कर दिया, अपना भविष्य तो तुम्हें ही बनाना है। अब तो तुम भी परिवार वाले हुए भाई...

पिता को खांसी आ जाती। उसे लगता ऐसी जगहों पर वह जानबूझ कर खांस देते हैं, कि वह उनकी बातों पर तवज्जो दे।

उन्होंने उसे बैठने के लिए दबी-दबी सी आवाज में कहा। वह चुपचाप सन्न मारे बैठ गया। दरअसल, पिता के इस बदले हुए व्यवहार से सुभाष को आश्चर्य और दिल में कष्ट हुआ था।

वह देर तक बैठा रहा, परंतु पिता ने कुछ भी नहीं पूछा। वह चुपचाप बैठे रहे। उसे लगा कि उदासी में लिपटी कोई खामोशी समूचे घर पर पसरी हुई है। उसके अंदर की बेहरकत हो चुकी दहशत एकाएक फिर हरकत में आ गई। और उसे सिर से पैर तक कंपा गई लेकिन फिर वह साहस करके पिता की ओर मुखातिब हुआ। उन्हें रह, रहकर खांसी आ रही थी। उसे लगा कि पिताजी की तबीयत कुछ जरूर बिगड़ गई है तभी खांसी लगातार उठ रही है। शायद इसीलिए वह खुलकर बातचीत भी नहीं कर पा रहे हैं। आश्वस्त होने के लिए उसने ही चुप्पी तोड़ी 'आपकी तबीयत बिगड़ी हुई है?'

'नहीं'... पिता ने छोटा बारीक-सा जवाब दिया।

'तो खांसी बढ़ गई है...?'

'छोड़ो भी'... कहकर वे उठे और दालान की ओर चले गए। सुभाष का कोई समाधान नहीं हो पाया बल्कि चिंता और बढ़ गई।

वह उन्हें हैरत से देखता रहा। पिता धीरे-धीरे चलकर दालान से सटी हुई कोठरी में जाकर चारपाई पर पड़ गए।

सुभाष उठकर अंदर चला आया। उसने पैरो में फिर थकान महसूस की। और लगा माथे की नसें सहसा खिंच गई हैं। मस्तिष्क में भीतर तक एक खिंचाव सा महसूस हुआ। अप्रत्याशित भारीपन और खिंचाव।

घर के अंदर पहुंचकर सुभाष निगाहें एक बार पूरे घर में, घूमने वाले कैमरे की तरह, घूम गई। सरोज कहीं नहीं दिखी। 'घर में ही होगी' उसने सोचा। 'उसे' कैसे छोड़ सकती है? अभी तो दो महीने का भी नहीं हुआ! उसे छोड़ इधर-उधर निकलना एकदम ठीक नहीं। और उसकी सेहत भी तो अच्छी नहीं रह गई है। एक दम टूट-सी गई है बेचारी। शरीर के नाम पर बचा क्या है? किसी जवान औरत की ठठरी ही तो! सुभाष को लगा कि उसकी आहट पा सरोज अभी कोठरी से या कहीं से निकल कर उसे दिख जाएगी। पर उससे वह निगाह भला कैसे मिला पाएगा? वह सिहर उठा! और बेकली में मां को आवाज दी। आवाज इतनी तेज कि पूरा घर झनकार उठा। वह आश्वस्त हुआ कि घर के भीतर तक उसकी आवाज पहुंच गई है। सरोज की कोठरी तक भी। मां रसोई में दिखी। रसोई की डीवठ पर एक ढिबरी लुप-लुप करके जल रही थी, जिसकी रोशनी में मां किसी गठरी-सी दिख रही थी! सोचा था, इस बार पैसे मिल जाने पर भीतर के लिए भी एक लालटेन खरीद ही लेगा, मगर पैसे वाले उसके दर्द को भला क्या जाने?

मां को चुप देख, उसके अंदर एक क्षोभ-सा हुआ। फिर लगभग चीखते हुए बोला, 'यह सब क्या है मां? घर की कैसी हालत बना रखी है, तुम लोगों ने?'

मां ने कोई जवाब नहीं दिया। वह घुटनों पर सिर टेके एक टक जमीन पर देख रही थी। एकदम स्थिर। किसी बुत की तरह!

वह धीरे से चलकर मां के और करीब आ गया। उसने देखा, थाली में भात और आलू का चोखा परोसकर मां बैठी थी। उसने एक झटके में चप्पलों को पांव से अलग किया। वे एक-दूसरे पर औंधे पड़ गए। घड़े से पानी लेकर पांव धोए और खाने के लिए पीढ़े पर बैठ गया। मां ने थाली सरका दी। थाली अपने आगे खींचते हुए उसने देखा, कि मां आंचल से आंसू पोछ रही है। देखकर सिर आत्मग्लानि से झुक गया। और भीतर कचोट उठ आई। 'उसे मां पर नहीं बिगड़ना चाहिए था।' वह पछताने लगा परंतु बोला कुछ भी नहीं। चाहकर भी नहीं। किसी तरह चार-छः निवाले ही गले के नीचे उतर पाए। उसे लगा, वह चोखा-भात नहीं, रेतीली मिट्टी से बनी कोई चीज गले के नीचे उतारता जा रहा है।

मां फिर सुबकने लगी थी। उसने एक चोर नजर मां के चेहरे पर डाली। झुर्रियों भरे चेहरे में बूढ़ी आंखें सूजी हुई लगीं। मन ही मन उसने अपने आपको कोसा। फिर भी उसके होठ मां से क्षमा याचना के लिए नहीं खुल सके।

माहौल उसे एकदम भारी-भारी सा लगा। वह एक झटके से बाहर निकल आया। फिर दालान में आग के पास बैठ गया। सर्दी का अहसास उसके भीतर से जाने कहां गुम गया था।

वह एक-एक बात को लेकर मानो गहरे उतरने लगा था- पिछली बार जब वह घर आया था, इस तरह उदासी और अबोला बिलकुल नहीं था। मां और पिता की खुशी को आंकना उसके लिए

कितना मुश्किल हो गया था! उनकी खुशी से उसे भी जो एक नई-नई-सी अनुभूति हुई थी, वह आज भी एकदम ताजा है।

पिछली बार भी तो उसे खाली हाथ झुलाते हुए आना पड़ा था। अब इसे क्या करे वह! पढ़-लिखकर भी जब उसके नसीब में बेकारी ही लिखी है, तो वह करे भी तो क्या? क्या वह कम हलकान है? ढेरों डाक-रजिस्ट्री, परीक्षा-इंटरव्यू, पर उसके साथ एक 'मोटी रकम' जो चाहिए... वह नहीं, तो सब व्यर्थ। किंतु उस बार मां और पिता को जैसे उसकी नौकरी की चिंता ही नहीं रह गई थी, वे तो 'उसे' पाकर ही जैसे अपने जीवन के सारे सुख पा गए थे। फुरसत ही नहीं थी किसी चीज के टोकने की। हां, सरोज ने जरूर जी भर हिदायतें देकर उसे उबा दिया था और वह उससे हफ्ते भर में निश्चित आने के लिए कह गया था। पर ठीक माह बाद आ पाया है और पहले की तरह नंगे हाथ! तो क्या! सरोज के दिल को, उसमें रचे-बसे प्यार को, वह जानता है। समझा लेगा उसे। लेकिन मां और पिताजी...?

पिछली बार भी घर पहुंचने पर उसे कितनी शर्मिंदगी महसूस हुई थी, नहीं भूला है, और वही सब कुछ जैसे फिर खुद को दुहरा रहा हो! मुख पर तो किसी ने कुछ नहीं कहा था, पर उसे लग रहा था, कि जो कुछ भी सोच-सोच कर वह महसूस कर रहा है, लोगों की कही हुई बातों का ही असर है। मां और पिता ने कहा है। पास-पड़ोस ने कहा है। पेड़-पौधों और चिरई-चुरमुनों ने कहा है। उसे लग रहा था कि एक-एक की बातें उस पर एक साथ असर डाल रही हैं- 'बच्चे' के लिए सौ-पचास का 'गड़पोछना' भी नहीं ला सका वह! पत्नी के लिए कुछ सूखे मेवे-पुष्टई...।

बेचारी कितनी तो गल गई है! पहली डिलेवरी में सेवा-टहल, पौष्टिक खान-पान की जरूरत पड़ती है कि नहीं! ऐसी-वैसी तमाम बातें उसके दिमाग पर अनकहे सौ-सौ हथौड़े लगा रही थीं और उसके भीतर टीस-सी उठती रही थी।...

दो मिनट के लिए वह सरोज यानी पत्नी से भी मिला था। मैली-कुचैली साड़ी में सिकुड़ी-सिमटी जमीन पर बिछी चटाई पर वह बैठी थी। उसके कपड़ों से अजीब किस्म की दुर्गंध उसके नथूनों में भर रही थी परंतु उस गंध का उसने तनिक भी बुरा नहीं माना था। बाहर की सर्द हवा के झोंके भीतर तक घुसकर सरोज को कंपा जा रहे थे। उस दिन भी शायद बदली ही थी। सुबह थोड़ी देर के लिए धूप उगी थी। उसके बाद ही फरटि से ठंडी हवाएं चलने लगी थीं। चारों ओर से देखते-देखते बादल ही बादल। कोठरी में घुप अँधेरा भर गया था। सरोज ने ढिबरी जला दी थी। नीम रोशनी में भी चेहरा साफ दिख रहा था। एकदम पीला, सूखा और मरियल सा चेहरा। कभी-कभी 'उसकी' दोनों हथेलियां दिख जाती थीं जिसे वह हाथों से तोपने-ढकने में काफी सतर्कता बरत रही थी। सरोज की कलाइयों में एक भी चूड़ी न देख उसे काफी आश्चर्य हुआ था! उसने सोचा था कि वजह पूछे। पर चुपचाप भावुक मन उसके करीब बैठ गया था। वह धीरे से परे खिसकते हुए फुसफुसा उठी थी, 'नहीं...नहीं!' और वह चौंक कर थोड़ा परे हो लिया था। और पूछा था, 'क्या नहीं?'

वह होठों में धीरे से बुदबुदाई थी, 'अभी तो छूना भी नहीं चाहिए।'

फिर वह चुपचाप उसकी साड़ी के पल्लू के नीचे देखने लगा था। सरोज 'उसे' आंचल के नीचे, छातियों और जांघों के बीच इस कदर दुबकाए थी कि जैसे बंदरिया अपने नवजात बच्चे को चिपकाए होती है! ताज्जुब उसकी भी आंखें अभी ढपी ही थीं! उसने हौले से कहा था, 'तनिक दिखाओ न।'

सरोज के होठों पर एक फीकी सी मुस्कान रेंग गई थी। और उसने कपड़ों को हटाकर उसे नंगा ही दोनों गदौरियों में लेकर उसके आगे कर दिया था। वह एकटक उसे निहारता रहा था। सरोज रह-रह कर उसे चूम लेती थी। मांस के लोथड़े के अतिरिक्त उसके दिमाग में और संज्ञा उसके लिए नहीं बन पाई थी। एकदम ताजा मांस का लोथड़ा! जिसमें एक छोटी-सी जान थी और जो उस बर्फीली ठंड में कांप-कांप कर ऐंठ जाता था। उसने धीरे से हाथ बढ़ाकर उसे छुआ था। कांप गए थे उसके हाथ! जाने कैसा-कैसा तो लगा था। और एक-ब-एक वह उदास हो गया था। नजर ठीक मुट्ठी भर से भी कम उसके मुखड़े पर टिकी थी। उसकी आंखें नम हो आई थीं। फिर तो कितनी सफाई से सरोज से छिपाना पड़ा था। उसने अपने हाथ से ही उसको कपड़े से ढक दिया था। और मन हुआ था वहां से तत्काल चला आए। परंतु तभी सरोज ने टोक दिया था, 'गोद में लीजिए न।'

'नहीं, अभी नहीं...'

वह स्वयं नहीं समझ पाया था कि यह 'अभी नहीं' क्यों कह दिया था उसने। फिर तुरंत ही उसे शर्मिंदगी महसूस हुई थी।

'हे सुनिए...!' कुछ तेज आवाज में सरोज बोली थी। उसे लगा था, कि जैसे वह कोई शिकायत सी करने जा रही है। वह इत्मीनान से उसकी ओर मुखतिब हुआ था, 'क्या है, बोलो?'

'इसको बहुत ठंड लगती है...।' सरोज की निस्तेज किंतु प्रश्नाकुल आंखें उसके चेहरे पर देर तक टिकी रहीं थीं। कुछ इस भाव में कि उसे ही तो कोई न कोई उपाय करना है।

वह समझ गया था। और सरोज को विश्वास दिलाने के लिए कि उसके दिमाग में पहले से यह बात थी, एक खास लहजे में उसने कहा था, 'हां-हां, अगली बार मैं इसके लिए...' आगे वह रुक गया था, कुछ इस तरह का भाव लिए कि वह उसके लिए 'बहुत कुछ' करेगा। सरोज हल्के से मुस्कराई थी। अपने मन की बातों को उसने उसकी बातों के आगे जोड़ दिया था, 'इसकी नाप का कनटोप, मोजा और गर्म स्वेटर, बस!'

एक पल के लिए उसकी आंखों के बहुत करीब पूरा शहर आ गया था। और फिर दो-एक ऐसे चेहरों से उसे झणभर की उम्मीद हो आई थी जिनकी फर्में से पिछले एक दो महीने की पगार उसे पानी थी। फिर तो सरोज से उसने कुछ इस लहजे में 'हां' कह दिया था कि वह इन बातों के लिए उसे गैर जिम्मेदारी निभाता हुआ न समझे। और फिर सरोज को उसके स्वास्थ्य के लिए सतर्क रहने की हिदायत देकर चला आया था।

शहर आकर उसने एक छोटी सी फेहरिस्त भी बना ली थी।... सरोज के लिए कुछ पौष्टिक चीजें। छोटा सा कनटोप, मोजा और स्वेटर वगैरह। और बगल के मास्टर चाचा के मोबाइल पर फोन भी कर दिया था, कि वे पिताजी या मां से मिलकर उसके शीघ्र आने और साथ में सामानों के ले आने का संदेश कह देंगे।

सुभाष के मस्तिष्क में पिछले कुछ दिनों की तमाम बातें पल-पल-पल उभरती गईं। फिर उन्हीं बातों के सहारे एकाएक बदली हुई आज की स्थिति के बारे में सही जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहा कि तभी पिता को बहुत जोर की खांसी आ गई। वह लगभग दो मिनट तक खांसते रहे। उसकी तंद्रा टूट गई। फिर उसका मस्तिष्क पिता में उलझ गया। उनके खांस लेने के बाद उसने सहज ही अनुमान लगा लिया कि यह पिता के सोते हुए की खांसी नहीं है। 'शायद उन्हें नींद नहीं

आ रही है', उसने सोचा। 'लेकिन चारपाई पर पहुंचकर वह इतनी देर तक जग नहीं पाते हैं। मां से कुछ जरूरी बातें हो रही होती हैं, तो बात अलग है। चारपाई पर लेटे रहने पर भी यदि वह किसी से बात कर रहे होते हैं, तो उन्हें नींद नहीं आती। पर अकेले वह शीघ्र सो जाते हैं, फिर आज?

एक पल के लिए उसके मन में एक निश्चय जागा कि वह पिताजी की कोठरी में चला जाए और उनसे कुछ बातें करके जी हल्का कर ले। पर वह निश्चय सिर्फ क्षणांश के लिए था। उस पल वह साहस नहीं जुटा सका कि पिता और मां से अलग-अलग अपनी गलती की सफाई देते हुए क्षमा याचना कर सके।

उसकी बेचैनी फिर बढ़ गई, जिसे झुठलाने के लिए वह पैरों से आग को कुरेदने लगा। उसके पैर बर्फ हो गए थे। किंतु आग बुझ चुकी थी। चिंगारी के दो-चार टुकड़े मुश्किल से दिखे। पर कड़ाके की सर्दी में लगभग एक साथ ही बुझ गए।

कुछ देर तक वह बेहरकत बैठा रहा। फिर तय पाया कि वह सीधे सरोज के पास चले। उसे सरोज पर के अपने खास और अतिरिक्त अधिकारों और संबंधों का भान हो आया।

वह उठकर अंदर आ गया। रसोई की डीवठ पर ढिबरी अब भी लुप-लुप कर जल रही थी। मां अब भी घुटनों में सिर डाले बैठी थी। पर लग रहा था बैठने का रुख कुछ बदल गया है। चेहरा अब पूरा-पूरा सामने की ओर नहीं था। 'शायद सरोज को खाना खिलाने गई रही होगी', उसने सोचा पर मां के व्यवहार में तनिक भी परिवर्तन न देख उसके अंदर फिर कुछ कुरेद उठा।

वह थोड़ा ठिठककर सरोज की कोठरी की ओर बढ़ गया। मां की चुप्पी तोड़ने की हिम्मत उसे फिर नहीं हुई थी।

सरोज की हालत देख उसके अंदर एक हल्का सा आक्रोश जगा। बिलकुल चुपचाप मां की ही तरह घुटनों में सिर डाले वह भी बैठी थी। एक छोटी सी ढिबरी उसकी कोठरी में भी लुप-लुप जल रही थी। जैसे उसमें तेल चुक गया हो और वह बुझने वाली हो। 'शायद मां और सरोज के बीच ही कोई बात हो गई है। इसे तो वह कुछ ही मिनटों में सुलझा लेगा।' नए सिर से अनुमान लगाकर वह तसल्ली करना चाहा।

उसने कोठरी में चारों ओर नजर घुमाई, 'वह कहां है? शायद सरोज की गोद में ही हो। मां की गोद में तो है नहीं। और कहीं हो भी तो नहीं सकता। अब बंदरिया के नवजात शिशु की तरह थोड़े ही होगा... न ही मांस का लोथड़ा! बच्चे कितनी जल्दी-जल्दी तो बढ़ते हैं! चाहे आदमी के हों या जानवर के। लेकिन फिर भी 'वह' अपनी मां की गोद में छिप गया है!... और सरोज अभी तक चारपाई पर क्यों नहीं सोती? सुबह एक चारपाई उसे बाहर से ला देनी होगी। यह चटाई उसकी कब तक चलेगी? दोनों को कितना तो कष्ट होता होगा? इतना तो मां को ही कर देना चाहिए था...

एक झटके में उसके दिमाग में कई ऐसी बातें आईं जिनसे वह उत्साहित-सा हो उठा। और भावुक मन के साथ धीरे से रोज के पास बैठ गया। 'अब तो डिलेवरी के दिनों वाली गंध नहीं रही.. लगता है, मां ने घर की लिपाई-पुताई करा डाली है', उसने सोचा। फिर गंभीर हो मां-पिता के आज के व्यवहार को जायज ठहराते हुए खुद के नाकारेपन और लापरवाही को जिम्मेदार ठहराया। तभी कोठरी के भीतर से 'कें, के हां आं आं' की मरियल-सी आवाज सुन खुशी से उसके रोंगटे फूट पड़े। 'ओह! क्या-क्या और कैसा-कैसा तो सोच गया था वह! उस दिन अखबार वाली खबर पढ़कर तो

उसका दिल ही बैठा जा रहा था। और ए जनाब हैं कि 'कें के हां' करने में इतनी देर लगा दी।' सोचता हुआ वह भावुक हो उठा। फिर न जाने कब सरोज की पीठ पर प्यारे से लबरेज हाथ चला गया। बोला- 'बहुत नाराज हो न? मां-पिताजी की तरह तुम भी... पर क्या करूं, जब तक कोई पक्की नौकरी नहीं मिल जाती...'

गला अवरुद्ध हो आया उसका। पर सम्हलता फिर बोला- 'ठंड तो अब और बढ़ गई है... कल मास्टर चाचा से पैसे उधार लेकर यहीं अड्डे की बाजार से 'उसके' लिए कनटोप, स्वेटर...'

दूसरे दिन बाजार से लौटने में सुभाष को देर जरूर हो गई थी, किंतु उसने उसके लिए एक नहीं, दो कनटोप मोजे, गरम स्वेटर और रूई का बना एक 'गड़ पोछना' भी खरीद लिया था। वह उत्साहित था। दिल में खुशी की फुलझड़ियां छूट रही थीं। और भविष्य के कुछ सपने भी। तभी घर की दालान में लोगों की भीड़ देख वह सहसा सकते में आ गया। फिर जेहन में कौंधा-लगता है, पिताजी की तबीयत बिगड़ ही गई। ठंड में यही होता है इनके साथ! कितना मना किया कि खामखा बाहर न निकला करें पर...

टोले के पास-पड़ोस की भीड़ ने उसे देखा तो सबके सिर झुक-से गए। पिता ने माथे पर दोनों हाथ टिका अपनी बूढ़ी आंखें धरती में धंसा ली थीं। मां की आंखों का सारा जल रिसकर उन्हें गहरे सूनेपन से भर दिया था। सरोज को कुछ औरतों कोठरी में पकड़कर बैठी थीं। किंतु रह-रहकर फूटती उसकी कारुणिक रूलाई माहौल को तार-तार कर रही थी। वह हक्का-बक्का था, उस अपराधी-सा, जिसे हत्या करते रंगे हाथ पकड़ लिया गया हो!

भीड़ के बीचोबीच सुभाष की खुशियों-सपनों का एक नन्हा शव, सरोज की मैली-कुचैली साड़ी के फटे आंचल के एक टुकड़े में लिपटा, धरती पर पड़ा था, जिसके लिए ठंड का अब कोई मानी नहीं रह गया था!



डायरी की इबारतें

से.रा. यात्री

01.01.1954

आज वर्ष का पहला दिन है। आज जिसे देखो नए वर्ष की शुभकानाएं दे रहा है। पता नहीं क्यों बिना किसी खास फेरबदल के सभी कुछ खास बात महसूस करते दिखते हैं। मुझे भी इसमें कोई आपत्ति नहीं है पर मैं सोचता हूँ क्या साल के सभी दिनों की महत्ता आज सी ही नहीं है। प्रथम, तो यही नहीं जान पाता कि अनादि अनंत काल कभी भी क्या खंडित हो सकता है। यदि नहीं तो फिर नववर्ष के प्रथम दिवस का आयोजन कैसा और क्यों? यह शुभ, सुखद वगैरह कैसा। खैर, छोड़ो सभी को स्वीकृति से अलग की सिर मारी क्यों? हम कितना यहां रहते हैं। हम अपनी माप के लिए विश्व में अपनी सत्ता की छाप छोड़ने के निमित्त ही तो समय के अनवरत प्रवाह में अपनी गति का नाम करते हैं। हमारे अस्तित्व से दूसरे परिचित रहें न रहें किंतु हम अपनी उपेक्षा करके स्वयं को संपूर्ण रूप से प्यार न करके अपनी उपस्थिति कैसे दर्ज कराएंगे? निजी सामर्थ्य से जुड़ी छोटी-छोटी बातों का लेखा-जोखा रखने का अर्थ है अपने को चाहना अपने प्रति शर्त।

जो भी बधाइयां सुबह से मिलती चली आ रही हैं पता नहीं उनमें से कितनी वास्तविक रूप से हार्दिक हैं। बस मेरे लिए पहली जनवरी का महत्व इतना ही है कि आज मैंने एक नई किताब पढ़ना शुरू किया। यों तो पुस्तकों से अपने लगाव की कोई सीमा ही नहीं है पर पता नहीं क्यों पिछले कुछ वक्त से अजब उच्चारण की मनःस्थिति थी- जैसा कि कवि नरेंद्र शर्मा ने कहा है

‘उड़ा उड़ा सा जी रहता है चूर-चूर विश्रांत शरीर।

दूर देश उड़ने को आतुर अकुलाएं से प्राण अधीर॥

इन दिनों घुमक्कड़ी कुछ ज्यादा बढ़ गई हैं। शायद इसी वजह से कई दिनों से स्वाध्याय स्थगित होता रहा।

मैं किताबों की ओर आज इस तरह लौटा जैसे घर से विरत बच्चा काफी देर तक नदी किनारे खेलकर, विरम कर, घरों में बनाते-तोड़ते थक जाता है तो उसे घर की याद आती है और फिर वह घर की दिशा में तेजी से दौड़ पड़ता है।

आज मैं लगभग छह घंटे पढ़ता रहा। दिन तो सामान्य ही बीता पर अब जबकि आधी रात हो चली है तो मुझे थकान सी लग रही है। रात गहरी और ठंडी है। हाथों को इतनी ठंड काप गई है कि हाथों में कंपन हो रही है। लो फिर एक कविता याद आ रही है- बच्चनजी के ‘निशा निमंत्रण’ के एक गीत में लिखा है :

रात आधी हो गई।

स्वप्न के जादू भवन में जबकि दुनिया खो गई है।

कविता भी क्या चीज है और धन्य हैं हमारे कवि। हर मौके पर जो हमारी चेतना पर दस्तक देते से लगते हैं।

06.06.1972

जब आदमी कोई स्तरहीन ओछा काम कर बैठता है और बाद में उस पर विचार करता है तो संवेदनशील व्यक्ति स्वयं पर शर्मसार हो उठता है। आज शाम जो हरकत मैंने की वह भी लगभग उसी कोटि की थी और अब बिस्तर पर पड़े-पड़े सोच रहा हूँ कि वैसा कुछ करने वाला मैं ही था क्या?

उन दिनों मेरा छोटा भाई इलाहाबाद में था मेरी पत्नी और दो बच्चे भी इलाहाबाद में थे। गर्मियों की छुट्टियों में वह उन्हें अपने साथ ले गया था। कुछ दिनों बाद अवकाश पाते ही मैं भी वहां चला गया था।

कॉफी हाउस, प्रकाशनगृह आदि में तो मैं लेखक बलवंत सिंह को बराबर आते-जाते देखता था पर दुआ सलाम से आगे, उनसे मेरा कोई घनिष्ठ परिचय नहीं था मैं उनके उपन्यासों में जो रोमांस, बहादुरी और पंजाब का खुलापन देखता था- उसका बड़ा प्रशंसक था।

यही बात, बलवंत सिंह का जिक्र होने पर मैंने अपने छोटे भाई दर्शन से कही। दर्शन एक बैंक में काम करता था और इलाहाबाद के कितने ही लेखकों से उसकी गहरी छनती थी। वह बलवंत से मिलने की मेरी इच्छा जानकर बोला 'मैं आज ही सिंहजी से बातें कर लेता हूँ। सरदार जी की कल शाम 'गजदर रेस्तरां' में बुला लेते हैं। यों तो उनके घर भी जाया जा सकता है पर वह घर पर मुलाकात पसंद नहीं करते। घर से बहुत सज संवर कर निकलने का उन्हें एक खास शौक है।

तय प्रोग्राम के अनुसार मैं अपनी पत्नी और बच्चों को लेकर शाम छह बजे 'गजदर रेस्तरां' पहुंच गया। 'गजदर' इलाहाबाद का एक 'खास बार' तथा रेस्टोरेंट है जहां बाहर से आने वाले तथा स्थानीय लेखक बराबर आते ही रहते हैं।

पहले तो मैंने सोचा था- दो एक, बड़े स्थानीय लेखकों को भी बुला लूं क्योंकि उनके यहां मेरा आना जाना था और बलवंत सिंहजी के भी वह सभी घनिष्ठ थे पर बाद में, मैंने यह सोचकर अपना विचार बदल दिया कि इतने लोगों में बलवंत सिंहजी से मेरी कोई बातचीत बहुत दूर तक जा नहीं पाएगी और उन्हें बुलाना व्यर्थ चला जाएगा। कई लोग होंगे तो एकाग्रता से बलवंत सिंहजी से कोई वार्तालाप नहीं हो सकेगा।

शाम को मैं सपरिवार 'गजदर' पहुंच गया और मैंने वहां जाकर पाया कि दर्शन और बलवंत सिंहजी वहां पहले से आए बैठे हैं और उनकी आपस में चुहलबाजी चल रही है। बच्चों सहित मैं भी उन लोगों के पास जाकर बैठ गया और रस्मी तौर पर बातचीत चल निकली। बलवंत सिंह से मेरा पहले से परिचय था। अशकजी के यहां, कॉफी हाउस में 'लोक भारती' तथा अन्य स्थानों पर वह बराबर मिलते रहते थे, पर अकेले में उनसे कभी बातें नहीं हुई थीं। मुझे उनकी कहानियों और उपन्यासों में वर्णित रोमांस और जोखिम का जज्बा बहुत पसंद था क्योंकि इस दिशा में हिंदी का कोई भी अन्य लेखक उनके आसपास नहीं ठहरता था।

थोड़ी देर बाद मैंने आंखों ही आंखों में दर्शन को संकेत किया तो उसने बेयरे को बुलाकर कुछ

चीजों का ऑर्डर दे दिया। टूटी फ्रूटी जैसी कोई आइसक्रीम बच्चों के लिए आ गई और बड़ों यानी पुरुषों के लिए वहां कोई प्रसिद्ध पेय मंगा लिया गया।

जब सिलसिला शुरू होने की बारी आई तो बलवंत सिंह बोले भाइयो! मैं तो शाम को घर से खाना खाकर निकलता हूँ क्योंकि घर में मां बहुत बूढ़ी है- रात को देर से लौटने पर खाने वाने की तवालत संभालना उससे हो नहीं सकता। शायद उन्होंने तब तक दूसरी शादी की नहीं थी या हो सकता है अन्य कोई कारण रहा हो।

उसी क्षण, मैं तो भीतर से पूरी तरह बुझ गया। जो सामान आ गया या उसे लौटाया नहीं जा सकता। और मेहमान की उपस्थिति में उसके शरीक हुए बिना उसका उपभोग करना घोर अशिष्टता होती।

खैर बातें होने लगी। कहना न होगा बलवंत सिंहजी ने उस शाम को अपनी जानकारियों और साहित्यिक चर्चा से पूर्णता को पहुंचा दिया। हम लोग रात को नौ बजे के बाद 'गजदर' से उठे और बाहर निकलकर बलवंत सिंहजी को विदा किया। यहां मैं यह भी कह दूँ कि रेस्तरां का बिल मेरे छोटे भाई ने ही चुकाया था।

छोटे भाई ने उलटी दिशा में चलना शुरू किया। वह शायद अपनी भाभी-बच्चों और मुझे किसी अच्छी जगह खाना खिलाने ले जा रहा था मगर मेरे दिमाग में 'गजदर' में फालतू के खर्च किया गया पैसा चक्कर काट रहा था।

चलते-चलते मैं सहसा ठहर गया और सड़क किनारे ही पड़ी कुर्सियां और मेजों की तरफ बढ़ते हुए बोला-चलो आज यहां भी खाकर देखते हैं। ढाबे वाले भी अगर उन्हें हिदायत दे दी जाए तो अच्छा खाना बना देते हैं।

दर्शन ने हल्का सा प्रतिवाद किया 'भाई साहब थोड़ी दूर पर ही तो चुन्नी लाल का ढाबा है वहां बेहतर खाना मिलेगा और जगह भी बैठने को अच्छी मिलेगी।

मगर मैं तब तक उस सड़क छाप 'गणेश ढाबे' पर जाकर बैठ चुका था। मैंने मन ही मन बड़बड़ाते हुए कहा 'एक ही शाम में खाने वाले पर इतना फिजूल खर्च करने की क्या जरूरत है।'

मुझे भीतर ही भीतर वह रुपये साल रहे थे जो शाम 'गजदर' में खर्च किए जा चुके थे।

मुझे, पत्नी बच्चों और मेरे भाई को साथ देखकर गणेश ढाबे वाला अत्यंत प्रफुल्लित हुआ और अपने कंधे से गमछा उतार कर उसने एक मेज और कुर्सियों को स्वयं ही झाड़ना शुरू कर दिया।

मेरी देखा देखी दर्शन और मेरी पत्नी मुझे मन से मेज के इर्द-गिर्द पड़ी कुर्सियों पर आकर टिक गए। वह एक दूसरे की ओर देखकर यह समझने की कोशिश कर रहे थे कि यह यकायक आखिर मुझे हुआ क्या है जो एक तरफ तो बलवंत सिंह को मेहमान बनाकर 'गजदर' जैसे महंगे रेस्टोरेंट तथा बार में बुलाता है- दूसरी तरफ बच्चों को मवालियों के खाने की जगह ले जाकर खाना खाने को विवश करता है।

खैर जो भी हो अपनी सामर्थ्य भर गणेश ढाबे वाले ने तो हमें बेहतर ढंग में ही खाना खिलाया पर मेरे बच्चों और भाई के लिए वह एक अभद्र सी जगह तो थी ही, हो सकता है उसका कोई परिचित वहां से गुजरता तो उसे उस बेमौजू जगह पर खाना खाते देखकर न जाने क्या सोचता?

ढाबे में भी बिल, दर्शन ने मुझे नहीं चुकाने दिया अगर उसने गजदर और ढाबे से मुझे ही बिल

चुकाने दिए होते तब भी रुपया गारत होने का मेरा गम सही होता पर यह तो किसी भी तरह उपयुक्त नहीं लगता था कि मैंने दर्शन की प्रतिष्ठा का रत्ती भर ख्याल नहीं किया और अपनी मनमानी करता चला गया।

रात आधी से ऊपर जा चुकी है पर आज शाम की बातें सोच सोचकर मुझे शर्म आ रही है। क्या वास्तव में मैं इतना निकम्मा ओछा और दुविधाग्रस्त व्यक्ति हूँ कि साथ वालों की प्रतिष्ठा की जरा सी भी कद्र नहीं करता हूँ।

सवाल यह नहीं है कि हमने खाना कहां बैठकर खाया- सवाल यह है कि मैं किस मानसिकता के तहत अपने परिवार को उनकी दृष्टि से एक अयाचित और अवांछित से स्थान पर ले गया।

18.9.1986

पूरी जिंदगी निकल जाती है और सार्थकता का फैसला नहीं हो पाता। यह मुद्दा हमेशा से घोर विवादास्पद रहा है कि सार्थक क्या है और निरर्थक क्या है। एक के लिए जो पूर्ण व्यर्थ है वही किसी अन्य के लिए बहुत मूल्यवान तथा उपादेय है।

यदि हम ध्यान से देखें तो बहुत थोड़े से उपादानों से जिंदगी मजे में चल जाती है। दरअसल हम बहुत कुछ ऐसा जोड़ते और बढ़ाते चले जाते हैं जिसको हटा भी दिया जाए तब भी जीवन में कोई खास अभाव महसूस नहीं होगा। पर जब हम उसे अपरिहार्य मान बैठते हैं तो फिर उसकी अनुपस्थिति में हमेशा कोई कमी सी महसूस होती रहती है। हम रोजमर्रा की जिंदगी में कितने-कितने महंगे लवाजमात का भोग करते हैं पर जरा अपने उन स्वतंत्रता के सेनानियों के बारे में एक बार सोचिए जो बरसों बरस जेलों में पड़े रहते थे और अधिकांश को 'सी क्लास' ही मिलती थी। उन्हें भोजन जैसा भोजन तो शायद ही कभी मयस्सर होता हो- तब भी वे हमारे क्रांतिवीर अतिरिक्त की मांग नहीं करते थे। अधिकांश तो न कुछ जैसी साधारण वस्तुओं से ही काम चला लेते थे। उनकी तुलना में हम स्वयं को देखें तो पाएंगे कि प्रतिदिन कुछ न कुछ नया जोड़ते चलते हैं। उसको जुटाने में जो अतिरिक्त श्रम और समय लगाते हैं- उसकी थकन और टूटन हमसे उसके एवज हमारा कितना कुछ मूल्यवान वसूल कर लेती है इस पर कभी ध्यान नहीं देते।

जिंदगी की तेज रफ्तार हमें दौड़ाए ले जा रही है। अगर हमारे जीवन में यह तूफानी गति नहीं है तो हमें सब व्यर्थ लगता है। हम जीवन की सामान्य गति की तुलना तेली के बैल से करने लगते हैं। तेली का बैल एक निश्चित दायरे में घूमकर अपना पूरा जीवन जी जाता है। उसे हम प्रगति नहीं मानते पर उसके यों घूमने से शाम तक जो एक कनस्तर तेल इकट्ठा जो जाता है उसे हम क्या कहेंगे। क्या वह व्यर्थ और त्याज्य है? क्या वास्तव में वह कोई उपलब्धि नहीं है।

मैंने तेली के बैल का उदाहरण एक विशेष संदर्भ में ही दिया है। मैं सामान्य मनुष्य के जीवन को भी कुछ-कुछ वैसा ही पाता हूँ। मनुष्य का दिन और पूरी जिंदगी एक निश्चित सी दिनचर्या में ही स्वाहा हो जाती है। परिवार का भरण पोषण, बच्चों की शिक्षा और उनके भविष्य के लिए आचूड़ संघर्ष। यही कुछ करते कराते पूरी जिंदगी निकल जाती है। संस्कारहीनता न हो तो बच्चे भी अच्छे निकल जाते हैं मगर फिर बात वही कि जिंदगी तो बिना कोई बड़ी रफ्तार पकड़े ही समाप्त हो गई- और उपलब्धि? वही तेली के बैल का प्राप्य- एक कनस्तर तेल जैसा कुछ।

यहां मुझे शेक्सपियर की वह विशेष उक्ति याद आती है 'जिंदगी एक अहमक के द्वारा कही

गई कहानी है जिसमें भरपूर खिलंदड़ापन और आवेश है पर जिसका हासिल कुछ नहीं है।

जीवन के बाद क्या है- उस पर सिर न खपाकर यही देख लें कि इसमें कितना कुछ है बावजूद धीमी रफ्तार के। मैं यहां शेक्सपियर की उक्ति से सहमत नहीं हो पाता- मुझे तो यही लगता है कि जीवन सब कुछ के बाद जीने योग्य है और उसका प्राप्य कभी समाप्त नहीं होता।

17.8.1988

व्यर्थताओं से उबरना चाहता हूं पर उनसे किसी भी तरह निजात नहीं मिलती। क्या मनुष्य का जीवन तीन चौथाई व्यर्थताओं को ढोने में ही जाना जरूरी है? क्या कुदरत यही चाहती है कि आदमी दैनंदिन जीवन फालतू बातों में ही गंवाता चला जाए। हो सकता है हमें बहुत देर तक यही पता नहीं चलता कि हम चेतन से, कहीं अधिक तो यांत्रिक होकर ही रह जाते हैं।

इस संदर्भ में मुझे विश्वकवि महान चिंतक और विचारक रवींद्रनाथ टैगोर की 'पारस पाथर' कविता का स्मरण हो आता है। कविता का अर्थ कुछ यों है : एक व्यक्ति अपनी कलाई में बंधे मणिबंध (कड़ा) को सोने का बनाने की फिराक में निकलता है और पत्थरों के ढेर में से हर पत्थर को उठाकर उसका संस्पर्श देता चलता है। वह पत्थरों को उठाने छुलाने और गिरा देने में इतना यांत्रिक होता चला जाता है कि जब एकाएक उसकी नजर अपने मणिबंध पर पड़ती है तो यह देखकर वह खुशी से नाच उठता है कि उसका मणिबंध सोने का हो चुका है। पर यह उल्लास क्षणिक ही सिद्ध होता है क्योंकि उसे पता नहीं चलता कि किस पत्थर के संस्पर्श से उसका मणिबंध सोने का हुआ था।

अब उस 'पारस पत्थर' को खोजने का भी कोई उपाय नहीं रह गया है। सांझ हो चली है, रात आते ही अँधेरा हो जाएगा। फिर उसका मणिबंध तो सोने का ही चुका है। अब कोई भी 'पारस पत्थर' सोने की लोहे में तो बदलकर उसे पुनः स्वर्ण में बदलेगा नहीं।

लगता है 'पारस पत्थर' की यह प्रतीक था हमारे जीवन के समस्त क्रिया कलापों पर लागू होती है। हम शनैः शनैः इनता यांत्रिक होते चले जाते हैं कि हमें अपने जीवन के उन दुर्लभ क्षणों को जीने का भी अहसास नहीं हो पाता जिन्हें स्वर्णिम कहा जा सकता है और जिनसे उल्लास का पारावार फूटकर गुमनामी के गर्त में खो गया है।

मैं बराबर इसी ऊहा-पोह में पड़ा रहता हूं कि जिन व्यर्थताओं से बचा जा सकता है उन्हें कैसे टालूं। उनके बोझ और तनावों से बचने के लिए किस तरह सामान्य बना रहूं।

आज चारों ओर जिस तरह की आपाधापी है उसने जीवन की सहजता को तो जैसे नष्ट ही कर दिया है। लगता है यह अराजकता अभी कम नहीं होगी- दिनों दिन बढ़ेगी ही। तब किस गुफा में जाकर छिप जाऊं। क्या इस अविराम कोलाहल और कोहराम से बचकर कहीं भागा जा सकता है। क्या पलायन संभव है? शायद नहीं।

नहीं-नहीं निराश होने से कुछ नहीं होगा- आग को मरने नहीं देना है- फिनिक्स पक्षी की तरह जलकर अपनी ही राख से फिर जीवित होकर नए सिरे से उड़ान भरनी है।

06.08.2012

मैं इन दिनों कुछ भी नहीं लिख पा रहा हूं- न कहानी, न उपन्यास और न कोई वैचारिक निबंध अथवा आत्म! समझ में नहीं आता ऐसा कुछ दिनों से क्यों हो रहा है? एकाएक तो कोई बात समझ में नहीं आती। शायद कुछ भी लिखने के लिए घोर आत्म मंथन की अपेक्षा है।

कहीं ऐसा तो नहीं है कि मैं सामयिक जीवन की ओर उथल-पुथल और तज्जानित अराजकता से भीतर ही भीतर इतना उद्वेलित हो उठा हूँ कि मुझे सहजता की ओर ले जाने वाली कोई दिशा ही नहीं सूझ रही है। लोगों की पीड़ा, जन का हाहाकार और दिनोंदिन बढ़ती विषम अराजकता के विस्तार ने मुझे इतना जड़ बना दिया है कि मैं शब्दों की अपर्याप्तता अथवा निःशब्दता का शिकार हो चला हूँ। कहीं मुझे ऐसा तो नहीं लगने लगा है कि मानव समाज अब कभी सुख-संतोष, सुरक्षा की ओर नहीं लौटेगा और स्थितियाँ भीषण से भीषणतर होती चली जाएंगी?

पर जाज्जुब है कि पत्रिकाओं के पहले से कहीं अधिक मोटे ताजे विशेषांक डाक से आए दिन मेरे पास पहुंच रहे हैं। पहले हिंदी में इतनी पत्रिकाएं और साप्ताहिक पाक्षिक कहां थे? इस पहुंचने वाली मुद्रित सामग्री में अनेक लेखक विस्तार में जाकर उन्हीं सारी विषमताओं का संश्लेषण विश्लेषण कर रहे हैं जिन्हें लेकर मैं इतना शब्दहीन हो उठा हूँ। क्या वह इन सारी भयावहताओं से निरपेक्ष होकर अपनी बात कह रहे हैं? यदि वह वास्तव में इस सारी दुर्दांतता से ग्रस्त होते तो क्या फिर इतने ब्यौरों में जाकर तटस्थता से अपने मंतव्य व्यक्त कर सकते थे? यों ऊपर से देखूं तो मैं भी उतना असुरक्षित कहां हूँ जितनी असुरक्षा मैं करोड़ों को झेलते देखता हूँ। फिर आखिर वजह क्या है कि यहां वहां होने वाली चर्चाओं में जिनमें हमारे समय की भयानक दुरभिसंधियां और लुटेरी ताकतों पर प्रहार पर प्रहार होते चले जाने पर भी कुछ भी नहीं बदल रहा है।

बहुत सिर मारे, पर मुझे यही सूत्र हाथ लगता है कि शायद सही अथवा गलत जो भी हो रहा है उसका चीख चीखकर सभा सोसाइटियों में उल्लेख कर देने से या सेमिनारों में उस पर वाद-विवाद चलाते जाने से कुछ खास होने वाला नहीं है। यह तो एक खास और बहुत कुछ भीषण आपदाओं से सुरक्षित लोगों की मात्र बतकही है। इसी प्रकार सक्रियता का परिचय देने वाले अथवा वैचारिकता के स्तर पर सामूहिकता का निर्माण करने वाले आगे नहीं आएंगे तो सारा चिंतन और चीख पुकार मात्र वाग् वैभव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सिद्ध कर पाएगी।

मेरा चुप होकर बैठ जाना भी कोई बहुत सार्थक स्थिति नहीं है- शब्दों को कर्म और सक्रियता का बाना पहनाने की तपस्या करनी ही होगी- क्योंकि यह शब्द ही तो है जिसे कोई भीषणतम अस्त्र भी पराजित नहीं कर सकता।

27.10.1994

लिखे अथवा बोले हुए शब्द के पीछे सच्चाई का पूरा जोर न हो तो फिर वह घोर मिथ्या होकर ही रह जाता है। मैं सत्य को अनदेखा करके यदि यह घोषित कर दूं कि भौतिक स्तर पर मैं संसार का सर्वाधिक धनाढ्य व्यक्ति हूँ और मुझे छोड़कर राई रत्ती भी किसी के पास कुछ नहीं है तो क्या यह कहीं स्वीकार्य होगा? मजे की बात यह है कि ऐसा लिखने या घोषित करने के क्षण में सर्वथा एक दिवालिया ही क्यों न होऊँ।

इसी ढब पर पता नहीं हमारा कितना बोला या लिखा हुआ घोर मिथ्या ही होता है तथापि हम उसी में जीते- मरते रहते हैं। कहना न होगा यह असत्य हमारी मानसिकता को भी विषाणुग्रस्त करता ही है। लगता यही है कि हमें प्रकृति की ओर से बोलने-लिखने का जो अमूल्य उपहार मिला है उसका भी हम और अनेक वस्तुओं की तरह ही अपव्यय करते हैं। प्रत्यक्षतः क्योंकि हमें कुछ खास खर्च नहीं करना पड़ता इसलिए शाब्दिक सिक्कों को बेदरदी से फेंकते चले जाते हैं। और चीजों को लेकर

कई तरह की बंधिओं और नियंत्रण रहते हैं पर बोलने पर तो कोई पाबंदी शायद नहीं होती इसलिए उसे बेशुमार फेंकते चलते हैं।

दुनिया में न जाने रोज कितना बोला या लिखा जाता है- हजारों लाखों वृक्ष उस मिथ्याचार को झेलने के लिए धराशायी होते हैं पर वास्तव में उसमें कितना थोड़ा सा वांछित और संग्रह योग्य होता है।

होता होगा कभी शब्द 'मंत्र' पर आज तो ऐसी दुर्गति और अनर्थ शब्द को लेकर है कि जिसकी कहीं कोई सीमा नहीं दिख पड़ती। जब से शब्द लिखने बोलने या प्रसारित करने की पकड़ में आ गया है तब से तो वह निरंतर निष्प्राण और निष्प्रभावी ही होता जा रहा है।

प्राचीन ऋषि, विचारक, कवि, मनीषा, दृष्टा के मंत्र और सूक्तियों को हम मस्तिष्क और श्रुति में संभाल संजोकर रखते थे तो उनका यथासमय- यथास्थल उपयोग करने की प्रासंगिकता निरंतर बनी रहती थी पर आज तो वह ऐसे छोटे सिक्के हो चले हैं कि उनके बदले में कुछ भी उपयोगी पा सकना संभव नहीं रह गया है। ये चालू शब्द किस स्वस्थ सामाजिकता का निर्माण कर पाएंगे- आज यह किसी की समझ में नहीं आ रहा है। हां, यह तो स्पष्ट ही दिख रहा है कि इनसे निसृत और सैकड़ों मानसिक विकृतियां और बीमारियां आए दिन पैदा कर रहा है।

जितना ही हमारे कान और चेतना रोरक्रांत होती जाएंगी शब्द की जड़ता भी उसी अनुपात में बढ़ती चली जाएगी। लगता है शांति कभी शब्द की, हिंसक शक्ति आज इस कदर दुर्दमनीय हो उठी है कि उसे मौजूदा दौर में हत्यारिणी तक कहा जा सकता है।

पता नहीं, शब्द की मंत्रपूत बनाने वाला स्रष्टा और दृष्टा कब हमारे बीच आने की अपरिहार्यता को स्वीकार करेगा?

15.05.2011

पिछले महीने की इसी तारीख को मैं यहां वर्धा में आवासीय लेखक के रूप में आया था तब तक नागार्जुन सराय का निर्माण नहीं हुआ था- इसलिए आवासीय लेखकों को भी फादर कामिल बुल्के अंतरराष्ट्रीय छात्रावास में ही रहने को जगह दे दी गई थी। यों यह छात्रावास मुख्यतः बाहरी-देशी-विदेशी अतिथियों और दूसरे मुल्कों से आने वाले छात्रों के लिए ही निर्मित हुआ था।



खुदा करे, तेरे सारे चराग जलते रहें

ज्ञानप्रकाश विवेक

जाखल जंक्शन का प्लेटफार्म नंबर एक दूर तक फैला हुआ था। जहां तक प्लेटफार्म था वहां तक हरे बैंच थे... लैंप पोस्ट थे। लैंप पोस्ट की हल्की जर्द रोशनी, अँधेरे के बीच अपना छोटा-सा वृत्त बनाती। बाकी जगह अँधेरा होता। फिर अगला लैंप पोस्ट अपने हिस्से की रोशनी देता और अपने हिस्से की अँधेरे से लड़ाई लड़ता।

कॉलोनी के स्त्रियां-मर्द प्लेटफार्म नंबर एक पर घूमते रहते। लोहे के जंगलों के साथ बगनबेलिया और माधवीलता की लताएं और क्यारियों में फूल! जाखल जंक्शन का प्लेटफार्म नंबर एक, सैरगाह की तरह मालूम होता। शाम सर्दी की होती या शाम गर्मी की... शामें हमेशा खूबसूरत होतीं। ऐसा महसूस होता जैसे कॉलोनी के लोग उन शामों को उठाने आए हैं, न सिर्फ शामें बल्कि लैंप पोस्ट की रोशनियां भी अपनी अँधेरी जेबों में भरने आए हैं।

देर रात लैंप पोस्ट अकेले। ऊँघते। उदास। जर्द। किसी न मालूम शख्स का इंतजार करते नजर आते। इंतजार की दहलीज पर खड़े लैंप पोस्ट, उदास प्रेमियों जैसे लगते। कई बार ऐसा भी लगता जैसे रोशनी के गूंगे देवता... तप कर रहे हैं।

शाम से कुछ पहले जाखल जंक्शन के तीनों लैंपमैन अपने-अपने लैंपों को चमकाते। तेल-पानी-बत्ती-ढिबरी और चिमनी, सब का निरीक्षण करते। तीन लैंपमैन- बट्टी, दीना और मंगल। तीनों अपनी तरह के बंदे थे- गरीब, फक्कड़ और दुखियारे।

बट्टी, दीना सेहत से ठीक ही थे। लेकिन मंगल था दुबला, पतला, लंबा! उम्र चालीस। लेकिन शक्ल-सूरत से पचास का नजर आता। हर वक्त खदर की नीली वर्दी में मंगल! सिर पर भी नीली पगड़ी। कमीज लंबी, दो जेबों वाली। एक में कागज पत्र। चिल्लर। बीड़ी का बंडल। माचिस। दूसरी में गज्जक, चने या मुरमुरे या मरुंडा या बताशे या संतरे वाली गोलियां। कभी-कभी उसकी दोनों जेबें खाली होतीं। तब वो स्टेशन के किसी खाली और अकेले बैंच पर बैठकर, आसमान से पूछता, 'कौन ज्यादा खाली है तू या मैं?'

मंगल हमेशा स्टेशन पर नजर आता। जब उसकी ड्यूटी होती तो वह स्टेशन की इमारत के आसपास रहता। जब ड्यूटी खत्म हो जाती तो वह थोड़ी दूर किसी खाली बैंच पर जा बैठता। कभी ऊँघता हुआ। कभी जागता हुआ। रेलगाड़ी से उतरती सवारियों को देखते हुए। कभी किसी जनाना सवारी के पास सामान ज्यादा होता तो मंगल झटपट उठता। सामान उतरवाने में स्त्री की मदद करता। फिर बैंच पर आ बैठता। बैठे-बैठे गाने लगता- जे तू अखियां दे सामणें नीं रहणां/ते बीबा साडा दिल

मोड़ दे... या फिर... चिड़ी पावां सजणां नूं... विच्च अखरां दे अशक पिरो के... चिड़ी पावां सजणां नूं... । उसकी आवाज लरजती हुई होती । जैसे गा न रहा हो । वक्त के सूखे पत्तों पर चल रहा हो । कई बार लरजती हुई आवाज खांसी में बदल जाती । वो खांसते-खांसते गाता । जैसे लय में खांस रहा हो । लरजती हुई आवाज और खांसी और लय और हांफना- जैसे आवाजों की झाड़ियां उग आई हों ।

मंगल लैंपमैन का क्वार्टर स्टेशन के पास ही था । लेकिन वह अपने क्वार्टर में कम ही जाता । प्लेटफार्म पर रहता । कुछ गिने-चुने बेंच थे जहां वो बैठता । जहां वह खांसता । जहां वह गाता । जहां वह बीड़ी के सुट्टे मारता । जहां वह जेब में रखे मुरमुरे चबाता ! रेलगाड़ी से चढ़ते उतरते लोगों को देखता । रेलगाड़ी रुकती । एक शहर-सा बसता । रेलगाड़ी चली जाती । शहर उजड़ जाता ।... मंगल, रोजाना दो तरह के मंजर देखता- बसने और उजड़ने का मंजर !

होम सिग्नल और आउटर सिग्नल में लैंप जलाकर रखने की ड्यूटी मंगल लैंपमैन की होती । वापिस आने के बाद वह प्लेटफार्म नंबर एक के लैंपपोस्ट भी रोशन करता । कभी-कभी 'टोकन' भी इंजन ड्राइवर को पहुंचा देता ।

मैं छोटा था । काफी छोटा । कक्षा चार का छात्र । इतना छोटा लेकिन मंगल लैंपमैन के साथ मेरा याराना हो गया था । उसके साथ, आउटर सिग्नल तक जाना मुझे बहुत अच्छा लगता । आउटर सिग्नल, स्टेशन से बहुत दूर था । मैं थक जाता तो कुछ देर के लिए मंगल रुक जाता । मैं रेल की पटरी पर बैठ जाता । वो मुझे संतरेवाली गोलियां देता । गज्जक देता । चने देता । मेरी थकान दूर । हम फिर चल पड़ते । लकड़ी के स्लीपरों पर पांव रखते हुए, तेज-तेज चलते हुए, मैं, 'मंगल चाचा', मंगल चाचा कहता जाता । मंगल मेरे संबोधन पर निहाल होता रहता ।

कभी-कभी मैं उसका हाथ पकड़ लेता । उसका सख्त काला हाथ । कई सारी झुर्रियां । जैसे वक्त उसके हाथ को स्लेट समझकर, कई सारी, आड़ी-तिरछी लकीरें खींच गया हो । वह मेरे हाथ को थामे रखता- जैसे उसके हाथ में, बहुत नाजुक शय हो और उसे संभालकर रखना हो । मुझे उसका सख्त, काला, भद्दा हाथ, जिसमें कई बार मिट्टी के तेल की गंध भी लिपटी होती- बहुत अच्छा लगता । मैं उसके हाथ में अपना हाथ देकर, सुरक्षित महसूस करता । वह चलता । मैं दौड़ता । मैं दौड़ता और हांफ जाता । हम दोनों रुक जाते । मैं हँसता । मैं मुस्कराता । मैं कहता 'मंगल चाचा!' और मंगल निहाल !

रास्ते में वो गाता । थोड़ा-सा गाता । फिर कोई पुरानी बात याद करता । उसकी पुरानी बातें किस्सों जैसी होतीं । वह 'किस्से' सुनाने लगता । पता नहीं, वह मुझे सुनाता या फिर अपने आपको सुनाता । कई बार ऐसा लगता वह उस रास्ते को अपने मन की बातें बता रहा है, जिस पर वह रोज गुजरता है । स्टेशन से आउटर सिग्नल तक के रास्ते से वह बहुत बेतकल्लुफ था । रास्ते के दरख्त, टीले टिब्बे और टेलीफोन के खंभे उसे सब याद थे । दरख्तों का चेहरा तक याद था उसे । रेत के टिब्बों को देखता तो वो खुद किसी डिब्बे जैसा नजर आने लगता- उदास । विरान । चुप । अकेला ।

शुरू-शुरू में मेरी उम्र के कई सारे बच्चे मंगल लैंपमैन के साथ चल पड़ते- आउटर सिग्नल तक । हँसते । बोलते । रूकते । शोर मचाते ।... मंगल मन ही मन डरा डरा नजर आता । कोई बच्चा स्लीपरों में गिर न जाए । कोई बच्चा गुम न हो जाए । या फिर कोई रेलगाड़ी आ गई तो इतने सारे बच्चों को संभालना मुश्किल पड़ जाएगा ।

बाद में क्या हुआ कि बच्चे 'बोर' होने लगे । मंगल भी उनसे छुटकारा पाना चाहता हो जैसे ।

सब बच्चे एक-एक करके छिटकते गए। अकेला मैं रह गया था। बच्चे मुझे चिढ़ाते। वो मुझे भी 'लैंपमैन' कहते। कई बार वो मुझे स्लीपर भी कह देते। कई बार आउटर सिग्नल।

मैंने मंगल चाचा से कहा तो वो बड़ी संजीदगी के साथ बोला, 'पुत्र, तू अभी छोटा है। तुझे कैसे समझाऊँ? जिंदगी एक स्टेशन की तरह होती है और हम सब उसके आउटर सिग्नल होते हैं।'

आउटर सिग्नल और स्टेशन! ये दो बातें तब मैं बिलकुल भी नहीं समझ पाया था। बाद में जब मैंने साधारण लोगों को टूटते-फूटते, संघर्ष करते देखा तो महसूस हुआ कि अधिकांश लोग, जिंदगी के बाहर खड़े किसी आउटर सिग्नल जैसे ही हैं।

मंगल आउटर सिग्नल के पास पहुंचकर एक बार सिग्नल को देखता। सिग्नल के आगे हाथ जोड़ता। बेजान आउटर सिग्नल के आगे हाथ जोड़ना.... मैं चकित भाव से देखता रहता। मंगल के लिए आउटर सिग्नल भी किसी देवता की तरह हो जाता। और सिग्नल के पारदर्शी शीशे के पास जलता हुआ लैंप रखना प्रार्थना में बदल जाता। मंगल जब सिग्नल की सीढ़ियां उतर रहा होता तो ऐसा लगता जैसा वो प्रार्थना करके उतरा है।

कई बार वो तेल से भरी सूतली अपने साथ ले जाता। पहले माचिस की तीली से उसे आग लगाता, फिर उससे लैंप जला। लेकिन कई बार सूतली लोकोमोटिव वर्कशॉप से नहीं आ पाती थी। तब, लैंप जलाने में दिक्कत आती।

मंगल की जेब में अक्सर कुछ न कुछ भरा होता- मुरमुरे। संतरेवाली गोलियां। चौलाई के लड्डू। गज्जक या बताशे। वापसी पर वो जेब से चीजों को निकालता। खाने के लिए मुझे देता। मैं भाव विभोर-सा मंगल चाचे को देखता रहता। वो मुस्कराने लगता। जैसे कोई अकेला, कीकर का दरख्त मुस्कराया हो।

शाम का वक्त। खामोशी। बयाबां। दूर तक बंजर। टीले। चमकीली, चीकनी मिट्टी के टिब्बे। सिर्फ दो आवाजें। उसके पैरों की आवाजें। मेरे पैरों की आवाजें। या फिर उसके गाने की आवाजें। वो चलते-चलते ऊंची आवाज में गाने लगता। शुरू-शुरू में मुझे अजीब लगता। बाद में उसकी खराशजदा गले से निकली, बेचैन और लावारिस आवाज मुझे चकित कर देती। वो ऐसे गाता जैसे गा न रहा हो, किसी को बुला रहा हो। सन्नाटे के गुंबद में उसकी ऊंची, बेचैन, बेखौफ आवाज गूंजती चली जाती।

अचानक उसका लोकगीत थम जाता। वो पहले से ज्यादा सांवल, पहले से ज्यादा अकेला नजर आने लगता... किसी आउटर सिग्नल की तरह।... ऐसा लगता, वो किसी अकेले दरख्त पर, परिंदे के अकेले घोंसले की तरह था और हवा उसे घोंसले के तिनके बिखेर कर चली गई है।

फिर ऐसी जगह आती जहां दूर तक चरियल मैदान होते। न दरख्त न कोई बूटा।... मंगल वहां ठिठकता। मैं हैरान होकर उसे देखता। मेरे प्रश्न से पहले वो बोल पड़ता, 'चल पुत्र।'

एक शाम वो टीलों के पास रुक-सा गया। ऐसी अवस्था में वो अबूझ पहेली-सा लगने लगता था। उसने साफ-सी जगह पर मुझे बिठाया। खुद बैठा। दूर, टीलों की तरफ देखते हुए बोला, 'छोटे शाह! तू अब्बी बोट छोटा है। तू अब्बी नई समजेगा कि जिंदगी में ऐसे वाकयात भी हो गुजरते हैं कि आदमी की रीढ़ की हड्डी निकालकर ले जाते हैं ऐसे में वो न मर पाता है न जी पाता है। उसने गहरी सांस ली। फिर वो कोई हिस्सा बयान करने लगा, 'मेरी जवान लड़की थी। वीरां नाम था। अट्ट

जमात पढ़ चुकी थी। बोट सयाणीं। बोट सोंहड़ी। चन्न दा टुकड़ा।’

‘फिर?’

‘फिर क्या छोटे शाह! मेरी जनानी मरी तो मैं अपनी धी (पुत्री) का बाप और मां दोनों बंग गया। मन से पाला। बड़ा किया। वो मेरा सपना थी छोटे शाह।... लेकिन सपने तो अक्सर टूट जाते हैं न। मेरा सपना भी टूट गया।’ उसकी आवाज में जख्मी परिंदों की फड़फड़ाहट थी।

‘वीरां मर गई?’ मैंने बड़ी मासूमियत से पूछा।

‘छोटे शाह।’ वो गमजदा आवाज में बोला। आवाज को खींचते हुए उसने कहा, ‘वीरां मरी नहीं पुत्तर! मुझे मारकर चली गई। वो इक जट्ट दे लड़के के साथ भाग गई।... चार साल हो गए। कुञ्ज पत्ता नहीं। पूरे चार साल! इतना लंबा इंतजार कि आंखें भी थक गईं। लोग कहते हैं वो इब टीलों की तरफ देखी थी आखिरी बार। मैं रोजाना इन टीलों को देखता हूँ। बहुत उदास हो जाता हूँ। सोचता हूँ। क्या पता वो इस तरफ से वापिस आ रही हो।’

उसकी बेटी वीरां कभी नहीं लौटी थी। उसका सुख भी कभी वापिस नहीं आया था। वो हमेशा बेचैन, बेकरार नजर आता। घर, इसलिए कम जाता। बेटी की याद उसे और ज्यादा सताने लगती। वो प्लेटफार्म पर बैठा रहता। सवारियों को देखता। उतरनेवाली सवारियों में शायद उसकी वीरां हो।

मंगल जब लैंप जलाने के लिए जा रहा होता तो रास्ते में कई बार अपनी जेब पर हाथ मार लेता। माचिस से आवाज आती-तीलियों की आवाज। वो आश्वस्त हो जाता।

एक शाम हवा कुछ तेज थी। उसने हमेशा की तरह अपनी जेब को देखा। माचिस जेब में थी। तीलियों की आवाज भी उभरी। लेकिन आउटर सिग्नल के पास पहुंचकर जब उसने माचिस की डिब्बी खोलकर देखी। कुल पांच तीलियां। एक हौल-सा उठा दिल में। धर्रा गया मंगल। भय किसी ठंडे चाकू-सा चीरता गया उसे। हवा तेज और जेब में पांच तीलियां। इस तेज हवा में पांचों तीलियां बुझ गईं तो? यह बात सोचता तो वो कांप उठता।

उसने अपने आपको हिदायतें दीं- जल्दबाजी बिल्कुल नहीं करनी। तीली जलाकर, हथेलियों की गुल्लक में छुपा लेनी है फिर उसे लैंप की बत्ती तक ले जाना है। रोज का काम है। आज जरा होशियार रहना है।

उसने आउटर सिग्नल को देखा। हाथ जोड़े। फिर सिग्नल की सीढ़ियां चढ़कर, लैंप को यथा स्थान रखकर, माचिस जेब से निकालकर, कुछ देर यूं ही बैठा रहा। हवा के रुख का अंदाजा लगाता रहा। उसे लगा हवा थम गई है। लेकिन हवा, चोर हवा थी। उसने ज्यों ही तीली जलाई। तीली जलते ही बुझ गई। दूसरी जलाई। उसका भी यही हाल।

तीली बुझती। मंगल कांप जाता। बुरा विचार घेर लेता। लैंप न जले तो क्या होगा? रेलगाड़ी को सिग्नल का पता ही नहीं चलेगा। वो बाहर खड़ी रहेगी- आउटर से दूर। स्टेशन मास्टर सबसे पहले उसे मुअत्तिल करेगा।

मंगल ने आउटर सिग्नल पर खड़े होकर आवाज दी, ‘छोटे शाह! आज तो बड़ी मुश्किल में फंस गया हूँ। दो तीलियां बची हैं। दोनों बुझ गईं तो बोट बुरा हो जाणां है।’

‘मंगल चाला थोड़ा संभल के।’ मैंने अपने अंदर के छुपे हुए डर के साथ कहा। आंखें मूंद लीं। दोनों हाथ जोड़ दिए। आसमान की तरफ देखते हुए प्रार्थना करने लगा। जो प्रार्थनाएं स्कूल में कराईं

जाती थीं, उनके अंश, मन ही मन बुदबुदाने लगा।

मेरी सारी प्रार्थनाएं बेकार गईं। मंगल चाला की चौथी तीली भी बुझ गई।

आउटर सिग्नल के ऊपर खड़े होकर, मंगल चाचा की डरी हुई आवाज उभरी, 'ये तीली भी बुझ गई छोटे शाह! अब क्या होगा? कुज्ज समज नई आ रिया की करां। बाकी एक तीली बची है, वो बुझ गई तो?'

एक तीली कितना बड़ा सरमाया थी। एक तीली जैसे मंगल लैंपमैन की पूरी दुनिया हो। मेरी मासूम-सी उम्मीद हो।

मैं फिर आंखें मूंदकर, चुपचाप बड़े सच्चे मन से प्रार्थना करने लगा कि मंगल चाचा की ये तीली जलती रहे।

मंगल चाचा ने आखिरी तीली बहुत डरते-डरते, हिम्मत बटोरकर, दोनों हाथों को गुल्लक बनाकर जलाई। जलती हुई तीली का सफर, छोटा-सा लेकिन बहुत कठिन था- आउटर सिग्नल के लैंप तक!

उस वक़्त खिलंदड़ी हवा भी शायद शांत हो गई थी या फिर मंगल लैंपमैन के अंदर हवाओं से लड़ने की इच्छा शक्ति, बहुत ज्यादा पैदा हो गई थी।

आखिरी तीली जलती रही। लैंप तक का सफर, उसका शानदार सफर था। मंगल चाचा की दोनों हाथों की बनाई गई गुल्लक का भी कमाल था।

सिग्नल के लैंप जल उठे। मंगल चाचा वहीं से बड़े फख्र के साथ बोला, 'छोटे शाह, देख, लैंप जल गए। फतह हासिल हो गई।'

लैंपमैन के लिए सिग्नल के लैंपों का जल उठना भी किसी फतह से कम नहीं था।

मंगल लैंपमैन जब लैंप जलाकर, आउटर सिग्नल से नीचे उतरा तो बहुत खुश था। उसकी आंखों में पानी झलक रहा था। वो भगवान का आभार व्यक्त कर रहा था। कह रहा था, 'छोटे शाह, तेरी प्रार्थनाएं सच्ची थीं।'

उसने मुझे पुचकारा। जब मैं रखी संतरेवाली गोली दी। उसने मेरा हाथ पकड़ा। हम दोनों रेलवे लाइन के स्लीपरों पर पांव रखते हुए वापिस जाखल जंक्शन की तरफ चल पड़े।



भूमध्य में कविता

सुधीर सक्सेना

सन् 2014 के अंतिम दस दिन भूमध्य सागरीय क्षेत्र में बीते। एक दिन फिलीस्तीन, दो दिन इथियोपिया और तकरीबन एक दिन तो इस्त्रायल में। भूमध्य में बिताए ये दिन तजुर्बे के मान से बहुत अलग रहे। यह पट्टी बहुत सुंदर है। सुंदर धरती। सुंदर चेहरे और सभ्यता-संस्कृति की अद्भूत धरोहरें। इतिहास की लासानी नेमतें इसे अलग सौंदर्य से मांडती हैं। इस्त्रायल तो पाषाण में खिले पुष्प सरीखा है। पानी उगाने के अपने हुनर से उसने अपनी तकदीर बदल ली है। स्वच्छता, अनुशासन और नागरिक चेतना के मान से इस्त्रायल किसी भी विकसित पश्चिमी राष्ट्र से पीछे नहीं है। लोग खुश हैं। खुशहाल हैं। वे सहयोग और सहायता को तत्पर रहते हैं, इस कदर तत्पर कि अनेक प्रसंग याद बन जाते हैं। इस्त्रायल जितना हराभरा है, पड़ोसी देश उतने ही शुष्क और बंजर। कह सकते हैं कि हरीतिमा इस्त्रायल की सीमाएं रचती हैं। हरियाली का विस्तार जहां सिमटता है, वहीं से शुरू होता है दूसरा मुल्क। इस्त्रायल के अपने पड़ोसियों से रिश्ते अच्छे नहीं हैं। फिलीस्तीन से उसके रिश्ते जगजाहिर हैं और लेबनान, सीरिया आदि मुल्कों से भी। अतीत सबके कंधों पर लदा हुआ है। साझा विरासत की डोर उन्हें नहीं बांधती, बल्कि घृणा और वैमनस्य उनके संबंधों को परिभाषित करता है।

फिलीस्तीन में जाओ तो सर्वथा उलट अनुभव होता है। लोग गुस्से में भरे आक्रामक नजर आते हैं। वहां विपन्नता भी है और अराजकता भी। एक अजीब सी बेचैनी है फिलीस्तीन में जबकि इस्त्रायल समृद्ध है और शक्तिसंपन्न भी, लेकिन अहर्निश डर उसे सालता रहता है। यह डर भविष्य को लेकर है। अपने अस्तित्व की चिंता ने उसे अलग मिजाज बखशा है।

तेलअवीव, हैफा, पेकी, बेथलेहम और येरूशलम...समुद्र किनारे-किनारे लंबी पट्टी में बसा है इस्त्रायल। कोई नहीं जानता कि सरहदें कब धधक उठेंगी और कब सरहदों के भीतर कत्लों-गारत का हिंस्र खेल शुरू हो जाएगा? भूमध्यसागरीय क्षेत्र में प्रवास के दरम्यान लिखी ये कविताएं इन्हीं की देन है:

(एक)

वह
कहने को एक मुल्क है
मानचित्र पर एक राष्ट्र
मगर
वह एक फूल है
बंजर में खिला एक फूल
जिसकी जड़ों से है
पानी, रक्त में स्वेद ।

(दो)

स्मृतियां लहरों सी टकराती हैं तट से
और न जाने कितनी देर भीगा रहता है पुलिन
स्मृतियां चट्टानों में रिसती हैं
और चट्टाने बदल जाती हैं स्मृतियों के खंड में
समय आकाश के फलक पर उकेरता है स्मृतियां
और गुजरता है इस तरह अपना वक्त

इतिहास अभी भी ठिठका है याफो में
याफो की स्मृति में आज भी जीवित है
नेपोलियन बोनापार्ट ।

(तीन)

नफरत का
अपना कोई घर नहीं होता
वह कहीं भी रह सकती है
कहीं किसी तंबू में भी बिला शक
और प्रासाद में भी
और तो और
नंगे आसमान तले भी
प्रसन्नचित्त

उसका नहीं कोई स्थायी पता-ठिकाना
कोई कहीं भी पकड़ा सकता है उसे अपनी ऊंगली
नफरत के लिए कभी बंध्या नहीं हुई धरती

इर्दगिर्द नजर डाली तो बंजर में भी-
उगे नजर आते हैं नफरत के दरख्त ।

(चार)

अदृश्य आग धधक रही है
उत्तरी अफ्रीका, भूमध्य और खाड़ी में

लपटें नजर नहीं आतीं
पर बरक्स महसूस होती हैं आंच,
यह आंच बहकती है शिराओं में
फूटती है लोहे की नलियों से हठात्
जब भी बुझने को होती है आग
वे डालते हैं नफरत की छिपटियां
इस तरह मुमकिन होता है
सदियों के लिए
सदियों में धधकता अलाव ।

(पांच)

शरणार्थियों की बस्ती में
दिन भर सैर के बाद
सांझ
शरणार्थियों से शरण मांगता है
युवा फिलस्तीनी ।

(छह)

वे इतने यकसां हैं
मानो हमशक्ल हों
या कि परस्पर युग्म
उनका रंग यकसां है
और कद-काठी भी अलहदा नहीं यकसां
उन्हें यकसां पसंद है फलाफल
और यकसां खुमूस

मगर बाज वक्त यकबयक
वे पहचानते नहीं एक दूजे को
अलहदा उनका सलूक

तब खजूर और जैतून की जड़ों को
सींचती है उनके रूधिर की धार ।

(सात)

सरहद कहीं नहीं थी
जब पृथ्वी बनी
बस धरती थी और था समुद्र
वह भी बनता-बिगड़ता वक्त के साथ

न धरती पर कोई निशान था
न समूह पर कोई लकीर
न पहाड़ कहीं कोई दो फांक थे
न स्तेपियों में कहीं दीवार

मगर आहिस्ता-आहिस्ता
हर कहीं सरहदें थीं

सरहदें थीं पानी में, पहाड़ में,
सरहदें थीं धरती पर, स्तेपियों में

कठिन था सरहदों से पार पाना
कि सरहदें उग आई थीं बरबस हर कहीं
सरहदों से रिक्त नहीं था कोई भी भूखंड

बेतरह तकलीफदेह थीं सरहदें
मगर इनसे भी ज्यादा तकलीफदेह थीं
दिलों में खिंची सरहदों की अनगिन लकीरें ।

(आठ)

खौफ बहता है
उनकी शिराओं में इस कदर
कि उनकी हंसी में भी
खिलखिलाता है खौफ ।

(नौ)

जमीन इधर भी थी, उधर भी
हवा इधर भी थी, उधर भी
धूप इधर भी थी, उधर भी
जैतून इधर भी थी, उधर भी
खजूर इधर भी थी, उधर भी
जो उधर था वह इधर भी
और जो उधर था वो इधर भी

इधर उधर सब कुछ एक सा था
कि एकबारगी पहचानना दुश्वार

एक सा न था उनका यकीन

इतना अलहदा था उनका यकीन
परस्पर इतना विरुद्ध
कि यकीन के कद से कहीं बड़ा
यकीन के माथे का गूमड़।

(दस)

वे बाद में लड़े
पहले उनका यकीन लड़ा
वे बाद में लहलुहान हुए
पहले उनका यकीन लहलुहान हुआ
उन्होंने बाद में
पहले उनके यकीन ने दम तोड़ा

सब कुछ यूं हुआ
कि यकीन की नसीब नहीं हुई
दो गज जमीन।



राकेश रंजन

सिलौटे कूटनेवाली

कहां चले गए
सिलौटे कूटनेवाले?

उनकी छैनियां, हथौड़ियां
कहां चली गईं
जो दिशाओं में
बजती थीं ठायं-ठायं
सिरजती थीं अग्निकण?

हम कैसे भूल गए
पत्थर की छाती कूटकर
संगीत
रचने की वह कला?

अफसोस, मेरे बच्चे
तुम नहीं देख पाओगे
पत्थर पर खिले पुष्पगुच्छ
और पत्थर पर
तैरती मछलियां

खिरनी के प्यार में

वहां बाग थे
बागों में पेड़

जाने किन जनों ने लगाया था उन्हें
जिन्हें जानते थे हम
उनकी छांह

और फलों से
फलों के इशारे और पकने के मौसम
और रस
हम खूब जानते थे
जाते थे उनके करीब
जब पुकारते थे हमें वे द्रवित होकर
दुपहर के वक्त
जब सबसे सुनसान
और सबसे निर्विघ्न
होती थीं
ओस
और नदी की स्मृतियों से भीगी पगडंडियां

जिन पर दिखते थे खुरों के निशान
और किसानों के बेढब पदचिह्न
उन्हें पार कर पहुंचते थे हम अपने
हरे अंतरिक्ष तक

वहां भटकते थे
भूख-प्यास, भय और बस्ते को रखकर
झड़बेरी के झाड़ में

निमकौड़ी और इमली की राह से गुजरते थे
खिरनी के प्यार में...

अनगढ़ दिया

दीवाली के लिए
जो आए हैं दिए
उनमें से एक
निकला है अनगढ़

हो सकता है
जब इसे आकार

दे रहा हो कुम्हार
उसकी बांह से आकर झूल गया हो
उसका बच्चा

या खुद कांप गया हो
कुम्हार का अधनंगा शरीर
सुबह की हवा में
संभव है
धर्रा उठा हो मेघों को देखकर

या चला गया हो उठकर
किसी काम से
इसे छोड़कर अधूरा
और किन्हीं कच्ची उंगलियों ने किया हो
निर्माण इसका पूरा

यह भी संभव है
कि खुद-ब-खुद बनने की कोशिश में
बन गया हो ऐसा-

बंद सीपी के जैसा!

कैसा चमत्कार हो
दीवाली की शाम
जब तमाम दियों से फूट रही हो जोती
इससे निकलने लगे मोती!

कौन वह बरबाद

जनवरी की रात में
ट्रेन से उतरे ही मैंने
उसे देखा

प्लेटफॉर्म पर
सीढ़ियों के नीचे

सहमा
और ठिठुरा हुआ
लिपटा एक प्राचीन चीथड़े में
जिससे लिपटी थी रेत
और राख
चिरायंध-सी गंध
और गाद

धुंध ओढ़े
अँधेरे में
कौन वह बरबाद?

मैंने सोचा
और कांप उठा
कोई कह रहा था- इलाहाबाद...
यही है इलाहाबाद...

अपने पंख फिर खोलो

यों ही कब तक बैठी रहोगी तुम
चुपचाप, अकेली, उदास
अड़तीस की उम्र बैठ जाने की नहीं होती

झरनों ने अभी तुम्हें छोड़ा नहीं है
लहरों पर अब भी लिखा है तुम्हारा नाम
अब भी बुलाते हैं पहाड़ तुम्हें बाँहें पसार
अपने गले से नोच फेंको परित्यक्त होने का पट्टा
अपने पंख फिर खोलो सुजाता चंद्रा
फिर भरो उड़ान, अभी बाकी हैं कितने आसमान

तुम बैठी हो तो हवा में एक रफ्तार कम है
नदी में एक धार कम है
उमंग की एक लहर कम है पृथ्वी के नृत्य में
हतप्रभ है रोशनी का एक हिस्सा

जो नक्षत्रों से उतरा बस तुम्हारे लिए
एक टहनी अकंपित है तुम्हारे बगैर
उठाओ अपने आगे में पड़ा हुआ ढेला, चलाओ
कोई फूल-फल नहीं गिरे तब भी चलाओ
उठाओ वह ढेला परित्यक्त, उठाओ अपना जीवन

अकेले ही सही
फिर फिसलो रोहतांग दर्रे की बरफीली ढलानों पर
दार्जिलिंग की घूमघुमौआ सड़कों पर इतराओ
फिर आंसू बहाओ टाइगर हिल से देखते हुए सूर्योदय
तुम्हारे स्वागत में अब भी खिले हैं कौसानी के बुरुंश
तुम्हारे एकांत में कभी तो झलमलाता होगा पोखरा¹ का जल
तुम्हारे अँधेरे में कहीं तो शेष होगी माछापुछरी² की दमक
शिखरों ने अभी तुम्हें त्यागा नहीं है सुजाता चंद्रा
अड़तीस की उम्र त्यक्त होने की नहीं होती
जीवन ने अब भी थाम रखा है तुम्हें हजार-हजार बांहों से
उठो, जैसे उठती थी खेल मैदान में गिरने के बाद
जैसे भाटे के बाद उठता है ज्वार
भादों को भूल जाओ सुजाता चंद्रा
बादल लौट गए हैं तमस बरसाकर, आतंक का नगाड़ा बजाकर
देखो आया है शरद तुम्हारे द्वार खिलखिलाता
निकलो जैसे निकली थी केव गार्डेन³ की गुफा से सुरक्षित मुस्काती
बाहर खड़े दोस्तों की दुश्चिंता को चौंकाती
उनके संशय को ठेंगा दिखाती
जैसे निकली है भूमि भयानक बाढ़ के बाद

उठो भी, अब निकलो भी उस्ताद!

-
1. नेपाल का दूसरा सबसे बड़ा नगर तथा वहाँ के सबसे लोकप्रिय पर्यटन-स्थलों में से एक। पहाड़ों से घिरा एक विराट प्राकृतिक पोखर यहाँ का केंद्रीय आकर्षण है।
 2. नेपाल में हिमालय की अन्नपूर्णा पर्वत-शृंखला का एक पर्वत। मछली की पूंछ-जैसी आकृति के कारण नेपाली भाषा में इसे माछापुछरी कहा गया। अंग्रेजी में 'फिश टेल' के नाम से प्रसिद्ध।
 3. नैनीताल के पास का एक स्थल।

खाया हरदम धोका¹

जिसको कोकिल समझा मैंने
निकला एक भुजंगा²
जिसको समझा नीलकंठ वह
था ओछा मंछरंगा³

राजहंस बगले को समझा
खाया हरदम धोका
जनम आदमी में लेकर भी
रहा असल में बोका!

कमाया घंटा

खेती में जब मूर बुड़ाया
बाबा हुए बिगड़कर डांटा
सो मैं शहर कमाने आया
लेकर अपना झोरा-झंटा

यहां रात-दिन गात गलाया
पाया सब धोखा बस टंटा
यही समझ लो रामलुभाया
खोया सकल कमाया घंटा!

-
1. धोखा : उर्दू-प्रयोग
 2. काले रंग का एक शिकारी पक्षी
 3. नीले रंग का एक शिकारी पक्षी- किंगफिशर

इला कुमार

चौमुखे महाविद्यालय के समक्ष

उस चौमुखे महाविद्यालय के समक्ष
खुली सड़क पर
आसमान जा रहा था
रिक्शे पर लदा हुआ आसमां धीमी चाल से

वृक्षों के सायों के बीच

रिक्शे की सीट से टिका हुआ आसमां आगे बढ़ रहा था

वहां आसमान की सतह पर झुकी हुई थीं डालियां
डालियों पर लटके पत्ते
शाखाओं पर अवस्थित फल-फूल और घोंसले

सभी चलायमान

चिड़ियों ने खुली चोंच और आश्चर्य भरे
नेत्रों से निहारा इस दृश्य को

आसमान रिक्शे पर लदा हुआ
धीमी चाल से
महाविद्यालय के सम्मुख बारिश भीगी सड़क पर
बढ़ रहा था

बढ़ रही थी रिक्शे की गति

आसमान नहीं बढ़ रहा था
सन्नाटा

सन्नाटा

जिसके पदचाप मुझे हर बार
बीतती हुई रात्रियों के बीच सुनाई देते हैं

अनजान भविष्य
मन को रगड़ डालने की कोशिश में है

अवांछित पुत्र की तरह

संभावनाओं का सूरज डूबने को क्यों है तत्पर?
घर की धुरी

नहान घर को जाने वाले गलियारे के पहले
तिकोना उपेक्षित-सा कमरा उसका है
शनैः शनैः परिवार के बढ़ते जाने पर
कुनवा बढ़ा है फैला है

वह खुद सिमट गई है

बच्चे कहते हैं 'मां मेरी है मां मेरी है'
बड़े रसोईघर के सारे डब्बे उसने वर्षों पोंछे चमकाए हैं

सबों की नजर में घर उसका है

शहर की बड़ी डॉक्टरनी
उसकी अपनी बेटी जब गाड़ी का दरवाजा खोल झपटी
चाल से पास आती है

तो
वह अपने मातृत्व को और ज्यादा सघन हुआ पाती है

विद्वता से भरपूर जेठा बेटा
बड़ा-भात खाने के बाद आंचल पर मुंह रगड़ देता है

मातृत्व की सजल परछाई कंधों से बहकर एड़ी तक उसे
सराबोर कर देती है

छुटकी
लंदन से लौटे या दिल्ली से
मां सिर्फ उसकी चिंता किया करती है

कोने वाले तिरछे कमरे में रहते हुए

इतने सालों बाद
कभी-कभार वह सोचती है
घर की धुरी वह है या घर उसकी धुरी

पिछले चालीस सालों से वह सोलह घंटों की ड्यूटी पर
तैनात है।

बिलानागा

घर भी मानों हमेशा उसकी प्रतीक्षा में डूबा रहता है
खिड़कियों के पल्ले उघाड़े

जब कभी बादल धिरे महीनों में सब्जी लेकर लौटने में देर हुई

कुछ दिनों के लिए
वह घर से निकल जाना चाहती है
शरीर से निकली आत्मा की तरह वायु के अनदेखे झकोरे की तरह

किसी अन्य कामकाजी परिवार में
छोटे बच्चों की देखभाल में छह घंटे की ड्यूटी बजाना चाहती है
एक मध्यम आकार के कमरे में अपने लिए बिछाए गए गद्दे
पर सोने के लिए
जहां मेज, कुर्सी और आठ जोड़ी कपड़ों से भरा सूटकेस
उसकी प्रतीक्षा में है

बचे हुए दस घंटों में
उस घर में रहते हुए अपने महत्व को महसूस करना चाहती है
कुछ काल के लिए स्त्री घर से निकल जाना चाहती है।

विस्मृत

स्मृतियों के जादू में लिपटे बिंब
प्रतिदान मांगते हैं
उन्हें किस भाँति क्या और कब चाहिए
वह सत्य
एक दिन मैं जान लूंगी

जान लूंगी कि
वास्तव में
चाहिए क्या

अभी तक होता यही रहा है
कि
स्मृतियाँ मुझसे गुजर चुके लम्हों का
हिसाब मांगती रही है
मैं
जवाबदेही को तुर्श तीखी सिहरनों में
डूबी आत्मदया के वलयों में लीन

यदि स्मृतियों को पल-पल का हिसाब चाहिए ही
तो उन्हें लौटने दो

लौट आएं वे मेरे पास
अपने सौंदर्यित कलेवर में अवस्थित
सारे अवगुंठनों को वे खोल डालें
जिन्हें स्वप्न अजन्मे एहसास की तरह पोंछ डालता है
अतीत के कपाल पर चंदन टीके की तरह सजा देता है
और
इस तरह बीत चुका वक्त

मेरे आगे पीछे डोलने का स्वांग भरता है
उस स्वांग में कालखंड को अपने बीत चुके होने का दंभ है
विस्मृति और भ्रांतियों को क्षोभ
इन सबके बीच तुम कहां हो?

मेरा पहरुआ

मेरा पहरुआ
मुझसे सटकर खड़ा

वक्त

वह मेरे आसपास नई तब्दीलियों को रचता है
शांति के नए द्वीपों को गढ़ना सिखाता है

उसका उत्प्रेरण मेरे अंदर नहीं पैठता
मुझे एकांत चाहिए
थोड़ा सन्नाटा
और
थोड़ी खुली बयार
एक साथ दोनों मुट्ठियों में बंद पिघले शीशे की तरह

सन्नाटों के बीच बियावान जंगल है
धूप के नर्म गलीचे
पारदर्शी तरलता के ऊपर उछले हुए बिंब
वहां हरा या काला समंदर नहीं होता
न ही सुनहली या सलेटी रेत
वहां सिर्फ वजूद का विस्तार उपस्थित रहा करता है

बरसात में झुक आए बादलों के पीछे के
आसमान को टटोलती अंगुलियां होती है
उन आसमानों को थामे कुछ देवताओं के हाथ
अपनी चुप्पियों के बीच इस लोक में
नई आशाओं को उकेरते

अनजानी विधाओं के समूह
जिसे आदिकाल में माया के नाम से पुकारते थे
प्रत्यक्ष रश्मियों से झरते वे सुनहले सैलाब
कभी किरणों से अलग हो नहीं पाते
जिन्हें
दृष्टि
अलग करके देखना चाहती है

मास दिवस और शाश्वतता के बीच स्थित
समय के उन हिस्सों में मैं
जड़ हो जाना चाहती हूँ

जहां
सिर्फ मेरा 'मैं'
मुझसे सटकर खड़ा

वक्त

मेरा पहरुआ।



कुछ दोहे

कृष्णेश बाजपेयी

टूटी-फूटी झोपड़ी, अब है किसकी चाह ।
अंधी-दौड़ विकास की, हो गई सीधी राह॥

बचके कहां जाएगा, जग कीचड़ सौगात ।
गंगा जब मैली भई, तेरी कौन बिसात॥

उमड़-घुमड़ कर द्वंद ने, कौशल किया बुलंद ।
तब से हिय रचने लगा, प्यारे-प्यारे छंद॥

कड़वी बानी साधु की, मीठे बैन सुजान ।
चतुर बैन चालाक के, जानें सब बड़ ज्ञान॥

बहिन अवारा सुपनि सी, रचती अद्भुत रास ।
नाक कटावे आपनी, कुल का सत्यानाश॥

रावण भ्रात विभीषणां, राम-भरत सी प्रीति ।
एक खड़ाऊँ पूजता, दूजा भेदै नीति॥

बली को छल से मारिए, छली को बल से मार ।
राम कृत्य-अद्भुत भले, रावन-बालि प्रहार॥

अपनो से ना कर गिला, पहिले अपने जान ।
समय विषय के भेद से, खुद को खुद पहचान॥

मती न मानो मंथरा, रहिए सदा सचेत ।
वरना केकय सी गती, कूबर परिहैं बेंत॥

संगति कीजै साधु की, पहिले खूब विचार ।
वरना रावन कम नहीं, करेंगे बंटाधार॥

सज्जन की जूती भली, दुर्जन भली न खीर ।
सज्जन देंगे ज्ञान ही, दुर्जन देंगे पीर॥

जैसी करनी होयगी, वैसे भरियो थाल ।
अच्छे सोच-विचार से, अच्छा बने कपाल॥

पहिले तनका ध्यान ले, फिर ले मन की थाह ।
वरना मन के भार से, पिस जाएगी चाह॥

करनी फल के मीत सब, भरनी के न मीत ।
करनी-भरनी साथ जो, वो ही सांची प्रीत॥

मन मैला क्यों जोगिया, जोग-जतन की जान ।
फिर क्यों हारे आपने, माया को पहचान॥

धूनी जले कबीर की, आसमान लहराय ।
तिल-तिल माया भसम हो, बिरला समझा जाय॥

ऊँचे सबद कलदंरी, मौला-मस्ता फकीर ।
जो शाहन के शाह हैं, बहुत बड़ी जागीर॥

जब भी निकली आह से, इक गहरी सी पीर ।
मीरा-मीरा हो गई, पीड़ा की तगदीर॥

ये अपने वे गैर हैं, सब मति का भरमान ।
सांची बूझो तो कहूं, स्वारथ के अरमान॥

मानुष ऐसा बावरा, साधन पर इठलाय ।
एक गती सबकी 'किशन', रोवां साथ न जाय॥

अहम की चादर फेंक दे, और मिटा दे बैर ।
मरघट तक तैयार कर, कुछ लोगों के पैर॥

ऊँचे-ऊँचे सब चढ़े, लोक और परलोक ।
एक साधु बिरला चढ़े, थाम सुई की नोंक॥

भली लगें यादें भली, कुटिल याद हिय शूल ।
लाख मिटाओ न मिटै, ज्यों ब्याजी का मूल॥



अब वे कैसे कहेंगे-पथिक फिर आना

संतोष श्रीवास्तव

श्रीनगर से कश्मीरी लेखिका और मेरे श्रीनगर प्रवास के दौरान की मेरी दोस्त चंद्रकला ने लिखा है तुम्हारी बेटी सना अब बाकायदा कविताएं लिखने लगी है- लेकिन उसकी कविताओं में बस आग ही आग है। बरसों से आतंकवाद से जूझते-सुलगते कश्मीर की आग उसकी कलम में समा गई है।

मुझे याद है। 1983 में जब मैं अपने बड़े भाई मशहूर लेखक विजय वर्मा और बेटे हेमंत के साथ कश्मीर गई थी तो सना हेमंत की ही उम्र यानी छः बरस की थी। तब चंद्रकला श्रीनगर के सूचना विभाग का प्रकाशन सेक्शन संभालती थी। मेरी उससे मुलाकात भी उसके कार्यालय में हुई थी। फिर कई बार वह मुझसे मिलने यूथ हॉस्टल आई, श्रीनगर की कई जगहों पर हम साथ-साथ घूमे।

चंद्रकला का पत्र मेरे हाथ में हवा में सूखे पत्ते सा कांप रहा है। लिखती हैं- 'कश्मीर की सुरम्य वादियों को आतंकवादियों ने खून से रंग डाला है। कश्मीरी पंडित अपने बरसों पुराने घरों को छोड़ देने पर मजबूर हो जम्मू के कैंपों और अन्य दीगर जगहों पर शरणार्थी बनकर रह रहे हैं। बर्फीली जगहों के वासी धूप से चिलचिलाते मैदानों में रहने को अभिशप्त हैं। सना का ब्याह अब तक नहीं हुआ। कहां से लाऊं उसके लिए लड़का कश्मीरी लड़के आतंकवादी होकर मर रहे हैं। कुछ नहीं बचा है यहां। न तो कॉफी हाउस जहां हम घंटों गपशप करते थे। न वो साहित्यिक गोष्ठियां और न वो माहौल।'

चंद्रकला के पत्र ने मुझे जैसे बरसों का फासला लांघ श्रीनगर पहुंचा दिया। आज से चौबीस बरस पहले की यादें जहन में ज्यों की त्यों बसी हैं जैसे कल ही श्रीनगर से लौटे हों।

वह मई का महीना था और पत्थरों का शहर जम्मू गर्मी में तप रहा था। मुंबई से जम्मू की लंबी रेल यात्रा के बाद हम सुबह दस बजे जम्मू तवी पहुंचे थे और सुबह से ही गर्मी का ये आलम था। हमें वैसे भी आज का दिन ही यहां गुजारना था... जम्मू घूमने का प्रोग्राम कश्मीर से वापसी में रखा था और यूथ हॉस्टल में तभी की बुकिंग भी थी इसलिए होटल 'जेम' में रुकने के लिहाज से कमरा बुक कराया और नहा धोकर लंच लेकर यात्रा की थकान उतारने के उद्देश्य से बिस्तर पर जो लेटे तो शाम को ही नींद खुली। सूरज ढल रहा था और सुरमई अँधेरे ने जम्मू शहर को अपनी गिरफ्त में लेना शुरू कर दिया था। तैयार होकर तांगे से हम तफरीह को निकले। बाजार से गुजरते हुए अखरोट खरीदे.... कागजी, बड़े-बड़े... जम्मू का खास मेवा है अखरोट... मुंबई से रवाना होते हुए कई लोगों ने फरमाइश की थी कि अखरोट, काला राजमा और गुच्छी लाना। गुच्छी मशरूम की ही एक जाति है जो बहुत महंगा और बहुत स्वादिष्ट होता है। बाजार से हम जम्मू ब्रिज गए। रात गहराने

लगी थी। सोचा यूथ हॉस्टल ढूँढ लें। कश्मीर से लौटने पर आसानी होगी, समय की बचत होगी। जो पता हमारे पास था तांगे से वहाँ तक पहुंचने में डेढ़ घंटा लग गया। जम्मू की सड़कें मध्यम रोशनी में पीली आभा बिखेर रही थीं। गड़िन हरियाली के बीच संकरी सी ऊंची चढ़ाई वाली सड़क पर चलते हुए घोड़े की चाली धीमी पड़ गई थी। जहां-तांगा रुका वह अँधेरे में डूबी एक पुरानी इमारत थी। तांगे से उतर हमने गेट पार किया.... बड़ा ही रहस्यमय और कुछ कुछ डरावना सा माहौल था। शहर से इतनी दूर इस सन्नाटे में कैसे रुकेंगे भला। फिर भी दरवाजे पर दस्तक दी। बार-बार दस्तक देने के करीब पांच मिनट बाद दरवाजा खुला। मेरी चीख निकलते-निकलते रुकी। हेमंत डरकर मुझसे लिपट गया था। सामने धोती बंडी में एक लंबा, सफेद लंबी दाढ़ी और कंधे पर लंबे सफेद बालों वाला आदमी लालटेन को कान तक उठाए खड़ा था। भारी आवाज में उसने पूछा- 'कौन हैं आप क्या चाहिए?'

विजय भाई ने हिम्मत की- 'टूरिस्ट हैं, यूथ हॉस्टल यही हैं न।'

'नहीं, यहां कोई हॉस्टल-वॉस्टल नहीं है।'

उसने अपनी लाल लाल आंखें हम पर गड़ा दी। मैं तो हेमंत को लेकर तांगे में जा बैठी। विजय भाई थोड़ी देर पूछताछ करते रहे फिर लौट आए। होटल लौटते हुए हम विश्वास न होते हुए भी यह विश्वास करते रहे कि वह जिंदा इंसान नहीं था, भूत ही था, बिस्तर पर नींद आने तक वह एहसास हम पर हावी रहा।

जम्मू कश्मीर राज्य की गर्मियों की राजधानी श्रीनगर जाने वाली बस में बैठते ही यूं लगा जैसे पहले भी इस सड़क से गुजर चुकी हूं और कश्मीर घाटी में बसे श्रीनगर को देख चुकी हूं। श्रीनगर के दोनों तरफ बहने वाली झेलम नदी जैसे आहिस्ता-आहिस्ता आंखों के सामने से बहने लगी। उस बहाव में कितना कुछ तिरता चला गया। पहाड़ों के अंधे मोड़, टेसू और साल के जंगल, कहीं-कहीं पीपल भी। अरे, यह तो मंडला से जबलपुर जाने वाली चिरपरिचित राई घाटी वाला रास्ता लग रहा है। पांच किलोमीटर के बाद हिमालय की वनस्पतियां दिखनी शुरू हुईं। ठंडक भी शुरू हो चुकी थी। दाहिनी ओर ऊंचे-सीधे तराशे हुए सिलिका स्टोन वाले हलके-पीले पहाड़ थे और बाईं ओर टेसू का जंगल। करीब ग्यारह बजे हम मांड पहुंचे। छोटा सा पहाड़ी गांव है मांड। चाय की दुकानें, गरम पकौड़ियां..... देखते ही देखते पकौड़ियों की थाली खाली हो गई। गरमागरम चाय ने ठंड में सुकून दिया लेकिन तब तक तेज हवाएं शुरू हो चुकी थीं और बस में बैठते ही पानी बरसने लगा। बरसते पानी का मंजर ही कुछ और था। बटोट तक काफी बारिश हुई। बटोट में हमने लंच लिया। बारिश अब थम चुकी थी और सामने पहाड़ों पर बर्फ नजर आ रही थी। एक जगह ड्राइवर ने अचानक बस रोक दी। देखा, एक ट्रक पहाड़ से टकराकर टेढ़ा पड़ा था। सभी यात्री उतर-उतर कर उस ओर दौड़ने लगे। उतरते ही मेरी नजर ठिठक गई। पहाड़ पर बर्फ और नीचे घाटी तक फैला लंबा ग्लेशियर नजर आया। बर्फ पर ही ठहरे बादल पड़ाव सा डाले थे। बस का रास्ता बिलकुल यू शेष का था। यूं लगता जैसे बस वहीं, वहीं चक्कर काट रही हैं। पटनी टॉप आते-आते बारिश एकदम गायब हो चुकी थी लेकिन ठंड और अधिक बढ़ चुकी थी। पटनी टॉप में हम लगभग आधा घंटे रुके। देनदार और चीड़ का घना जंगल दूर डाक बंगला.... इस डाक बंगले में रमेश दो महीने वेद राही, रेहाना सुल्तान और 'प्रेम पर्वत' फिल्म की पूरी टीम के साथ रुके थे। रमेश ने 'प्रेम पर्वत' में दो मिनट का अभिनय किया था और फिल्म के सह निर्देशक भी थे।

जवाहर टनल हिंदुस्तान की सबसे लंबी टनल है लगभग चार किलोमीटर लंबी टनल में प्रवेश करते ही हमें अँधेरे ने घेर लिया। जब आंखें अँधेरे की अभ्यस्त हुईं तो देखा, बिजली के हंडे जगह-जगह उजाला फैला रहे थे। झर-झर की आवाज ने मुझे चौंका दिया। खिड़की के बाहर हंडों के उजाले में देखा टनल की चट्टानी छत से पानी रिस रहा था। बर्फबारी के समय कभी-कभी इतनी बर्फ गिरती है कि टनल के अंदर जाने और बाहर निकलने का मार्ग बर्फ से ढंक जाता है और यात्री टनल में फंस जाते हैं।

काजू पेट में बस रुकते ही इतनी देर से रोकी चाय की तलब जाग उठी। चाय नाश्ते के बाद हमने अखरोट खरीदे जिन्हें खाते हुए रास्ता आसानी से कट गया। यहीं अखरोट के बगीचे भी थे। पेड़ों पर हरे-हरे अखरोट फले थे। नीचे तराई में गोल कटे-कटे से सीढ़ीदार खेत थे जिनके चारों ओर भेड़ें चर रहीं थीं। कहीं-कहीं बंजारों के खेमे भी नरज आए।

बानिहाल पास आते ही विजय भाई बताने लगे कि जब वे पीस कोर कैंप के क्वार्टिनेटर बन कर कश्मीर आए थे तो यहां एक दिन रुककर अपने अमेरिकन साथियों के साथ उन्होंने बानिहाल के बहते चश्में में नाव खुद चलाई थी। बहाव इस वक्त भी मुझे तेज लग रहा था। नौका उलट जाने का खतरा बना रहता है। बानिहाल पास से श्रीनगर तक खूब अनार के पेड़ मिले और झरने इतने कि हेमंत गिनता रहा... पैंतीस तक।

श्रीनगर पहुंचते ही मुझे लगा जैसे जन्नत में आ गए हों। उस खूबसूरत शहर में कदम रखते ही बरखा की बूंदों ने ठंडक में और इजाफा कर दिया था। हेमंत हथेलियों में बूंदों को दबोचने की कोशिश में उछल रहा था। हमारी योजना यूथ हॉस्टल में ही रुकने की थी पर जिससे भी पूछते यूथ हॉस्टल कहाँ है वही अनभिज्ञता की मुद्रा में सिर हिला देता। शाम हो चली थी और जम्मू के तपते मौसम के बाद एकदम बर्फीली ठंडक बिस्तर में दुबक जाने की चाह जगा रही थी इसलिए बस अड्डे के नजदीक ही होटल सगीना में रात भर के लिए पनाह ली। होटल वाला कांगड़ी और चाय साथ-साथ कमरे में रख गया। बारिश ने जोर पकड़ लिया था। गर्म चाय और कांगड़ी की आंच से बड़ी राहत महसूस हुई।

सुबह सगीना में ही चाय नाश्ता लेकर हम यूथ हॉस्टल में शिफ्ट हुए। रह-रह कर होती बारिश ने तंग कर डाला था। ठंड इतनी कि दो स्वेटर शॉल के बावजूद भी बदन कांप रहा था। चाय वाला कश्मीरी लड़का अफसोस कर रहा था कि इस साल इस खराब मौसम के कारण कश्मीर को बहुत नुकसान हुआ है। हम लोग भी दुखी थे, ऐसे में कैसे घूमेंगे जरा बारिश कमजोर हुई तो हिम्मत करके स्कूटर लिया और डल गेट गए। डल श्रीनगर के पूर्व में शहर का दिल कही जाने वाली बेहद खूबसूरत झील है जो श्रीधारा पर्वत की घाटी में है। आठ कि.मी. लंबी, चार कि.मी. चौड़ी इस झील के चार भागों को गगरीनल, लोकुटदल, बोहाल और नगीन कहते हैं। लोकुट दल और बोददाल के बीच में रूपलंक और सोनालंक नाम के ग्लेशियर भी हैं। रूपलंक को चार चिनारी भी कहा जाता है। नगीन लेक नगीने की तरह डल को सजाए हैं। यह सबसे सुंदर और सबसे छोटी झील कही जाती है। डल के पानी में नगीन लेक अलग से दिखाई देती है कुछ सांवली सी...।

डल लेक में शिकारा लेने के लिए जब हम किनारे की ओर बढ़े तो देखा कि सारे शिकारे हाउस बोट सूने पड़े थे। सब पर टु लेट का बोर्ड लगा था। उदास तनहा झील में उदास-उदास शिकारे। एक शिकारे वाले ने हमें देखते ही फौरन आ घेरा... उसकी देखा-देखी अन्य शिकारे वाले भी आकर

मोल-भाव करने लगे। देखते ही देखते उन्होंने इतने रेट घटा दिए कि हम ताज्जुब करने लगे। आठ आने की सवारी के हिसाब से वह हमें नेहरू पार्क तक ले जाने को तैयार था। शिकारे पर बैठते ही वह हमें पटाने लगा कि 'साहब, डेढ़-दो घंटे आपको डल झील में घुमाएंगे।' जैसे-तैसे पंद्रह रुपयों में सौदा तय हुआ। शिकारे में हम तीनों आराम से तकियों के सहारे टिक कर बैठ गए। विजय भाई तो अखरोट खाने में व्यस्त थे और हेमंत झील में हाथ डाले लहरें बना रहा था। शिकारेवाले ने अपना नाम रज्जाक बताया और शिकारे का न्यू अशोका। रज्जाक बताने लगा- 'मेमसाब, ये सामने कर्णसिंह की कोठी है और ये पहाड़ पर पीछे अकबर का किला। इस तरफ सबसे ऊंचा ये शंकराचार्य का मंदिर है। ये स्वीमिंग बोट हैं। इधर वाटर स्कीइंग करते हैं। एक मिनट का दो रुपया लगता है। ये सामने दो पहाड़ जहां जुड़ते हैं वो पंच सितारा होटल हैं और ये जो दो स्पेशल शिकारे खड़े हैं उनमें इंदिरा गांधी आकर रुकती हैं। जब वो रुकती हैं तो शिकारा मैं चलाता हूं। फिर एकाएक शिकारा रोककर उसने एक वॉटर लिली का फूल तोड़ कर मुझे दिया। शिकारे में रज्जाक के बेटे की छोटी-छोटी पतवारें थीं। हेमंत ने उन पतवारों से शिकारा चलाया और छोटी सी टोपी भी पहनी। रज्जाक ने हमारे कैमरे से ढेर सारी तस्वीरें खींची। फिर एक जगह बेंत के झुरमुट में शिकारा रोककर हमें चाय बनाकर पिलाई और बिस्किट भी खिलाए। उसकी बीबी न जाने कहां से नाव खेती आई और शिकारे के नजदीक नाव खड़ी कर हमें फूलों के गुच्छे भेंट किए। वह बहुत खूबसूरत थी और उससे भी सुंदर उन दोनों का मेहमानबाजी का तरीका। वह हमें खुले दिल से घुमा रहा था। उसने नगीन लेक भी घुमाई। वहां शिकारों पर सजी कपड़े, फूल, राशन आदि की दुकानें थीं। यानी कि तैरता बाजार। फूलों से भरी नौकाओं पर फूल जैसी ही सुंदर कश्मीरी औरतें गहरे रंग के फिरन और कश्मीरी जेवरों से लदी पर्यटकों को फूल बेचती हैं। झील में तैरते बगीचों में उगी सब्जियां थीं। कमल की टुंडी जिसे कमल ककड़ी या नदरू कहते हैं यहां खूब पसंद की जाती है। झील के किनारे एक विशेष प्रकार की घास भी उगती है जिसकी चटाईयां बुनकर उन पर मिट्टी बिछाकर झील की सतह पर तैरा दिया जाता है और उस पर खेती की जाती है।

वैसे डल के किनारे हब्बाकदल और माईसमां में भी बाजार हैं। इन बाजारों की तंग गलियों में कश्मीरी, डोगरी, उर्दू, पंजाबी के कवि और शायर रहते हैं। पिछली बार विजय भाई जब श्रीनगर आए थे तो उनके साथ शिकारे में बैठकर दूर-दूर तक घूमते हुए कविताएं, गजलें सुनना-सुनाना उनका शगल था। मेरा भी मन था उन सबसे मिलने का।

रज्जाक मियां की आवभगत ने मन को गहरे छू लिया था। बेटों के दरख्तों से निकलकर शिकारा नेहरू पार्क की ओर मुड़ गया। मैं झील के गहरे पानी से ऊपर तैरती आती नन्हीं-नन्हीं मछलियों को और हरी-हरी आबी घास को देख रही थी। अचानक आसमान से मोर जैसे चटकीले रंगों वाले किंगफिशर ने झील की सतह पर पंख फड़फड़ाए और पलक झपकते ही मछली उसकी चोंच में थी। रज्जाक ने बताया कि जब बर्फ गिरने का मौसम आता है तो डल पर सफेद काले पंखों वाला परिंदों का झुंड मंडराता है और शीना 'प्यतो प्यतो' की आवाज निकालकर बर्फ को बुलाता है। कश्मीर की पहली बर्फबारी एक उत्सव की तरह मनाई जाती है। खुदा का करम मानते हैं उसे।

नेहरू पार्क आ गया था। रज्जाक ने शिकारा किनारे लगाया... चिनारों से घिरे छोटे से बगीचे में टूम और ऊपर रेस्टॉरेंट है। पतझड़ के मौसम में जब चिनार के पत्ते गिरते हैं तो सड़कें उसके

लाल पत्तों से अंट जाती है। इन पत्तों को जलाकर, सानकर उससे कोयला बनाते हैं। नेहरू पार्क में ठंड ने दबोच सा लिया था। शिकारे में बैठते ही रज्जाक ने कंबल और कांगड़ी दी। कांगड़ी में चिनार के पत्तों से बने कोयले ही सुलग रहे थे। सुलगते चिनार की महक ने ठंड को ठिठका दिया था।

डल गेट से हमने रेस्तरां के लिए स्कूटर लिया और डिनर के बाद यूथ हॉस्टल लौट आए। यूथ हॉस्टल के गेट से ही बारिश शुरू हो गई थी। हेमंत ऊंधने लगा था। हम दोनों भी थक चुके थे। कमरे की खिड़कियों में कंटीली हवा बदन में चुभी जा रही थी। खिड़की बंदकर कांगड़ी नजदीक रख ली। थोड़ी देर में नींद ने आ घेरा।

यूथ हॉस्टल से निकलते ही एक बाबाजी पीछे लग गए कि आप भले ही खरीदी न करें पर हमारा शॉल इंपोरियम जरूर देखें। अपनी कार से उन्होंने लाल चौक में स्थित कश्यप शॉल इंपोरियम हमें भिजवाया। सचमुच बेहतरीन कढ़ाई वाले शॉल, प्योर सिल्क की साड़ियां बहुत खूबसूरत और उम्दा किस्म की थीं। मैंने एक शॉल अम्मा के लिए और अपने लिए साड़ी खरीदी। इंपोरियम के मालिक ने हमें कश्मीरी चाय पिलाई जिसमें दूध नहीं पड़ता। केशर और गरम मसाले से बनाई जाती है। इंपोरियम से निकलकर हम निशात बाग आए। पहले चाय पीकर खुद को ताजादम किया फिर बाग घूमा। बाग क्या था मुगल स्थापत्य और कला का मानो जीता जागता नमूना था। पीछे जनरवान पर्वत एक खूबसूरत मुसाफिर की तरह निशात बाग के विस्तृत हृदय पटल पर मानो उतरना ही चाह रहा हो। निशात बाग से यह नजारा तब और भी मनोहरी लगा जब बर्फ ढंकी पीर पंजाल पर्वत की चोटियां दिखाई दी। निशात बाग के चिनार वृक्ष मुगलों के जमाने में पर्शिय से मंगवाए गए थे। निशात बाग का डिजाइन 1633 में मलिका नूरजहां के भाई आसफ खान ने बनाया था। बाग में जबरवान पर्वत की सिलसिलेवार ऊंचाई के अनुसार निर्मित चौड़ी-चौड़ी सीढ़ियों से झरता हुआ प्रपात अद्भुत संसार रच रहा था। इस प्रपात में डल लेक से ही पानी पंप होकर आता है। डल पर तैरते रंग-बिरंगे शिकारे यहां से किसी चित्रकार द्वारा बनाए चित्र से लग रहे थे जो फलक तक रचे चले गए थे। कश्मीर में फूलों की क्या कमी और फिर मुगलिया उद्यान... विलासी मुगल शासक कबूतर, फूल और सुंदर स्त्रियों को अपने से दूर रखते ही नहीं थे। फिर भी तमाम फूलों से लदे इस बाग में मुझे सबसे अधिक मोहा नीली पंसुड़ियों वाले मजार पोश और गहरी लाल पंखुड़ियों वाले लालपोश के फूलों ने। बाग के माली ने बताया कि 'मजारपोश हम खुद लगाते हैं पर लालपोश अपने आप उगता है। बार-बार उखाड़ना पड़ता है वरना जंगल का जंगल घेर ले।'

कैमरामैन लगातार जिद्द कर रहा था कि मैं कश्मीरी पोशाक में अपनी एक तस्वीर खिंचवा लूं। माली की संगमरमर सी बुराक, बेहद हसीन बीबी ने कैमरौन से पोशाक और जेवर लेकर मुझे कश्मीरी बना दिया था। मैंने मजारपोश की क्यारियों के पास खड़े हो तस्वीर उतरवाई।

चश्म-ए-शाही भी एक उम्दा मुगलिया उद्यान है। निशात बाग के मुकाबले काफी छोटा बादशाह जहांगीर के द्वारा बनाई गई इस उद्यान की योजना 1632 में शाहजहां के हाथों साकार हुई। यूं पिता के स्वप्न को शाहजहां ने पूरा किया जो खुद बेहतरीन इमारतों के लिए विश्व प्रसिद्ध है। चश्म-ए-शाही तक जाने वाली सड़क दोनों ओर आच्छादित सदन दरख्तों के मंडप से ढंक सी गई है।

लेकिन जहांगीर से भी पहले अकबर ने कश्मीर में सबसे पहला मुगलिया बाग डल लेक के उस पार नसीम बाग नाम से बनवाया। नसीम यानी तड़के सुबह की ताजी स्वच्छ हवा...।

जहांगीर ने कश्मीर का सबसे खूबसूरत उद्यान बल्कि सुंदरता के खजाने का हीरा शालीमार उद्यान अपनी बेगम नूरजहां के लिए 1619 में बनवाया था। जो आज भी जस का तस है। सदियां गुजर गई पर जहांगीर के प्यार की निशानी शालीमार उतना ही खूबसूरत है जितना तब रहा होगा। यह उद्यान 539 बाईं 132 मीटर लंबा चौड़ा चार छतों वाला भव्य उद्यान है। यहां नहर का पानी पूरे बाग को सींचता है और पालिशड पत्थरों पर से बहता हुए शालीमार में छलछलाता रहता है। यह पानी हर हखन से आता है... प्राचीन काल में हखन में अमृत शोधकर्ता नागार्जुन रहा करते थे। इतिहास में जो कुछ दर्ज है उससे कहीं अधिक जानते होंगे यहां के ऊंचे साधन चिनार के दरख्त यहां के फव्वारे लेकिन हमें तो बस इतिहास ही बताता है। शालीमार के जिन धूलकणों पर कभी शाही रुपसियों के कोमल चरण पड़े होंगे जब वहां पर्यटकों के भारी-भारी जूतों की आवाज ही है। कहते हैं पहले शालीमार का निर्माण श्रीनगर बसाने वाले राजा प्रवरसेन द्वितीय ने किया था। फिर उसी के भग्नावशेषों पर जहांगीर ने इसे बनवाया।

शालीमार के झरने, फव्वारे कुछ कहते से लगते हैं। नूरजहां के प्यार में न्योछावर जहांगीर ने स्वतंत्र बहते जल को बांध बंधकर नर्तकी का रूप दिया और फव्वारों में ढाला... थिरकते जल की धारा आकाश को छूने की कोशिश में असफल हो जब काले पत्थर की शिला पर गिरती है तो क्यारियों के फूल सिहर उठते हैं। जब जहांगीर यहां सैर करने अंतःपुर को साथ लिए आते थे तो शालीमार का सबसे खूबसूरत हिस्सा सिर्फ उनके और नूरजहां की सैर के लिए होता था। बाकी के तीन हिस्से साधारण लोगों के लिए। शालीमार के भीतर विचरते हुए मुझे लगा जैसे यहां का पत्ता-पत्ता फूल-फूल अतृप्त मादकता लिए झूम रहा है।

तमाम उद्यानों की सैर के बाद हम पैदल ही डल के किनारे-किनारे टहलते रहे। झील की लहरों पर हरमुख पर्वत का डोलता अक्स कभी गायब हो जाता कभी उभर आता। किनारे लगे कमल के फूलों पर लहरों से छिटके जल बिंदु मोती से चमक रहे थे। शिकारे कल की बनिस्पत आज पर्यटकों को सैर कराने में ज्यादा संख्या में जुटे थे। नीले आकाश पर कभी बादलों के टुकड़े तैरते तो कभी मुर्गाबियों के झुंड... कहीं से सिंकते भुइयों की आ रही महक से हेमंत मचल उठा था- 'दादा भुइया..।' और विजय भाई तुरंत उसका हाथ पकड़ महक की दिशा में चल पड़े थे।

सुबह विजय भाई के लेखक मित्र आनंद हमें सूचना विभाग और यूनिवर्सिटी की सैर कराने के लिए आ गए। आनंद को मैंने लगभग नहीं ही पढ़ा था पर उन्होंने मुझे 'धर्मयुग', 'सारिका' में पढ़ा था और मेरे नाम से परिचित थे। लिहाजा सारे रास्ते, मुंबई दिल्ली के साहित्य समाज पर चर्चा तुलना होती रहीं। उन दिनों सूचना विभाग से 'योजना' नामक विभागीय पत्रिका निकलती थी। यहीं मेरी चंद्रकला से पहचान हुई थी। पहली ही मुलाकात में इस कश्मीरी लेखिका की मेहमाननवाजी और शिष्टता ने मेरा मन मोह लिया था। फिर हम साथ-साथ यूनिवर्सिटी की सैर पर गए थे। पिंजरे से छूटे हिरन की तरह वह फुर्ती से हमें यूनिवर्सिटी घुमा रही थी।

'मैंने पोस्ट ग्रेजुएट यहीं से किया है। यह यहां का परिसर है, यह कैंटीन यहां से परिसर पार कर तमाम बड़े-बड़े क्लास रूम, विभागीय कक्ष सिलसिलेवार हैं।'

मेरा ध्यान हिंदी विभाग ने अपनी ओर खींचा। वहां के हिंदी अध्यक्ष मि. कश्यप थे जिन्होंने आगे बढ़कर हमारा स्वागत किया और कश्मीरी कहवा पिलाया। कहवा केशर, बादाम आदि के

सम्मिश्रण से बना एक ऐसा पेय है जिसे पीकर बदन में बर्फबारी से जूझने की गर्मी आ जाती है।

‘यूनिवर्सिटी आई हो तो हजरत बल भी देख लो, नजदीक ही है। चंद्रकला के प्रस्ताव का समर्थन आनंद ने भी दिया। लिहाजा हम यूनिवर्सिटी से हजरत बल आ गए।

हजरत बल मोहम्मद हजरत बल की दरगाह है जिनका पवित्र बाल इस दरगाह की पहली मंजिल के कक्ष में रखा है और विशेष मौके पर ही वह बाल शीशे के चौकोर चांदी के नक्काशीदार बक्से में से आम दर्शनार्थियों को दिखाया जाता है। बहुत पहले जब लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री थे तब यह पवित्र बाल गुम गया था। शास्त्रीजी ने विशेष खोजी दस्तों की सहायता से यह बाल खोज निकाला था। हजरत बल डल के पश्चिमी किनारे पर है। सफेद संगमरमर से बनी दरगाह तक पहुंचाने वाली सड़क के दोनों किनारों पर खाने पीने की चीजों, फूलों की चादरों आदि का बाजार है। मछली, गोश्त के बड़े-बड़े टुकड़े नारंगी रंग के मसाले से लिपटे भुने सिंके रखे थे जिनकी गंध मेरी बर्दाश्त के बाहर थी। गंध नसीम बाग आने तक मेरे साथ-साथ बनी रही। चंद्रकला कौल भी कश्मीरी ब्राह्मण हैं, शाकाहारी हैं। इन जगहों पर शाकाहारियों की बड़ी मुसीबत हो जाती है।

कॉफी हाउस में आनंद और चंद्रकला के साथ बीता यह एक घंटा बहुत सार्थक था। आनंद का तर्क था कि जब देश आजाद हुआ उसके तुरंत बाद कश्मीर में कबाइली आक्रमण शुरू हो गए। उसके विरुद्ध सरकार कोई कठोर कदम क्यों नहीं उठाती।

कश्मीर का इतिहास हमारी सांस्कृतिक विरासत है। भौगोलिक परिवेश ने कितने रूप बदले जहां झील थी वहां पर्वत बन गए... न जाने कितने राजाओं, जातियों, वंशजों का शासन यहां हुआ पर अब तो हम स्वतंत्र हैं। सतीसर अपने आप में एक इतिहास है... तुमने कश्मीरी कवयित्री ललद्दयद का नाम सुना है? चंद्रकला ने कॉफी की घूंट भरते हुए पूछा- ललद्दयद सात सौ वर्ष पहले हुई थी तब उसने कश्मीर में न जाने ऐसा क्या देखा जो लिख दिया- ‘धनुष काठ का बाण घास का/ राजगीर भी मिला अनाड़ी/हाट दुकान बिना ताले के/तीरथ दुर्लभ, दशा अनर्थक।’

ललद्दयद की कविता क्या कबाइली आक्रमणों के समय को बयान नहीं करती?

मैंने ताज्जुब से चंद्रकला को देखा था- हां सच... ललद्दयद को लोग पागल कहते थे कि वह नंगी सड़कों पर घूमती थी पर वह नंगी नहीं थी... प्रभु के दीवानेपन में उसे अपना होश कहाँ था कपड़ों की सुध बुध कैसे रखती?

उस रात चंद्रकला और आनंद से विदा लेने के बाद भी देर रात तक मैं ललद्दयद के बारे में सोचती रही थी। सतीसर के बारे में तो मेरे कॉलेज के दिनों में बाबूजी ने विस्तार से बताया था पर ललद्दयद!

अगले दिन मौसम बदली भरा था। लाल चौक से टैक्सी लेकर हम जामा मस्जिद, बादशाह टूम, शाही मस्जिद आदि घूमते हुए परी महल आए। परी महल एक खूबसूरत उद्यान है जिसे दाराशिकोह ने अपने सूफी गुरु मुल्लाशाह की स्मृति में बनाया है। कश्मीरी झेलम को दरिया कहते हैं। डल झील के महत्व के मद्देनजर झेलम पर्यटकों को यहां उतना नहीं लुभाती जितना जम्मू में लुभाती है। झेलम पर शाह हमदान मस्जिद है जो शहर की बहुत पुरानी मस्जिदों में से एक है। यह लकड़ी की बनी है और इसको बनाने में छेनी, हथौड़ा, स्क्रू-ड्राइवर का उपयोग नहीं किया गया। इसकी दीवारें और छत, उक्रेरे गए बेहतरीन दुश्चावलियों से पूर्ण है। जब हम डल की सैर शिकारे से कर रहे थे तो सामने शंकराचार्य की पहाड़ियां देखी थीं।

शंकराचार्य मंदिर तख्ते सुलेमान हिल की चोटी पर था। सर्पीले पहाड़ी रास्तों से इस ऊंची चोटी तक पहुंचने में हमें काफी वक्त लगा। ऊंचे-ऊंचे चीड़ देवदार के दरख्तों का जंगल भी मिला। हेमंत न तो थका न बैठा बस चढ़ता ही गया। मुझे लग रहा था चढ़ नहीं पाएगा पर वह मुझसे काफी आगे चलता रहा। शंकराचार्य मंदिर पत्थरों से बना 200 ईसा पूर्व का मंदिर है जिसमें भगवान शंकर विराजमान हैं। पूरा मंदिर घूमकर हम देर तक सीढ़ियों पर बैठे ऊंचाई से कश्मीर का नजारा देखते रहे। डल पर हाउस बोट देखकर हेमंत मचल उठा था।

‘दादा, हम हाउस बोट में रहेंगे न?’

‘क्यों नहीं’, विजय भाई चिलगोंजे छील-छील कर हेमंत को खिलाते हुए मुझसे बोले- ‘आज म्यूजियम और फोर्ट देख लेते हैं। कल हाउस बोट बुक करा ली है। परसों पहलगाम चलेंगे।’

शंकराचार्य मंदिर से उतरकर हम टैक्सी में आ बैठे। पहले प्रतापसिंग म्यूजियम क्योंकि शाम होते हैं वह बंद हो जाता है। म्यूजियम के गेट पर उतरने ही आनंद मिल गए। हाथ में डलिया जिसमें बड़ा सा हॉट बॉक्स।

‘यह क्या?’

‘डिनर है इसमें.... आप लोग घर तो आ नहीं पा रहे हैं। मेरी बीबी के हाथ का कश्मीरी खाना फिर खाएंगे कैसे?’

आनंद की आंखों में अपनत्व और शिकायत एक साथ लहराई। डलिया टैक्सी में रख विजय भाई टिकटें ले आए। यह म्यूजियम किसी जमाने में कश्मीर के महाराजाओं का समर पैलेस था। 1898 में यह म्यूजियम बना दिया गया। शॉल पेंटिंग्स, हथियार, चांदी तांबे और गिलट के जेवर, तांबे और कांसे के बर्तन लाडखी हैंडिक्राफ्ट्स सहित विभिन्न देशों, राज्यों से कश्मीर के राजाओं को उपहार में मिली बेशकीमती वस्तुएं अद्भुत संग्रह के रूप में मौजूद थीं। सबसे अधिक प्रभावित किया ऊन और धागों से बुना, कशीदा किया श्रीनगर का नक्शा जो दीवार पर टंगा था।

18वीं शताब्दी में बने हरि पर्वत किले को अफगान गवर्नर अत्ता मोहम्मद खान ने बनाया। हरि पर्वत की पश्चिमी ढलान पर पार्वती का मंदिर है और किले के दक्षिणी द्वार पर ख्वाजा मखदूम साहिब का दरगाह। हिंदू-मुस्लिम एकता का ऐसा ही उदाहरण ख्वाजा बख्तियार काकी की दरगाह है जो दिल्ली के पास महरौली में है। दरगाह के सामने देवी का मंदिर है। ये धार्मिक मजबूतियां ही तो हमें एक डोर में बांधे हैं।

किले की सैर के बाद हमने यूथ हॉस्टल लौटकर अपने कमरे में चादर बिछाकर दस्तरखान सजाया। कड़क ढाती ठंड थी। बारिश क फुहारें धरती तक पहुंचते-पहुंचते बर्फ बन जाती थी। इस मौसम की बर्फ कश्मीर में पर्यटकों को लेकर मायूसी थी। बहुत कम पर्यटक इस वर्ष आए थे। बहुत सस्ते में हमें हाउस बोट मिल गई थी वरना सीजन में दाम चौगुने हो जाते हैं। हम कंबलों में घुसे कांगड़ी की आंच से गरमाए बातों में मशगूल थे। आनंद ब्रांडी लाए थे। हम सबने एक एक पैग लिया और दस्तरखान पर कश्मीरी गुच्छियों का पुलाव, कड़म का साग और चटपटा तरकरियों का अचार प्लेटों में खाने लगे। खाना इतना स्वादिष्ट था कि तारीफ करनी ही पड़ी। तय हुआ दो दिन के कपड़े और जरूरी सामान का बैग तैयार कर हम टैक्सी से पहले खीर भवानी चलेंगे फिर डल गेट. .. आनंद हमें खीर भवानी में मिलेंगे।

सुबह चाय सैंडविच का नाश्ता कर गरम कपड़ों से लैस हम टैक्सी से खीर भवानी मंदिर रवाना हुए। रातभर बरसकर बादल लापता थे और धूप छिटकी थी। चंद्रकला कौल भी आज के दिन खीर भवानी दर्शन के लिए जा रही हैं। आज शुक्ल पक्ष की अष्टमी है। और मई का महीना, कहते हैं कि मई के इस खास दिन मंदिर में स्थापित रागन्यादेवी मंदिर के सामने बहते चश्मे के पानी का रंग बदल देती हैं। मेरी उत्सुकता लाजिमी थी। मंदिर में प्रवेश के पहले मैंने प्रसाद फूल-माला खरीदी जिसे एक मुसलमान बेच रहा था। खीर भवानी कश्मीरी हिंदुओं का सबसे प्राचीन तीर्थ स्थान माना जाता है और इस मुसलमान का परिवार भी पीढ़ियों से यहां प्रसाद बेचता आ रहा है। मैंने उससे चश्मे के पानी के बारे में जानना चाहा तो वह बोला- 'दिन भर रुको, शाम को खुद ही देख लेना।'

मंदिर की बढ़ती भीड़ में भी आनंद और चंद्रकला हमें सहज ही मिल गए। हमने मंदिर में जाकर प्रसाद फूल चढ़ाए। वहां कुछ कश्मीरी पंडित खीर से भरी कटोरियों वाली थाली दर्शनार्थियों के बीच घुमा रहे थे। मैंने एक कटोरी हेमंत के हाथ में पकड़ाई, एक खुद ली। ऐसी स्वादिष्ट खीर मैंने पहले कभी नहीं खाई थी। चंद्रकला ने हम पांचों की कटोरियां धोकर टोकरी में रख दीं। मैंने सामने बहते चश्मे के स्वच्छ जल को देखा और कश्मीरी आस्था विश्वास के आगे सिर झुका दिया।

डल गेट पहुंचते-पहुंचते दोपहर हो गई थी। हाउस बोट के मालिक मोहम्मद रऊफ ने हमारे लिए लंच तैयार करके रखा था। हाउस बोट में ड्राइंग रूम, बेडरूम, डाइनिंग रूम, टॉयलेट, बाथरूम सब राजसी साज सज्जा से युक्त थे। फर्श पर कालीन बिछे थे। हाउस बोट एक छोटे से पुल को पारकर दूसरे छोटे हाउस बोट से जुड़ा था जिसमें रऊफ अपने परिवार सहित रहता था और हमारे लिए खाना भी वहीं पकाता था। बैग रखकर मैं चकित सी पूरा हाउस बोट घुम आई। डाइनिंग रूम में टेबल पर रऊफ की बेटियों ने खाना लगा दिया था। उसके दो छोटे बेटे दौड़-दौड़कर पानी आदि रख रहे थे। इतनी खूबसूरत बेटियां, बेटे... सचमुच ईश्वर ने सौंदर्य का खजाना लुटाया है यहां। लंच लेकर चंद्रकला और आनंद चले गए। हम हाउस बोट की बालकनी में कुर्सियों पर आ बैठे... ठंडी हवा झील के पानी को अस्थिर बना रही थी। हाउस बोट भी हिचकोले लेने लगी। जहां देखों जल ही जल... धरती देखने को आंखें अकुलाने लगी... कैसे रहते होंगे इटली के शहर वेनिस के वासी जो पूरा का पूरा समंदर पर बसा है। कृष्ण की मथुरा भी तो समंदर पर थी।

धीरे-धीरे दीप जलने लगे। आकाश में बादलों के बीच से अष्टमी का चांद कभी-कभी झलक दिखला देता था। हम ऊपर सीढ़ियां चढ़कर खुली छत पर आकर श्रीनगर को रात की बाहों में पनाह लेते देखते रहे। गनीमत थी बरसात नहीं हो रही थी। हेमंत ऊंधने लगा तो मैंने रऊफ मियां को आवाज दे खाना और दूध मंगवाया पर यह नींद से इतना बेहाल था कि दो घूंट दूध पीकर सो गया। नींद मेरी आंखों को भी सताने लगी। विजय भाई ब्रांडी का पैग बनाकर रऊफ मियां के साथ छत पर चढ़ गए और मैं खाना खाकर सो गई।

सुबह डल गेट से हमने पहलगाम के लिए टैक्सी ले ली। आज तो आसमान में एक भी बादल नहीं था। दूर क्षितिज की रेखा ऐसी लग रही थी जैसे क्षितिज ने आसमान को बिन मेघ पा धरती तक खींच लिया हो। खिड़की से ठंडी हवा आज अच्छी लग रही थी। झाइवर मुसलमान था। हमने बताया कि हम पहलगाम में एक रात रुकेंगे और दूसरे दिन गुलमर्ग जाएंगे। वो चाहे और अगर सवारी मिल जाए तो लौट आए। उसने जी अच्छा कहकर अवंतीपुर में टैक्सी रोकी। अवंतीपुर में 9

वीं सदी के खंडहर और विष्णुजी का मंदिर है। चरारे शरीफ शेख नुरुद्दीन की जियारत है पर वह कश्मीरी संत नुंद ऋषि की आराधना भूमि के रूप में अधिक प्रसिद्ध है। मानसबल झील का बहुत गहरा और पारदर्शी पानी था जिसमें किनारे-किनारे गुलाबी कमल लगे थे। वहां पर एक गरम पानी का चश्मा भी है। कश्मीरी में चाहे जितनी ठंड पड़े, बर्फ पड़े पर इसका पानी कभी नहीं जमता। हेमंत को गरम बहते पानी में हाथ डुबाकर रखने में बड़ा मजा आया। झाइवर मेरे लिए कमल का एक फूल तोड़ लाया। फूल की खुशबू में मैं देर तक खोई रही। सौहार्द बढ़ाने का यह अद्भुत क्षण था। वैरीनाग पहुंचे तब तक बादलों और धूप के बीच आंख मिचौली शुरू हो चुकी थी। वैरीनाग एक तालाब जैसा स्थल है जो प्राचीनकाल की याद दिलाता है। झेलम यहीं से निकली है जो एक विशाल धारा में तब्दील होकर एक बड़ी नदी का रूप ले लेती है। वहां बड़ी-बड़ी काली मछलियां थीं। अनंतनाग में ढेर सारे छोटे-छोटे झरने और गुफाएं हैं जिसमें एक बड़ी गुफा भी है। ऐसा माना जाता है कि भगवान विष्णु ने शेषनाग के रूप में अवतार लेकर इस गुफा में प्रवेश किया था और अनंत कहलाए थे। मटन भी हिंदुओं का प्राचीन तीर्थ है। मार्तंड में एक टूटा फूटा सूर्य मंदिर है जिसे ललितादित्य मुक्तपिदा ने बनवाया था।

पहलगाम पहुंचते ही बर्फीली हवा ने हमें भयभीत कर दिया। जैसे-तैसे टैक्सी से उतरे। अद्भुत.. हरे-हरे ढलवां मैदान, उन पर टेंट होटल थे। ढलान पर टेंट लगाकर होटलों जैसी सुविधा दी गई थी। एक एजेंट पीछे लग गया... चलिए आपको बढ़िया होटल में ले चलते हैं जहां बाँबी की शूटिंग के दौरान डिंपल कपाड़िया और ऋषि कपूर रुके थे।

कोई एजेंट अपनी तरफ खींच रहा था तो कोई अपनी। झाइवर ने साथ दिया। वह हमें एक साफ-सुथरे सुविधाजनक होटल में ले आया... इस बकझक में हेमंत के बारे में मैंने सोचा ही नहीं। उसे अपने बीच न पा हम घबरा गए। याद आया कि जब होटलों के एजेंट हमें घेरे खड़े थे तभी एक घोड़े वाले (पोनी) को पकड़े हेमंत घोड़े पर बैठने की जिद्द कर रहा था। हम फौरन होटल से बाहर निकले तो देखा हेमंत महाशय शान से घोड़े पर बैठे होटल के नजदीक चले आ रहे हैं। मैं उसकी घुड़सवारी पर दंग थी। इतना नन्हा बच्चा और कितने आत्मविश्वास से घोड़े पर अकेला बैठा है। विजय भाई उसे डांटने की जगह उसकी पीठ थपथपाकर बोले- शाबाश, तुमने बहुत बढ़िया घुड़सवारी की।’

होटल में थोड़ा सुस्ताकर चाय नाश्ता करके हम पहलगाम घूमने निकले। समुद्र सतह से 2130 मीटर ऊंचा पहलगाम एक छोटा सा गांव है जहां भेड़ पालने वाले चरवाहे ही रहते हैं। जगह-जगह भेड़ों के बाड़े थे। भेड़ अपने ऊन का लबादा ओढ़े और भेड़ों के मालिक उस ऊन से बने गरम कपड़े पहने... देवदार, चीड़, फर आदि दरख्तों वाले घने जंगलों में आदमी की चली हुई पगडंडियां आमंत्रण देती सी लगी। जिधर राह ले जा रही थी, हम चले जा रहे थे। घोड़े वाले कहीं से भी पीछे लग जाते। हेमंत घोड़े पर बैठने को उतावला हो रहा था। विजय भाई ने घोड़े वाले से पूछा- ‘कहां ले चलोगे।’

‘बाइसारान चलते हैं कहेंगे तो मामलेश्वर ले चलेंगे। लिदर के पुल पर से ले चलेंगे, लिदर और शेषनाग चश्मा दिखाएंगे।’

‘ठीक है चलो...’

हम तीनों तीन घोड़ों पर बैठ गए। हवाओं का शोर जारी था। घोड़े की जीन कसकर पकड़नी पड़ी। विजय भाई और हेमंत के घोड़े साथ-साथ, मैं पीछे... तभी पानी की बूंदों ने चेहरे को छुआ.. बहती लहरों का शोर भी सुनाई दिया। कुछ पल बाद ही लिदर सामने थी। हम घोड़े से उतर पड़े।

लिहदर के पानी को छूने की धुन में मैंें गोल पत्थरों पर पैर जमाती आगे बढ़ी । छल-छल बहती तलहटी तक के दर्शन कराती पारदर्शी लिहदर के तेज बहाव में जैसे ही हाथ डुबोया, लगा जैसे बर्फ के ढेर को छू लिया हो । इतना ठंडा पानी कि ऊंगलियां सुन्न पड़ गई । मैंें चुल्लू में भरकर पिया भी... स्वादिस्ट मीठा पानी । लिहदर पर लकड़ी का पुल था जिसे पार कर हम बाइसारान और मामलेश्वर की ओर बढ़ चले ।

बाइसारान क्या था पाइन और फर का घना जंगल मात्र... लेकिन बेहद लुभावना... उस जंगल में बिना ऊबे कई घंटे बिताए जा सकते थे । मामलेश्वर में हमने एक छोटी सी चट्टान पर बना भगवान शिव का मंदिर देखा । मंदिर के आगे चौड़े मैदान में झोपड़ी बनाकर शायद पंडितजी रहते थे । हमें देखते ही बाहर आए और साथ बैठकर गपशप करने लगे । पंडितजी अंग्रेजी भी जानते थे । कहने लगे- 'पांच साल से यहां हूं । घर-द्वार त्याग दिया है । यहां रहकर मोहमाया छूटती नहीं थी । मन वैराग्य चाहता था इसलिए यहां आ गया । अकेला रहता हूं । अपना बनाता खाता हूं और प्रभुनाम जपता हूं ।'

चेहरे से पंडितजी पैंतीस-चालीस वर्ष के अक्खड़ युवक नजर आ रहे थे । आंखें भावहीन कुछ-कुछ डरावनी सी... आंखों का सूनापन एक भयानक सन्नाटे जैसा लग रहा था । रास्ते में घोड़ेवाले ने बताया- 'खून करके भागा है अपने गांव से... यहां पंडित बना बैठा है ।' मेरी शंका निर्मूल नहीं थी । झुटपुटा घिर आया था । हमारे घोड़े अल्पाइन वनस्पतियों के बीच से गुजर रहे थे ।

होटल लौटते हुए रात हो गई । हमने होटल में ही डिनर मंगवा लिया... थकान के कारण जल्दी नींद आ गई । बेहद ठंडे मौसम के बावजूद रजाई, कंबल के साथ कमरा भी अपेक्षाकृत गर्म था ।

पहलगाम के आसपास और भी देखने लायक खूबसूरत जगहें थीं । वैसे ट्राउट मछली के लिए प्रसिद्ध फिरिलारान जहां मछली मार पर्यटक अधिक जाते हैं । शिकारगाह नामक वाइल्ड लाइफ रिजर्व जाने के लिए सारा दिन ट्रेकिंग करनी पड़ती है । तरसर झील फूलों से भरी वादियों में है । कोलोहोई ग्लेशियर में एक खास जगह अपने पर लिहदर गायब हो जाती है और 27 मीटर की दूरी पर गुरखुम्ब में प्रगट हो जाती हैं । पर हम इन जगहों को नहीं देख पाए । एक तो इनकी दूरी अधिक थी और हमारे पास उतना समय नहीं था । यहां से मात्र 47 किमी है अमरनाथ जहां घोड़े पर ट्रेकिंग करते हुए आराम से जाया जा सकता है ।

सुबह पहलगाम की इक्का-दुक्का सोविनियर शॉप से मैंें अखरोट की लकड़ी से बने टेबिल लैंप अपनी सहेलियों के लिए उपहार स्वरूप खरीदे । हेमंत तो वॉल हैंगिंग चीजों को चुन-चुनकर उठाता जा रहा था । उसकी पसंद सदा से लाजवाब रही है ।

शाम तक हम श्रीनगर लौट आए । जब हम लोग जम्मू से श्रीनगर आए थे तो सगीना होटल के मैनेजर ने हमें जम्मू कश्मीर टूरिस्ट रिसेप्शन सेंटर श्रीनगर का फोन नं. दिया था ताकि हम घूमने लायक जगहों की जानकारी, होटल बुकिंग आदि करा सकें । लिहाजा कल का ही गुलमर्ग, खिलनमर्ग और सोनमर्ग का चार दिन का पैकेज बुक करा लिया । शाम को हम लाल चौक घूमने निकले । यह इलाका श्रीनगर का सबसे अधिक चहल-पहल भरा इलाका है । यहां कई इंपोरियम, कागज को कूटकर बनाए गए सजावटी सामान गलीचे और लकड़ी के सजावटी सामान फर्नीचर की दुकानें ही दुकानें हैं । इस ठंडे बर्फीले पहाड़ी प्रदेश में इतनी कला देखकर आश्चर्य होता है । कश्मीरी काशीदाकारी तो जग प्रसिद्ध है । शॉल, कुरते पर ऐसी सुंदर कशीदाकारी कि देखकर ही खरीदने का मन करता है । यहां के बुजुर्ग इन

कलाओं में माहिर हैं। मैंने सफेद बालों वाले, आंखों पर मोटे लेंस का चश्मा चढ़ाए सत्तर साल के बुजुर्ग को गलीचा बुनते, कसीदाकारी करते और पेपर से बनी वस्तुओं पर रंग और ब्रश से सुंदर चित्र उकेरते देखा तो चकित रह गई। लगा जैसे इस समूचे कला-संसार के ये आधार स्तंभ हैं।

सुबह गुलमर्ग के लिए निकले तो ओस से नहाए आसमान पर सफेद परिंदों की पंक्ति फूलों की झालर सी इस ओर उस ओर तक खिंची थी। इक्का-दुक्का आवारा बादल पर्वत शिखर पर मंडरा रहे थे।

श्रीनगर से 56 कि.मी. दूर गुलमर्ग पहुंचते ही उसके नाम की सार्थकता स्पष्ट दिखाई देने लगी। गुलमर्ग यानी Meadow of Flowers... पहले यह गौरी मार्ग कहलाता था। पहाड़ी चश्मे, चिकनी, फिसलन भरी बर्फीली ढलान और जंगली फूलों की बहार हर तरफ छाई हुई थी। ट्रेकिंग, स्कीइंग, घुड़सवारी और गोल्फ के खेल के लिए प्रसिद्ध गुलमर्ग में हम होटल गुलमर्ग में रुके। यह यहां के बेहतरीन होटलों में से एक है। टूर मैनेजर बता रहा था- 'यहां 18 होल वाला गोल्फ कोर्स दुनिया का सबसे ऊंचा हरा भरा गोल्फ कोर्स है। आप सर्दियों में आते तो देखते... पूरा गुलमर्ग बर्फ का लैंड हो जाता है। तब यहां के एक्सीलेंट स्लोप्स पर स्कीईंग करना अपने आप में एक तजुर्बा है। यहां पर दुनिया की सबसे ऊंची पर्वत चोटी में पांचवें नंबर पर आती है, नंगा पर्वत चोटी जो समुद्र सतह से 8137 मीटर ऊंची है। आप पहले लंच ले लें फिर हम निंगल नाला और लेक चलेंगे।'

गरम कपड़ों से लदा हेमंत घोड़े पर बैठा बिलकुल पहाड़ी भालू सा दिख रहा था। निंगल नाला अफरवात और अलपत्थर पर्वतों के बीच से बर्फीली बैली में बड़ी खूबसूरती से गिरता झरना था। बर्फ और पानी की धारा का मिलना इतना बेमिसाल था कि हम ठगे से खड़े रह गए। विधाता भी कैसे-कैसे दृश्य गढ़ता रहा है इस दुनिया में। एक तरफ बर्फ, एक तरफ पानी। यह पानी की धारा चंचल युवती सी चीड़ के जंगलों में ऐसी भागी चली जा रही है जैसे समय पर न पहुंची तो बहुत देर हो जाएगी। अलपत्थर लेक की 4511 मीटर की ऊंचाई हमने घोड़े से ही पार की थी। झील में पानी नाम को न था। ठोस बर्फ से जमी झील शीशे सी चमक रही थी। हम मई में आए हैं। झील 15 जून के बाद तो पिघलनी शुरू होती है। यह इतनी ऊंचाई पर है इसलिए जमी रहती है।

मुझे नंगा पर्वत देखना था इसलिए हम सिलनमार्ग आए। जैसे जंगली फूलों का गलीचा बिछा हो। शायद इसीलिए इस खिली फूली जगह का नाम खिलनमर्ग है। यहां से पूरी कश्मीर घाटी की ऊंची चोटियों का अद्भुत नजारा दिख रहा था। नंगा पर्वत जैसे आकाश को छूने की होड़ में ऊंचा उठता गया था।

एक ओर आकाश और पर्वत का यह खेल और दूसरी ओर कस्तूरी मृग। मैंने काव्य ग्रंथों, पुराणों में कस्तूरी मृग के बारे में सुना था, देखा पहली बार गुलमर्ग वन्य प्राणी संस्थान में और जब मैंने उसे अपने हाथों से छुआ तो वह घबराकर कुलांचे भरता झाड़ियों के पीछे छिप गया। कस्तूरी मृग ही क्या यहां ऐसे कई दुर्लभ जानवर हैं जिनकी संख्या दुनिया भर में बहुत कम होती जा रही हैं।

गंडोला (केबिलकार) में बहुत फुर्ती से बैठना होता है। पलक झपकते ही वह चल पड़ती है। हेमंत के बैठते ही गंडोला चल पड़ी। विजय भाई तो फिर भी चलती गंडोला में चढ़ गए पर मेरे चढ़ने से पहले गंडोला ने स्टेशन छोड़ दिया। मैं अकेली दूसरी गंडोला में। जैसे ही गंडोला बर्फीली जगहों के ऊपर से गुजरी लगा जैसे मैं एक बहुत बड़ा ग्लेशियर पार कर रही हूँ। दरख्तों की जड़ों से सीधे फुनगियों के ऊपर। चीड़ देवदार होते भी बहुत लंबे हैं। हम कितनी ऊंचाई पर हैं, पता लग जाता

है। प्रकृति के आगे मनुष्य कितना बौना है, फिर भी उसकी बुद्धि की ऊंचाई आकाश जितनी... सभ्यता के बढ़ते चरण से अंदाजा लगाया जा सकता है। गंडोला से उतरते ही हेमंत शिकायत करने लगा- 'मम्मी, आप कहां थीं, हम तो बर्फ पर खूब ऊंचे-ऊंचे उड़े, पता लग जाता है। प्रकृति के आगे मनुष्य कितना बौना है, तोते के समान।'

हम आपस में चर्चा करते होटल की ओर लौट रहे थे। दो कश्मीरी साथ-साथ चल रहे थे। एकाएक वे हमारी तरफ मुखतिब हुए 'आप तो मैदान से आए हैं सीमावर्ती गावों के सिर पर तलवार लटक रही हैं... पहाड़ की सुंदरता देखने पर वहां के निवासियों के दुःख आप नहीं जानते। पाकिस्तान हर वक्त हमारे लिए सिर दर्द बना है... उसकी आतंकवादी गतिविधियां देखकर भी अनदेखी की जा रही है। सीमावर्ती गांवों के सिर पर तलावार लटक रही है पर सरकार खामोश है।' उनकी शिकायत जायज थी। कबाइली हमलों की आंच अभी भी शेष थी और कश्मीर आतंक से घिर चुका था। हम दो वादियों के अथाह सौंदर्य में खोए थे। अंदर के ज्वालामुखी को देखने की हमारी तान कहां। होटल लौटकर भी यह सवाल मेरे जेहन में मुंह उठाए रहा।

समुद्र सतह से 2730 मीटर ऊंचाई पर एक शांत खूबसूरत बैली में बसा सोनमर्ग सिंधु नदी और गोलाई से घेरे झीलों का बेहद खूबसूरत स्थल है। हम घोड़ों से वहां तक पहुंचे थे और वहां की सुंदरता से चकित थे। ग्लेशियर भी दिखा एक... धूप में पारे सा चमकता। सिंधु नदी में ट्राउट और माहसीर मछलियां हैं। फिशिंग के शौकीन अधिकतर विदेशी पर्यटक वहां काफी तादाद में थे।

सोनमर्ग कुछ ऊंचे स्थलों के लिए प्रसिद्ध है। समुद्र सतह से काफी ऊंचाई पर स्थित हिमालय की प्रसिद्ध झील चिशनसर 4084 मीटर ऊंचाई पर है तो 3810 मीटर ऊंचाई पर क्रिशनसर झील है और 3658 मीटर ऊंचाई पर गंगवाल झील है। झील की सीढ़ियों से घिरा थाजीवाज ग्लेशियर इन दिनों काफी खूबसूरत दिखता है। यह सोनमर्ग के दक्षिण में है। चीड़ के दरख्तों की छाया और पहाड़ी झरनों की चांदी जैसी धाराओं में थाजीवाज सचमुच स्वर्गिक खूबसूरती से नहा उठता है। हरी भरी ढलानों पर चलना दो डग में धरती को नाम लेने जैसा लगता है। जब हमारे घोड़े सोजमर्ग की ओर लौटने लगे तो जैसे चीड़ के दरख्त डालियां हिला हिलाकर हमें विदा कर रहे हैं- 'पाथिक फिर आना।' वे जहां के तहां स्थिर खड़े हैं, बरसों से... उनके साए में दुखी भी आ बैठता है सुखी भी... पर वे निर्द्वंद हैं... न काहू से दोस्ती न काहू से बैर...' आए हो तो सुस्ताओ, गाओ, खुशियां मनाओ... फिर तो तुम्हें लौट ही जाना है... पर हम तो जहां के तहां ही रहेंगे।'

हां, ये जहां के तहां हैं पर कश्मीर सुलग उठा है। कश्मीरी पंडितों के मुहल्ले के मुहल्ले ढह चुके हैं, घाटियां कब्रिस्तान बन चुकी हैं और जम्मू में शरणार्थियों के कैंप आबाद होते ही चले जा रहे हैं। चंद्रकला ने लिखा है कि अनंतनाग में हिंदी के लेखक सर्वानंद प्रेमी पर तो आतंकवादियों ने इतना जुल्म ढाया कि उनके और उनके बेटे के हाथ पैर काटकर, आंखें निकालकर शवों को पेड़ पर लटका दिया कि लो देखो... हिंदू होने का अंजाम देखो... काफिरों का यही हथ्र है... पर क्या ये सचमुच धर्म की लड़ाई है? या धर्म के नाम पर खूनी उत्सव मनाने का जुनून... यह आतंकवाद है या समूची सभ्यता को उखाड़ फेंकने का सैलाब... अँधा जेहाद... अब चीड़ के दरख्त किस मुंह से और किससे कहेंगे- 'पाथिक फिर आना।'



हिंदी पढ़ना शुरू किया तो मेरे लिए सब कुछ बदल गया : लोठार लुत्से

डॉ. लोठार लुत्से हिंदी जानने वाले उन विदेशी लेखकों में से थे जो भारत, भारत के लोगों और भारत की आत्मा से इस कदर एकाकार हो चुके थे कि उन्हें 'आधा हिंदुस्तानी' समझ लिया जाए तो कोई अचरज की बात न होगी। उन्हें इतनी अच्छी और निर्दोष हिंदी बोलते हुए सुनना खुद में एक अनुभव था और हिंदी साहित्य में उनकी पैठ इतनी गहरी थी कि कई बार उनकी बारीक सूझ और असाधारण निष्कर्ष हमें चकित करते थे। अपने गहरे भारत-प्रेम और भारतीय साहित्य और संस्कृति के गंभीर अध्येता होने के कारण उन्होंने भारत में खासा सम्मान अर्जित किया था। पिछले दिनों उनका निधन हो गया। उनके निधन से दो भाषाओं को मजबूती से जोड़ने वाली कड़ी टूट गई। पाठकों के लिए प्रस्तुत है लोठार लुत्से से बरसों पहले की गई प्रकाश 'मनु' की विशेष बातचीत :

डॉ. लोठार लुत्से की तस्वीर हर बार मुझे एक ऐसे कदावर शख्स की तस्वीर लगती है जो अपनी 'साधना' से देखते ही देखते दो देशों के बीच एक सांस्कृतिक और भावनात्मक पुल बन गया हो। खासकर अपने निराले जीवट और अध्यवसाय से भारत और जर्मनी के लेखकों तथा साहित्य को उन्होंने इतना निकट ला दिया है, कि लगता है जहां पहले 'खिड़कियां' थीं, वहां अब 'राजमार्ग' है! यहां यह दोहरा देना जरूरी है कि यह काम सिर्फ एक 'अनुवादक और भाषाविद्' के बस का नहीं है। 'सिर्फ अनुवाद के लिए अनुवाद' वाली दृष्टि वहां नहीं जा सकती, जहां तक लोठार लुत्से गए और अपनी अचूक मेधा और 'तत्त्वखोजी' दृष्टि से न सिर्फ उन्होंने दोनों भाषाओं के साहित्य में से साझे बिंदु और सूत्र खोज निकाले, जिनके जरिए आपसी समझ और साहित्यिक संवाद संभव था-बल्कि साथ ही साथ तमाम भारतीय लेखकों से उन्होंने इतने मधुर और दोस्ताना संबंध बना लिए, जैसे वे सचमुच भारत के हों। भारतीय परंपरा में 'सहृदय' का 'काव्य-रसिक' की जो परिकल्पना है, लोठार लुत्से मुझे उसके बहुत अच्छे उदाहरण लगते हैं। शायद इसी के चलते अज्ञेय, रेणु, रघुवीर सहाय से उनके काफी नजदीकी संबंध रहे। बाद के दौर के भी नई-पुरानी पीढ़ी के, यहां तक कि एकदम युवा लेखकों तक से उनके बहुत दोस्ताना संबंध रहे।

इसके अलावा अपनी सहज बुद्धि से भारत और यहां की जनता के बारे में एक खास बात उन्होंने यह ईजाद की कि यह कोई जरूरी नहीं कि जो चार किताबें पढ़ें-लिखें लोग हैं, वही समझदारी हैं। कई बार तो जो धुर देहाती और अनपढ़ लोग हैं, उनकी बातों में कहीं अधिक रस, समझदारी और उदात्तता होती है। इस 'बोध' के लिए वह अपने तबलावादक मित्र चतुरलाल को सारा श्रेय देते थे, जो अकसर उन्हें किताबें पढ़ते हुए देखकर कहा करते थे, 'लुत्से, तुम खामखां किताबें पढ़कर अपना समय बरबाद कर रहे हो। किताब तो कोई भी पढ़ सकता है जबकि तबला कोई-कोई ही बजा सकता है।'

यहां यह बात दर्ज करना भी जरूरी है कि साहित्य के साथ-साथ लुत्से को संगीत, खासकर तबला-वादन में गहरी रुचि थी और वे शास्त्रीय संगीत और नृत्य का खूब आनंद ले सकते थे, बल्कि उनकी सर्वोपरि रुचियों में यह भी था।

लुत्से पिछले पचास से अधिक वर्षों से भारत से जुड़े थे। यों शुरू में वे भारत में जर्मन पढ़ाने आए थे। अंग्रेजी उन्हें आती थी, लिहाजा उन्हें कोई मुश्किल नहीं थी। लेकिन कुछ आगे चलकर उन्होंने हिंदी सीखी तो भारत के बारे में एकाएक जैसे उनका नजरिया ही बदल गया। हिंदी सीखने के बाद वे जैसे इस देश के लोगों और देश की संस्कृति को पहली बार 'अपनी नजर' से देख रहे थे। और फिर वे यहीं नहीं रुके। उन्होंने मराठी और बांग्ला भाषाएं भी सीखीं और उनमें भी एक तरह की विशेषज्ञता हासिल की। लुत्से को ठेठ बंगालियों की तर्ज पर बांग्ला बोलते हुए सुनना भी एक चकित कर देने वाला, प्रसन्न अनुभव था। मैक्समूलर भवन में रवींद्रनाथ टैगोर पर व्याख्यान के समय उनकी धाराप्रवाह बांग्ला सुनकर कम से कम मुझे तो अपनी 'अपढ़ता' पर लज्जा ही आई थी!

कोई अठारह बरस पहले मुझे लोठार से मिलने और लंबी बातचीत का सुयोग मिला। हुआ यह कि फरवरी-मार्च, 1997 में लुत्से मैक्समूलर भवन में अपने तीन महत्त्वपूर्ण व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित थे। इनमें एक कबीर पर था, दूसरा कबीर, रवींद्रनाथ ठाकुर और विनोद कुमार शुक्ल की जीवन-दृष्टि पर और तीसरा 'जर्मनी में अज्ञेय' शीर्षक से अज्ञेय की शिखियत पर केंद्रित था। मैक्समूलर भवन में ही जब लुत्से अपना महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दे चुके, विष्णु खरे ने उनसे मुलाकात कराई थी। मैं उनसे बातचीत के लिए उत्सुक था। पर इंटरव्यू की चर्चा चलते ही उन्होंने अपनी जेब से एक छोटा-सा कागज निकाला जिस पर तारीखवार उनके कार्यक्रम लिखे थे। हँसकर बोले, 'यह मेरा कैलेंडर है, देखना पड़ेगा कौन-सा समय खाली है।'

और जब वे उस कागज पर नजर दौड़ा रहे थे, मैंने उनकी मुश्किल और बढ़ा दी। धीरे से कहा, 'मुझे थोड़ा ज्यादा समय लगेगा डॉ. लुत्से। दीर्घसूत्री हूँ, तो लंबी बात करना मुझे अच्छा लगता है।' लुत्से ने अचानक गौर से मुझे देखा। 'यह तो मुश्किल होगा। आप देख रहे हैं, खाली समय बहुत कम है मेरे पास।' अपना वह 'कैलेंडर' मुझे दिखाते हुए उन्होंने कहा।

पर मेरे चेहरे की निराशा शायद उन्होंने पढ़ ली होगी। वे फिर उस कैलेंडर पर झुक गए।

'अच्छा...क्या आप एकदम सुबह-सुबह आ सकेंगे?' अचानक उन्होंने देखा।

'हां...हां, आप बताइए।' धड़कते हुए दिल से मैंने कहा।

'तो दस बजे आ जाइए। 6 मार्च को सुबह दस बजे।...आ सकेंगे?'

'जी, हां।' कहते हुए एक महीन-सी हँसी मेरे भीतर फूट पड़ी। शायद इसलिए कि मैं सोच रहा था कि वे मुझे सुबह पांच या छह बजे पहुंचने के लिए कहेंगे और मैं उस समय भी पहुंचने के लिए तैयार था।

लेकिन 6 मार्च, 1997 को सुबह-सुबह विष्णुजी (विष्णु खरे) का फोन थोड़ा निराश कर देने वाला था। पता चला कि लुत्से की तबीयत कुछ ठीक नहीं है। छाती और गले में कष्ट है।

'उनका गला बहुत खराब है। ज्यादा बात नहीं कर सकेंगे। तो थोड़े से ही काम चलाइए।' विष्णुजी ने सुझाया, साथ ही बताया कि लुत्से ने कहा है, अगर मैं सुबह दस की बजाए ग्यारह बजे पहुंचूं तो उन्हें सुविधा होगी।

फिर एक गड़बड़ और हुई। लुत्से से मिलने का समय तो अकेले मैंने ही लिया था, पर जब उनसे मिलने के लिए निकला तो साथ में मेरी पत्नी डॉ. सुनीता और कवि मित्र तथा 'धरती' के संपादक शैलेंद्र चौहान भी थे। ये दोनों डॉ. लोठार लुत्से को सुनने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे थे। तो 'ठीक है, देखा जाएगा' वाले भाव से मैंने इन्हें भी साथ ले लिया था।...पर क्या यह लोठार लुत्से को अच्छा लगेगा? मन में कहीं एक गहरा संकोच भी था।

इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में ठीक ग्यारह बजे जब मैंने पास जाकर 'नमस्कार' किया तो वे अपने खास अंदाज में, जिसमें गर्दन भी एक हल्की भंगिमा के साथ हिलती है, मुस्कराए। पर साथ में दो और 'अजनबियों' को देखकर उन्होंने एक सवालिया निशान की तरह तीन उंगलियां मेरी तरफ उठा दीं, 'तीन?...एक की जगह तीन!' उनकी आंखें कुछ कौतुक और अविश्वास से फैल गई लगती थीं। मैंने कुछ संकोच के साथ परिचय कराया, 'यह मेरी पत्नी हैं डॉ. सुनीता... और यह शैलेंद्र चौहान, कवि-मित्र। अपनी एक लघु पत्रिका भी निकालते हैं।'

डॉ. लुत्से मुस्कराकर सिर हिलाते हुए अभिवादन का जवाब देते हैं लेकिन एक हल्की खिन्नता भी उनके चेहरे पर साफ दिख रही है। थोड़ी देर बाद कुछ अन्यमनस्कता के साथ कहते हैं, 'देखिए, मेरी तबीयत ठीक नहीं है। मैं ज्यादा बातचीत नहीं कर पाऊंगा। आपको पहले से समय दिया हुआ था, अन्यथा तो मेरी हालत ऐसी नहीं है कि कुछ भी बात कर सकूं।'

एक क्षण का सन्नाटा। फिर वह एकाएक उस 'दुविधा' को परे झटककर सिर हिलाते हुए उठ खड़े होते हैं, 'चलिए, देखते हैं।...उधर लॉन में चलकर बैठा जाए।'

जब हम लॉन की ओर बढ़ रहे थे, उन्होंने अचानक पूछ लिया, 'बात तो आप ही करेंगे न?'' 'जी...!' मैंने कुछ सकपकाते हुए कहा। सुनकर उनके चेहरे पर हल्की आश्वस्ति-सी दिखाई दी।

'आप धूप में बैठना पसंद करेंगे या छाया में...?' लॉन में पहुंचकर वे पूछते हैं।

'छाया में ठीक रहेगा मेरे खयाल से।' मैं धीरे से कहता हूं।

हम कुर्सियां खींच लेते हैं और लॉन में धूप और छाया के लगभग संधि-बिंदु पर टिका देते हैं।

'तो...!' वे मुस्कराकर गर्दन की एक हल्की लचक के साथ मुझे देखते हैं। यह 'सिग्नल' है कि सिलसिला शुरू किया जाए।

बातचीत चल पड़ी तो कब यह 'बैरियर' कि मैं ही बात करूंगा, टूट गया। डॉ. सुनीता और शैलेंद्र चौहान भी सहज ही उस आत्मीय और अंतरंग बातचीत में शामिल हो गए। यहां तक कि सबसे ज्यादा तत्परता, उत्सुकता और उनके जीवन और कामों के बारे में एक 'घरेलू' किस्म की जिज्ञासा शायद सुनीता की बातों में थी। और देखते ही देखते डॉ. लुत्से 'फार्म' में आ गए।

डॉ. लुत्से का गला वाकई इतना ज्यादा बैठा हुआ था कि उन्हें बहुत जोर लगाकर और रुक-रुककर बोलना पड़ रहा था। बीच में एकाध दफा मुस्कराते हुए उन्होंने कहा भी, 'हो सकता है, आवाज बिलकुल चली जाए, जैसे कि सुबह एकदम चली गई थी।...लेकिन जब तक है, तब तक तो आप पूछ ही सकते हैं।' पर इस दफा उनके स्वर में अन्यमनस्कता नहीं, एक हल्का विनोद भाव ही था।

यों एक दिलचस्प बात यह भी है कि डॉ. लुत्से का गला बैठा होने के बावजूद उनसे बातचीत

का सुख इसलिए जरा भी कम नहीं हुआ क्योंकि लुत्से जितना शब्दों में कहते हैं, उससे कहीं अधिक अपनी नीली आंखों की एक खास तरह की मुस्कराती चमक, होंठों, गर्दन और चेहरे की चंचल, लास्यभरी, भांगिमाओं तथा हाथों के बहुत ही जीवंत 'एक्शन' से, जिससे उनके शब्द ही नहीं, पूरा शरीर बोलता हुआ लगता है।

पिछले कुछ सालों में इंटरव्यू के सिलसिले में जितने भी लेखकों से मैं मिला, उनमें लोक यायावर देवेंद्र सत्यार्थी और विष्णु खरे के अलावा अपने पूरे शरीर से बोलते, शरीर की बारीक से बारीक जुंबिश से अपनी बात कहने वाले लेखकों में केवल, डॉ. लुत्से का नाम ही मुझे याद आ रहा है और शायद इसलिए डॉ. लुत्से से बातचीत कभी न भूलने वाला एक जीवंत अनुभव भी है। बहरहाल, पेश है उनसे यह अनौपचारिक और अंतरंग बातचीत-

डॉ. लुत्से, आपने लगभग अपना पूरा जीवन हिंदी और जर्मन भाषाओं और साहित्य को नजदीक लाने में खर्च कर दिया। इतनी गहरी निष्ठा के साथ आपने यह काम किया है कि हम आपको भारत के मित्र के साथ-साथ भारत और जर्मनी के बीच एक भावनात्मक पुल की तरह महसूस करने के आदी हो चले हैं। और इससे यह तो पता चलता ही है कि एक आदमी चाहे तो कितना बड़ा काम कर सकता है-अगर उसमें जीवट हो तो।...तो लुत्सेजी, मैं जानना चाहूंगा कि अपना लगभग सारा जीवन भारतीय भाषाओं और साहित्य के अध्ययन और उनके अनुवाद में खर्च कर देने के बाद आपको कितना संतोष महसूस होता है और कितना असंतोष...?

(मुस्कराते हुए) देखिए, इस तरह की बड़ी-बड़ी बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं। मेरा हमेशा काम में यकीन रहा। कितना काम मैंने किया? कोई बहुत ज्यादा वह नहीं है, पर जो मुझसे जुड़े हुए हैं, वे यह जानते हैं।... (एक क्षण रुककर पुरानी स्मृतियों में लौटते हुए) मैं पहली बार आया था आपके देश सन साठ में। सैंतीस वर्ष पहले आया था जर्मन पढ़ाने-दिल्ली विश्वविद्यालय में। तो काफी जल्दी यह महसूस हुआ कि 'चलो, तुम्हें अंग्रेजी आती है। तो सभी लोग जानते हैं कि भारत में अंग्रेजी चलती है-तो काम आएगी।' आ गई, पर बहुत देर तक यह चल नहीं पाया। इसलिए कि बहुत जल्दी महसूस हुआ कि अंग्रेजी काफी नहीं है। लोगों से, स्थानीय लोगों से मिलने के लिए स्थानीय भाषा की जरूरत होती है। दिल्ली में जो हिंदी चलती है, उसमें उर्दू भी है, पंजाबी भी है।...हिंदुस्तानी कहें या जो भी कहें। उसके बाद हिंदी पढ़ना शुरू किया तो मेरे लिए-आप यकीन कीजिए, सब लोग बदल गए, सब कुछ बदल गया।...जैसे मैं किसी नए भारत में आ गया हूँ। फिर तो अंग्रेजी में बात करना बनावटी लगने लगा। अंग्रेजी दिखावे की जबान है।

(एक क्षण का मौन) शायद उन्हें अपनी बात साफ करने की जरूरत महसूस होती है आप गलत न समझें, अंग्रेजी बहुत अच्छी जबान है, बहुत काम की जबान है। आम हिंदुस्तानी कम से कम तीन भाषाएं जानता है, अंग्रेजी, हिंदी और स्थानीय भाषा मराठी, गुजराती, पंजाबी कोई भी। घर में आप 'लोग' ज्यादातर स्थानीय भाषा बोलते हैं। इस देश में घूमने के लिए हिंदी बहुत काम आती है और बाहर (विदेशों में) घूमने के लिए अंग्रेजी।

हां, तो मैं हिंदी सीखने के अपने अनुभव की बात कह रहा था। जल्दी ही मैंने काम चलाने लायक थोड़ी-बहुत हिंदी सीख ली। फिर हिंदी के लेखकों, कवियों से मुलाकात हुई। फिर मेरे एक मित्र थे, तबला-वादक चतुरलाल, उन्होंने बताया कि लेखक कवि ही नहीं, संगीतकार भी होता है।

उन्होंने बताया कि एक प्रवाह है संगीत का, जो भाषाओं से ज्यादा बारीक होता है, उससे भी परे है। उनके साथ बैठकर बहुत बातें होती थीं-लोगों के बारे में, यहां की जनता के बारे में, उनके जीवन के आनंद और मुश्किलों के बारे में। और तभी से यह बात मेरे मन में बैठ गई, बहुत गहरे बैठ गई कि हिंदी बहुत जल्दी सीखनी है भारत को जानने के लिए।

मेरा खास काम है साहित्य, लेकिन साहित्य एक ऐसी 'कला' है जो शब्दों पर निर्भर करती है। संगीत शब्दों को इस्तेमाल नहीं करता, लेकिन आपस में समझने के लिए बहुत जरूरी है। चतुरलालजी बहुत अच्छे व्यक्ति थे। मैं सन् साठ में भारत आया था, सन चौंसठ में वे चल बसे। उन्हीं के साथ मैंने तबला भी छोड़ दिया।

(कहते समय एक हल्की-सी धुंध भरी उदासी डॉ. लुत्से के चेहरे पर साफ पढ़ी जा सकती है, जैसे चतुरलाल की कोई स्मृति उन्हें विकल कर रही हो, धीरे से बताते हैं) उस दिन उन्होंने कहा, 'लोठार, तुम बहुत समय बर्बाद करते हो, पढ़ते हो, पढ़ते-लिखते हो। पढ़ना-लिखना बहुत लोगों को आता है, पर तबला बजाना बहुत खास काम है। इस देश में बहुत लोग अनपढ़ हैं, परंतु अज्ञानी नहीं है। इस देश में जो वाचिक परंपरा है, उसके लिए लिखना-पढ़ना जरूरी भी नहीं है।' यह एक बहुत ही अच्छी चीज मैंने उनसे सीखी और उसे आज तक नहीं भूला।

इसी तरह मेरे एक और दोस्त थे-अज्ञेयजी। अज्ञेयजी एक बार हाइडलबर्ग आए, भाषण दिए। उस भाषण में उन्होंने एक बड़े काम की बात कही। बोले, 'मैं एक लेखक हूँ-भारतीय लेखक। मेरी शायद सबसे बड़ी समस्या यह है कि पढ़ने वाले, लिखने वाले बदल रहे हैं। पहले 'इलिट्रेट आडियोक्रेट ऑडिऐंस' था, जिन्हें आप कह सकते हैं-सहृदय अनपढ़, किंतु काव्य-रसिक। मौखिक परंपरा में जो कायदे थे, उन्हें वे समझते थे। अब पढ़ने वाले हैं-वे 'एजुकटेड' हैं, पर रसिक नहीं है। तो यह सवाल बहुत महत्वपूर्ण है कि आज का लेखक किसके लिए लिखे, क्या लिखे और किस ढंग से लिखे?'

मैं काफी देर में समझा कि साहित्य पढ़ने का मतलब सिर्फ किताबें पढ़ना ही नहीं है। साहित्य पढ़ने का मतलब है-बाहर भी जाना, गांव भी जाना। भारत को जानने के लिए मौखिक, वाचिक परंपरा भी समझनी चाहिए। लिखने वाली और वाचिक परंपरा में काफी फर्क है। इसीलिए जो लोग लिखते हैं, उनके लिए यह बहुत जरूरी है कि उन्हें वाचिक परंपरा की काफी अच्छी जानकारी हो। वे गांवों में जाकर वहां का जीवन देखें, लोगों के वास्तविक हालात देखें। गांवों के लोगों से हिलें-मिलें...लोक गायकों का गायन और संगीत सुनें। यह जरूरी है? इसलिए मैंने कहा, संगीतकारों के साथ रहने से काफी समृद्ध होता है आदमी।

...तो (अपनी सुपरिचित प्रसन्न मुस्कराहट के साथ, जिससे उनकी आंखों में एक खास तरह की चमक आ जाती है) जहां तक मेरा हिंदी सीखने का सवाल है, सन साठ से अभी तक सीखने की परंपरा चलती रही। अभी भी चल रही है। आपका देश कितना बड़ा है, आपकी संस्कृति कितनी बड़ी है, इसको समझने के लिए बहुत समय...बहुत ज्यादा समय चाहिए। पूरा एक जीवन! तब भी शायद कुछ छूट जाएगा...कोई अंत नहीं है इसका।

(कहते-कहते डॉ. लुत्से कुछ-कुछ भावुक होने लगते हैं, जैसे असीम आनंद की किसी लहर में वे बहे जा रहे हों, पता नहीं यह उनकी भावविद्ध और कुछ-कुछ 'समाधिस्थ' अवस्था का असर है या फागुन की हल्की गरमाहट भरी धूप का, उनका चेहरा इस क्षण मुझे कुछ अधिक दमकता हुआ

और 'सम्मोहनकारी' लग रहा है)

डॉ. लुत्से मेरी यह जानने की दिलचस्पी है कि आपने जब हिंदी सीखनी शुरू की तो आपके सामने किस तरह की मुश्किलें आईं? यह सवाल इसलिए पूछ रहा हूँ कि एक विदेशी व्यक्ति के हिंदी सीखने में उसके सामने क्या दिक्कतें आ सकती हैं, इसकी कुछ कल्पना मैं कर सकता हूँ। मसलन एक तो हिंदी-उर्दू की ही समस्या है। फिर प्रांतीय भाषाएं हैं-अवधी, ब्रजभाषा, मैथिली, राजस्थानी वगैरह-वगैरह। इन्हें भी सीखना पड़ा होगा। और संस्कृत की जानकारी तो जरूरी है ही। ..तो मैं जानना चाहूंगा कि इस तरह की दिक्कतों से आप विचलित नहीं हुए? या कहीं ऐसा तो नहीं कि शुरू-शुरू में हिंदी आपको 'आफत' लगी हो?

(थोड़ा गंभीर होकर कहते हैं) नहीं, आफत तो नहीं! वैसे आपने ठीक कहा, हम लोगों के लिए जो यहां के नहीं हैं और बाहर से आकर हिंदी सीखना चाहते हैं, यह एक बहुत बड़ी समस्या है। शुरू में मुश्किल भी आई, पर वह ऐसी नहीं थी कि मैं हिंदी सीखना छोड़ देता। तब तो मुझे हिंदी-उर्दू की समस्या का इतना पता ही नहीं था। मेरा ध्यान तो 'जनता की भाषा' सीखने पर था, वह हिंदी जो आम लोगों की जुबान है। लेकिन अब मैंने ऐसा सोचा कि कि ये-ये मुश्किलें इसमें आ सकती हैं। खैर अब तो इतनी मुश्किल नहीं होती। बल्कि हिंदी के बाद मैंने थोड़ी बांग्ला भी सीखी जो एक प्रांतीय जुबान है। हिंदी के बारे में एक बात और बता दूं। लोग कहते हैं- हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी। मैं यह फर्क नहीं मानता। मेरे लिए तो यह एक ही भाषा है। शायद इसलिए कि हिंदी मेरे लिए कोई सरकारी जुबान नहीं थी। वह लोगों की भाषा, जनता की भाषा थी। और आप कहीं भी चले जाइए, इसमें कोई बहुत ज्यादा फर्क नहीं आएगा। इसी रूप में मैंने इसे सीखा। मैंने कहा था आपसे, आम लोगों से बातचीत के लिए हिंदी जरूरी है। मेरे हिंदी सीखने के पीछे असली मंशा, असली तड़प यही थी। हिंदी के जरिए मैं इस देश को, यहां के लोगों को जानना चाहता था।

आप एक चीज और देखिए। हिंदी, उर्दू दोनों के व्याकरण का बिलकुल एक जैसा फ्रेम है.. .('फ्रेम' शब्द पर वह थोड़ा अटक जाते हैं, फिर अचानक अंकुठ भाव से पूछ लेते हैं) 'फ्रेम' के लिए हिंदी में क्या शब्द होना चाहिए? आप कुछ सुझा सकते हैं?

शायद ढांचा...या संरचना? (उनके आशय को समझाने की कोशिश करता हुआ, मैं सुझाता हूँ। डा. लुत्से संतुष्ट होकर हौले से सिर हिलाते हैं) चलिए, संरचना कह लीजिए, संरचना ठीक है!.. .तो हिंदी-उर्दू दोनों की जो भाषिक संरचना है, वह एक जैसी है जिसको आप अलग-अलग तरह से भर सकते हैं। (एक क्षण रुककर वह मुसकराते हुए कहते हैं) मेरे सामने कोई मुस्लिम हो तो मैं कहूंगा, 'यह किताब है' कोई ब्राह्मण हो तो कहूंगा, 'यह पुस्तक है।' यह बहुत सरल है, यह एक तरह से चल सकता है।

(कहकर सरलता से हँस पड़ते हैं। एकदम बच्चों जैसी निश्छल हँसी, जिसमें थोड़ी शरारत भी कहीं-कहीं नजर आ सकती है। फिर गंभीर होकर अपनी बात को कुछ और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं)

मुझे रेणुजी के उपन्यास बहुत पसंद हैं। यह जो संरचना है उनकी, तो उसमें वे मैथिली शब्द भर देते हैं, ताकि मिथिला का वातावरण अपनी भाषा में स्थापित कर सकें। एक और लेखक हैं-मनोहर श्याम जोशी। वे इस्तेमाल करते हैं कुमाँऊनी शब्दों का। एक लेखिका हैं कृष्णा सोबती, वे

पंजाबी शब्दों का इस्तेमाल करती हैं। तो मेरे लिए तो हिंदी एक खुली जबान है, अंग्रेजी जैसी। अकसर मुझे लगता है, अगर इस देश की कोई जबान हो तो वह ऐसी खुली होनी चाहिए जो बहुत दूर तक चलती है और इसकी संरचना में कोई भी प्रांतीय शब्द भर दो और करो इस्तेमाल। मुझे तो यह हिंदी का लचीलापन लगता है, हालांकि किसी विदेशी के लिए यह समझ में आना बहुत कठिन और मुश्किल है।

आपको क्या लगता है डॉ. लुत्से, कि क्या हिंदी और उर्दू मूलतः एक ही भाषा है और उसमें सिर्फ लिपि का अंतर है? अगर लिपि की दीवार हटा दी जाए यानी उर्दू को देवनागरी लिपि में लिख दिया जाए तो फिर उसमें कोई फर्क नहीं रह जाता?

इस पर लोठार थोड़े अतिरिक्त सतर्क हो गए लगते हैं। दृढ़ता से एक-एक शब्द पर जोर देते हुए कहते हैं ऐसा...! देखिए, यह मैं ही नहीं कहता, भारतीय भाषाशास्त्री भी यही कहते हैं कि दोनों समान हैं। क्योंकि भाषिक संरचना के लिहाज से दोनों एक-सी जुबानें हैं। हां, बहुत ऊंची जो जुबान है, वह अलग हो जाती है। हिंदी संस्कृत की तरफ, उर्दू फारसी की तरफ झुकने लगती है। पर मेरे खयाल से असल समस्या यह नहीं है। यह जो झगड़ा है, ज्यादातर लिपि का झगड़ा लगता है। जहां तक प्रांतीय और लोक की जबान का सवाल है, वहां कोई झगड़ा आपको नहीं मिलेगा। वे लोग सोचते नहीं हैं कि यह शब्द कहां से आया। हम क्यों इस्तेमाल करें? इसीलिए आप देखेंगे, अंग्रेजी के शब्दों का भी हिंदी में बहुत इस्तेमाल हो रहा है! आप याद रखिए, इस संरचना को आप अंग्रेजी से भी भर सकते हैं, पर जबान अंग्रेजी नहीं बन सकती, यह हिंदी जबान ही रहेगी।

(अचानक कोई स्मृति उनके जेहन में कौंधती है और वे मुस्कराकर बताने लगते हैं) एक बार मैंने सफर किया। रास्ते में तबीयत कुछ खराब हो गई।...तो मैंने किसी गांव वाले से पूछा, 'यहां नजदीक कोई चिकित्सालय है?' उसने थोड़ा इधर-उधर देखा, फिर समझ गया मेरी बात। वह बोला, 'हम अस्पताल कहते हैं।' अब आप देख लीजिए 'अस्पताल' पुर्तगाली जुबान है, लेकिन उस गांव वाले को इससे फर्क नहीं पड़ता। इसके लिए अस्पताल ही उसकी जबान है। ऐसी खासियत आपको बहुत कम भाषाओं में मिलेगी। (लोठार लुत्से बड़े नाटकीय अंदाज में कहते हैं)

अरे, यह तो आपने बहुत मजेदार बात कही। और इससे मुझे एक प्रसंग याद आ गया। मैं कुरुक्षेत्र यूनिवर्सिटी में रिसर्च करने के लिए गया था। स्टेशन पर मैंने रिक्शेवाले से कहा, 'विश्वविद्यालय चलना है?' तो वह मेरा मुंह देखता रह गया। उसकी समझ में नहीं आया। फिर मैंने कहा, 'मुझे यूनिवर्सिटी जाना है?' तो वह बड़े जोर से हँसकर बोला, 'अरे बाबूजी, पहले क्यों नहीं बताया कि जूनावस्टी जाना है? आप पहले कौन-सी अंग्रेजी बोल रहे थे? हिंदी में बोलिए न!' यानी 'जूनावस्टी' उसके लिए हिंदी का शब्द है और विश्वविद्यालय अंग्रेजी का। इसी तरह 'लैंटर्न' शब्द अंग्रेजी का है, लेकिन अनपढ़ लोगों की जुबान में आकर घिसते-घिसते लालटेन हो गया है, 'रिपोर्ट' शब्द घिसते-घिसते रपट हो जाता है और अब हम सब लोग इस्तेमाल करते हैं 'लालटेन', 'रपट' और हमें कुछ महसूस नहीं होता कि ये विदेशी शब्द हैं।

लोठार लुत्से (हँसते हैं) आपने बहुत अच्छा उदाहरण दिया। 'जूनावस्टी', 'लालटेन' बहुत अच्छे शब्द हैं- एकदम हिंदी के शब्द लगते हैं। और इन्हें गढ़ने वाले अनपढ़ लोग हैं। वे पढ़े-लिखे नहीं हैं, पर इस कारण आप उन्हें अज्ञानी कैसे कह सकते हैं? बल्कि कई बार तो उनमें सूझ-बूझ,

समझदारी पढ़े-लिखों से कहीं ज्यादा होती है। उनमें कल्पना-शक्ति भी कमाल की होती है। बस, पहचानने की जरूरत है।

डॉ. सुनीता- (अचानक बीच में टोकते हुए) अच्छा, लुत्सेजी, हिंदी सीखने में आपको कितना समय लगा?

लोठार लुत्से- (प्रश्न सुनकर लुत्से कुछ दुविधा में पड़ जाते हैं) कह नहीं सकता। क्या कहूं? बल्कि मुझे तो कभी-कभी लगता है, मैं अभी तक सीख रहा हूं...पूरी तरह सीख नहीं पाया।

डॉ. सुनीता- नहीं, मेरा मतलब है कामचलाऊ हिंदी।...यानी जो आपकी जरूरत है। जिसमें आप मांगकर कोई चीज ले सकें...बता सकें उसके बारे में, ऐसी हिंदी?

(यह सवाल फिर से डॉ. लुत्से को जैसे अतीत स्मृतियों में खींच ले गया है। आखिर स्मृतियों में धुंधलके से बाहर आते हुए कहते हैं) देखिए, जब मैं हिंदुस्तान आया था, तब मुझे कोई हिंदी नहीं आती थी। बस, अंग्रेजी से ही मेरा काम चल जाता था। पहली बार जब अया था, तो साठ से चौंसठ तक मैं यहां रहा। तब मैंने हिंदी सीखी। सन चौंसठ में मैं वापस गया, फिर लौट आया पैंसठ में। उस वक्त मेरे पास कोई काम नहीं था जर्मन पढ़ाने का। उसी वक्त मैं हिंदी सीखने पर अधिक ध्यान देने लगा। अच्छा भी लगने लगा...फिर आप समझ लीजिए, हिंदी सीखना मेरी वैसे भी जरूरत थी। भारत में रहना हो तो आपको हिंदी सीखनी ही चाहिए, ताकि आपके सारे काम ठीक से हो जाएं। उसके बगैर आपकी बात सुनी ही नहीं जाएगी।...यह भी एक वजह थी हिंदी सीखने की।

डॉ. सुनीता- अच्छा, लुत्सेजी, हिंदी सीखने के बाद पहला वाक्य आपने कौन-सा बोला?...क्या आपको याद है? अगर याद हो तो बताएं!

लोठार लुत्से- (हँसकर) याद है...बताऊंगा! असल में मैं आपको बता रहा था, हिंदुस्तान में रोजमर्रा के काम में अंग्रेजी बिलकुल काम नहीं आती। हिंदी की जरूरत पड़ती है बात-बात में, यह मैंने जान लिया था। यानी अंग्रेजी दिमाग की जुबान है, हिंदी दिल की...एक्शन की। इसलिए हिंदी में कोई बात कहते ही तुरंत एक्शन होता है, जबकि अंग्रेजी दिमाग में ही अटक जाती है। तो ऐसी मुश्किलें मेरे सामने बहुत आती थीं। टैक्सी में बैठकर आप कहेंगे, 'हरी अप' तो कोई सुनता नहीं, मानता नहीं, समझता नहीं। समझता भी है तो जैसा कि मैंने कहा, दिमाग में ही रह जाता है। हिंदी की बात अलग है उसका तुरंत असर पड़ता है लोगों पर।...आपने पूछा है कि हिंदी में मेरा पहला वाक्य कौन-सा था, जो मैंने बोला? तो ऐसा है, एक दफा मैं टैक्सी में बैठकर कहीं जा रहा था और मुझे जल्दी पहुंचना था। टैक्सी ड्राइवर सुस्ती से गाड़ी चला रहा था। खीजकर मैंने जोर से कहा, 'जल्दीSS करोSSS!' तो चल गया। उसकी तुरंत टांगें उठ गई एक्सीलेटर पर।

(बताते हुए लोठार लुत्से हमें लगभग भौचक्का करते हुए दाईं टांग पूरे जोर से आगे बढ़ाते हैं, जैसे उस टैक्सी ड्राइवर पर पड़े तत्काल प्रभाव और उसके 'एक्शन' को हमारी आंखों के आगे साकार कर देना चाहते हों- और वह होता भी है। और कुछ इस शानदार ढंग से होता है कि एक साथ हम सभी की हँसी छूट निकलती है। खुद लोठार हमारे साथ जोर से हँस पड़ते हैं) यानी हिंदी में पहला वाक्य मैंने कुछ सोचकर नहीं बोला था। यह खुद-ब-खुद मेरे मुंह से निकल पड़ा था।

प्रकाश मनु- अच्छा डॉ. लुत्से, अनुवाद के लिए हिंदी की रचनाएं छांटते समय क्या आपके सामने मुश्किल नहीं आतीं? इसलिए कि हिंदी और जर्मन साहित्य के मिजाज और रूपाकार में भी

शायद काफी फर्क है। मेरी यह जानने में भी उत्सुकता है कि आप जब अनुवाद के लिए रचनाओं का चयन करते हैं तो क्या देखते हैं? क्या आप ऐसी रचनाएं छांटते हैं जो जर्मन साहित्य पढ़ने से बनी आपकी रुचि के ज्यादा अनुकूल हैं...या फिर ऐसी रचनाएं जो चाहे उनसे जो भिन्न हैं, पर यहां की जमीन या लोगों की ज्यादा जुड़ी हुई रचनाएं हैं?

लोठार लुत्से- (मुस्कराकर मेरे प्रश्न का स्वागत करते हैं, फिर बताने लगते हैं) देखिए, सबसे पहले, शुरू में मैंने इसे अनुवाद के रूप में देखा। मैंने जो अनुवाद किए- ज्यादातर कविताओं के अनुवाद किए, तो उन्हें देखने की दृष्टि मैंने खुद जर्मन में कविताएं लिखी थीं। तो अनुवाद के लिए मैंने ऐसी कविताएं चुन लीं, जैसी मैं स्वयं जर्मन कविताएं लिखता था।...यह अनुवादक का काम था, न कि विद्वान का। (हँसते हैं)।

मेरे काफी मित्र थे जिनसे मैंने पूछा, 'क्या ऐसे कोई खास कवि हैं जिनका मैं अनुवाद कर सकूँ?' पहले तो जो नाम मेरे सामने आया, वह था- सुमित्रानंदन पंत लेकिन पंतजी की कविताओं की जो शैली है, यह मेरी कविताओं से बहुत अलग है। मैं मानता हूँ कि ये बहुत बड़ी कविताएं हैं, लेकिन कुछ अलग मिजाज की हैं। इसलिए उनका अगर अनुवाद किया जाए तो उसके लिए बहुत बड़ा समय चाहिए।

फिर किसी ने कहा कि आप हिंदी की कविताओं का अनुवाद करने की कोशिश कर रहे हैं, तो अज्ञेय की कविताओं का अनुवाद कीजिए। तो मैंने कश्मीरी गेट से अज्ञेय की एक पुस्तक 'हरी घास पर क्षण भर' ली। उसे पढ़ा तो मैंने देखा, एक अंतर था पंतजी में और नई कविता में। अज्ञेय को पढ़ते समय इस अंतर पर मेरा ध्यान सबसे ज्यादा गया।

सवाल यह है कि 'नई कविता' आप लोग जिसे कहते हैं, उसमें क्या है? उसमें कुछ विषय नए हैं, विचार नए हैं या प्रकृति का वर्णन ही नया है? यह सवाल कई बार मेरे सामने आया है। इसका जवाब मेरे खयाल से यही हो सकता है कि एक नया कवि कुछ सोचकर कविता लिखता है। उसे महसूस होता है, लिखते समय मैं जो काम कर रहा हूँ, वह कहीं अधिक कठिन है। एक संदेह उसके मन में है कि पता नहीं, मैं जो कह रहा हूँ, वह ठीक है भी या नहीं? पता नहीं, मैं ठीक-ठीक कह भी पा रहा हूँ या नहीं? इसी से आप कह सकते हैं, जो औजार वह इस्तेमाल करता है, वे ज्यादा मौलिक हैं। पंतजी की कविता में विचार की जगह भाव ज्यादा था- यानी एकदम भावुक होकर बहना था। पंत जी को लिखते समय कोई शक नहीं रहता था कि मैं जो लिखना चाहता हूँ, लिख लूंगा या नहीं? यह सवाल उनके सामने नहीं था, लेकिन अज्ञेय के सामने था- किसी भी नए कवि के सामने था।

अज्ञेय की एक कविता है, 'शब्द और सत्य'। इस कविता में अज्ञेय कहते हैं, 'शब्द' और 'सत्य' के बीच एक दीवार है, मैं इसे कैसे तोड़ूँ? यह मेरे खयाल से नया है। इससे पहले वाले कवियों को यह बात नहीं महसूस होती थी। जो वे लिखते थे, उसे लेकर उनके मन में कोई संदेह नहीं था। और आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं, इस तरह की दीवार शब्द और सत्य के बीच आधुनिकता की सबसे बड़ी निशानी है। यानी जो लिखा, उस पर खुद ही 'डाउट' करो...संदेह करो। हमारे यहां जर्मनी में जो कविता लिखी जाती है, वह इसी तरह की कविता है। तो मैंने शुरू किया, अपनी पसंद की कविताएं छांटकर अनुवाद में जुट गया।

प्रकाश मनु- (अचानक बात को कुछ मोड़ देते हुए पूछ लेता हूँ) यह तो आपने अज्ञेय की बात कही डॉ. लुत्से, लेकिन मुक्तिबोध...? मुक्तिबोध की स्थिति कैसी लगती है आपको अज्ञेय के बरक्स? इसलिए कि जहां आप लंबी कविता और छोटी कविता की तुलना करते हैं और पंत की लंबी, आवेगपूर्ण रचनाओं की तुलना में अज्ञेय की छोटी कविताएं पसंद करते हैं, तो फिर यह सवाल भी सहज ही पैदा होता है कि मुक्तिबोध को आप किस तरह से लेते हैं? क्योंकि मुक्तिबोध की कविताएं तो ज्यादातर बहुत लंबी कविताएं हैं और उनमें आवेग भी जबर्दस्त है। मुक्तिबोध की कविताओं के बारे में आपकी राय क्या है? क्या कुछ-कुछ पंतजी वाली...या कुछ अलग?

लोठार लुत्से- (कुछ हिचक के साथ अपनी बात स्पष्ट करते हुए) यह अलग बात है मेरे खयाल से। मेरा मतलब यह बिलकुल नहीं था कि पंत की कविता बड़ी नहीं है। इसी तरह मुक्तिबोध!.. .. मुक्तिबोध निश्चित रूप से बहुत बड़े कवि हैं। उनकी कविता का अनुवाद करना बहुत मुश्किल है। यह बहुत अलग है। एक बात कहना चाहूंगा कि उनकी 'अँधेरे में' लंबी कविता है, पर इसकी लंबाई पंतजी की कविताओं की लंबाई जैसी नहीं है। इसमें एक वाल्केनो फूट पड़ता है...ज्वालामुखी!

प्रकाश मनु- जैसे शब्दों में गरम लावा बहता आता हो...?

लोठार लुत्से- (सिर हिलाते हुए) जी हां, बिलकुल ठीक शब्द दिया आपने, लावा...! लावा है उनकी कविताओं में!...फिर एक बात और उनका...यानी मुक्तिबोध की कविताओं का सौंदर्यशास्त्र अलग है। आपको बताऊँ, मैंने जर्मन जबान में हिंदी कविताओं के दो संकलन प्रकाशित करवाए हैं। उनमें एक सन 67-68 में प्रकाशित हुआ। उसमें 'अँधेरे में' का एक हिस्सा शामिल है, पूरा अनुवाद तो मुश्किल है। (हताशा से हमारी ओर देखते हैं, एक गंभीर मौन!)

प्रकाश मनु- लेकिन यह भी बड़ा काम है। मुक्तिबोध जैसे रफ-टफ आदमी की लंबी कविता के एक हिस्से का अनुवाद भी मुश्किल काम है। यों भी वह तो ऐसे कवि हैं जिन्हें पढ़ने में नसें चटचटाती हैं...

लोठार लुत्से- बिलकुल! मुक्तिबोध औरों से अलग कवि हैं। अलग तरह के कवि। आप उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते! तो जो दूसरी पुस्तक छपी, हिंदी कविताओं के जर्मन अनुवाद की, जिसमें संपादक विष्णुजी (विष्णु खरे) और मैं था, उसका नाम है 'बैलगाड़ी'। सोचिए, यह शीर्षक कहां से आया? (किंचित मुस्कराते हुए) मुक्तिबोध से!...उनकी एक कविता है, 'बैलगाड़ी में'। उस पुस्तक की शुरू में भूमिका और कुछ लाइनें मुक्तिबोध की कविता से ही हैं। जैसा कि आपने भी अभी कहा, मुक्तिबोध अनुवाद के लिए बहुत कठिन कवि हैं। किसी भी अनुवादक के लिए उनकी लावा वाली शैली को पकड़ना बहुत कठिन है। तो मुक्तिबोध का स्थान बहुत बड़ा है, इसमें शक नहीं। मेरी एक चेली है- बारबरा लोत्स। यहीं मैक्समूलर भवन में। वह मुक्तिबोध पर एक थीसिस लिख रही है।

प्रकाश मनु- तो क्या यह मुश्किल आपको मुक्तिबोध में ही आई? अज्ञेय की कविता में भी कई बार बड़े सूक्ष्म आशय और मिथक आते हैं- वहां क्या आपके सामने मुश्किल नहीं आई?

लोठार लुत्से- (तुरंत सहमत होते हुए) हां, क्यों नहीं? अज्ञेय की कुछ कविताएं तो बहुत मुश्किल हैं। उनकी एक कविता है, 'असाध्य वीणा।' उसकी शैली...क्या कहूं, मुश्किल हैं। किसी भी जर्मन लेखक के शायद उसे समझना मुश्किल हो सकता है। इसलिए कि वह कुछ अलग बोध की कविता है, अलग है...खुद अज्ञेय की दूसरी कविताओं से। (एक क्षण रुककर बताते हैं) मैं छोटी

कविताएं पसंद करता हूँ अनुवाद के लिए। कबीर के दोहों का अनुवाद करना मुझे पसंद है। वहां जो चुनौती है, छोटापन- दो पंक्तियों में ऐसी बड़ी बात कह जाना, यह सचमुच बड़ी चुनौती है। इसलिए कबीर मुझे बहुत बड़े कवि लगते हैं। आज भी उनका कोई जोड़ नहीं।

प्रकाश मनु- लेकिन श्रीकांत वर्मा की कविताएं तो छोटी कविताएं नहीं हैं। आपने अपनी पुस्तक 'पोस्ट कोलोनिअल हिंदी लिटरेचर' में उनकी जिस कविता 'मायादर्पण' का अनुवाद किया है, उसी को लीजिए। वह काफी लंबी और आविष्ट किस्म की कविता है। इसी तरह विष्णु खरे की कविताओं के आपने अनुवाद किए हैं, पर वे भी खासी लंबी कविताएं हैं और मजे की बात यह है कि अज्ञेय से इन सभी कविताओं का मिजाज एकदम भिन्न है!

लोठार लुत्से- हां, श्रीकांत वर्मा मुझे पसंद हैं। विष्णु खरे की कविताएं भी बहुत पसंद हैं, अच्छी लगती हैं लंबी होने के बावजूद। और उनके अनुवाद में या उनकी संवेदना से जुड़ने में मुझे कोई मुश्किल नहीं आई। जिस तरह की जर्मन कविताएं मैं पढ़ता रहा हूँ, उनसे इनका मिजाज कोई बहुत अलग भी नहीं है।...हां, अज्ञेय से इन कविताओं की संरचना या बनावट कहिए, जरूर अलग है, पर मैं इन्हें अपने-अपने कारणों से, अलग-अलग पसंद करता हूँ। श्रीकांत वर्मा और विष्णु खरे उन आधुनिक कवियों में से हैं जिनका मैं अनुवाद करना पसंद करूंगा।

प्रकाश मनु- इसके अलावा आपकी पसंद के कवि?...समकालीन हिंदी कविता के संदर्भ में पूछ रहा हूँ।

लोठार लुत्से- (कुछ सोचते हुए) रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह...इन्हें मैं महत्त्वपूर्ण कवि मानता हूँ।

प्रकाश मनु- (बीच में टोककर) और धूमिल...! 'संसद से सड़क तक' की उनकी कविताएं आपको कैसी लगती है?

लोठार लुत्से- (उल्लासपूर्वक) आपने अच्छा याद दिलाया! धूमिल बहुत शक्तिशाली कवि हैं तथा औरों से बहुत अलग हैं। मुझे पसंद हैं उनकी कविताएं। उनकी 'संसद से सड़क तक' की कविताओं के काफी अनुवाद मैंने किए हैं। उनमें कुछ है वातावरण में, शैली में जो औरों से बहुत अलग हैं। और फिर कुछ उम्र की बात होती है। किसी खास उम्र में कोई अच्छा लगता है, बाद में चलकर कोई और।

प्रकाश मनु- क्या ऐसा है कि शुरू-शुरू में तो आपको आवेग अच्छा लगता है, पर एक उम्र के बाद रुचियां बदल जाती हैं यानी आगे चलकर आवेग उतना अच्छा नहीं लगता, थिराई हुई कविताएं ज्यादा अपने करीब लगती हैं..?

लोठार लुत्से- आपकी बात ठीक हो सकती है, पर...(कुछ सोचते हुए) मैं हरेक कविता को अलग-अलग देखकर फैसला करता हूँ।...इसके अलावा कुछ छोटे (अपेक्षाकृत कम उम्र के) लोग भी हैं, जैसे विष्णु नागर, असद जैदी, जिनकी कविताओं के मैंने अनुवाद किए हैं। इसके अलावा एक और कवि...लखनऊ के हैं, नाम याद नहीं आ रहा।

प्रकाश मनु- लीलाधर जगूड़ी...?

लोठार लुत्से- (प्रसन्नता से) हां, जगूड़ीजी। उनकी कविताओं का मैंने अनुवाद किया है। फिर प्रयाग शुक्ल, विनोद कुमार शुक्ल की कविताओं के अनुवाद किए हैं।

शैलेंद्र चौहान- (अचानक बीच में टोकते हुए) और ऋतुराज? वे आपको कैसे कवि लगते हैं?
..क्या आपने उन्हें पढ़ा है?

लोठार लुत्से- (असमंजस में पड़कर)...नहीं! क्या यह कोई गीतकार हैं?

शैलेंद्र चौहान- नहीं, उसी तरह के कवि जैसे धूमिल, विष्णु खरे, विनोद कुमार शुक्ल वगैरह हैं।

लोठार लुत्से- (कुछ संकोच के साथ) नहीं, इन्हें मैंने नहीं पढ़ा।

प्रकाश मनु- डॉ. लुत्से, कविता के अलावा अब क्या विधाओं की बात की जाए?...कविता के अलावा आपकी रुचि साहित्य की किस विधा में है- क्या उपन्यास...?

लोठार लुत्से- (डॉ. लुत्से उत्साहित होकर जवाब देते हैं) हां, उपन्यासों में मेरी रुचि है और उसमें किसी समाज के बारे में सीखने-जानने को भी बहुत कुछ मिलता है क्योंकि उसमें जीवन बहुत बड़े फलक पर नजर आता है।...हिंदी के उपन्यासकारों में मैं फणीश्वरनाथ रेणु का नाम खास तौर से लेना चाहूंगा। (एक अजब सी भाव-तन्मयता के साथ) रेणुजी के 'मैला आंचल', 'परती परिकथा' बहुत बड़े उपन्यास हैं। वे उपन्यास के लिहाज से तो महत्वपूर्ण हैं ही, उनसे यह भी पता चलता है कि पटना या उसके आसपास के इलाकों में या फिर पूर्णियां में लोग किस तरह की भाषा बोलते हैं? किस तरह के स्वभाव के हैं- उनके लोकगीत, मेले, प्रेम- सभी कुछ।

(एक क्षण की चुप्पी के बाद) इन उपन्यासों का अनुवाद करना मुश्किल है। इसलिए कि रेणु जी के पात्रों का कैरेक्टराइजेशन...चरित्र-चित्रण अद्भुत है और यह काम वह अलग-अलग लोगों की जबान से ही करते हैं।...उसी से आपको फर्क समझ में आ जाएगा।

प्रकाश मनु- डॉ. लुत्से, अब तो आप जर्मन और हिंदी दोनों ही भाषाओं के साहित्य से खूब अच्छी तरह परच गए...बल्कि परच गए तो ठीक शब्द नहीं है, मैं कहना चाहूंगा, लगभग दोनों की ही आपने विशेषज्ञता हासिल कर ली है। इसीलिए यह प्रश्न!...क्या आप बताएं कि जर्मन और हिंदी के साहित्य में- दोनों के स्वभाव और विकास के ग्राफ के लिहाज से समानताएं भी मिलती हैं?

लोठार लुत्से- (कुछ असमंजस में पड़कर) मुश्किल है इस सवाल का जवाब देना, लेकिन... (मौन!...कुछ सोचते हुए) देखिए, इस बारे में एक बात तो यह समझ लीजिए कि जर्मनी और भारत के संबंध बहुत पुराने हैं। जर्मन विद्वानों ने संस्कृत में कुछ अच्छा काम किया है, लेकिन आधुनिक भारत जो है, उसे समझने में रुचि बहुत कम लोगों की है। इसी तरह आधुनिक भारतीय भाषाओं को समझने वाले बहुत कम हैं।...आपको आश्चर्य होगा, मेरे बहुत-से साथी हैं, जो कहते हैं, हिंदी भी कोई जबान है? तुलसीदास के बाद क्या कोई साहित्य था या है?... (कुछ देर रुककर वे मानो जर्मन लेखकों के 'मनोविज्ञान' का बड़ा बेलाग विश्लेषण कर डालते हैं) जर्मनों की खास विशेषता है कि वे पुराने भारत को बहुत पसंद करते हैं। एक रूमानीपन है उनकी सोच में...प्रशंसा है, जो अच्छी तो है, पर बहुत खतरनाक है। बहुत-से जर्मन हैं, जो यथार्थ को रिकगनाइज नहीं करते। वे भारत नहीं आना चाहते। उनसे कारण पूछिए तो वे बताएं कि 'मेरे मन में जो भारत है, वह स्थापना खंडित हो जाएगी...यानी वह आदर्श मूर्ति टूट जाएगी।' (हँसी) यह तो विद्वानों की (जैसी) बात नहीं है!...

प्रकाश मनु- (बीच में टोककर) और साहित्यकारों की क्या स्थिति है?...क्या वे भी उदार दृष्टि

से या तार्किक ढंग से नहीं सोच पाते?

लोठार लुत्से- लेखकों, साहित्यकारों में भी कुल मिलाकर तो भारत की एक ऐसी तस्वीर बन गई है कि भारत, सपेरों और भिखारियों का देश है...

प्रकाश मनु- और गुंटर ग्रास जैसे जो प्रगतिशील मिजाज के लेखक हैं, वे भी क्या यही सोचते हैं?

लोठार लुत्से- हां, और क्या!...उनकी कलकत्ता पर जो किताब आई है, आप देख लीजिए। 'जीभ दिखाना' नाम से विष्णुखरे ने उसका हिंदी में अनुवाद किया है। आप वह किताब पढ़िए। (कुछ निराशा से सिर हिलाते हुए) अच्छी किताब नहीं है...भारत के बारे में काफी निंदाजनक...नेगेटिव बातें हैं।

प्रकाश मनु- उसमें भारत की गरीबी के लिए घृणा जैसा भी है शायद कुछ...कि अरे, ये तो तुच्छ, मलीन लोग हैं!...वे कितना भी छिपाएं, छिप नहीं पाता यह भाव!

लोठार लुत्से- बिलकुल ठीक कह रहे हैं आप...एक तरह की नफरत है उसमें!...(कुछ देर की चुप्पी के बाद विचारलीन मुद्रा में) आपकी संस्कृति को समझना बहुत कठिन काम है। भारत की जो तस्वीर है, जो छवि बन गई है, उसके आदर्श और यथार्थ में जो फर्क है, वह खास जर्मन नहीं समझता। हम लोग कोशिश कर रहे हैं, इस फर्क को मिटा पाने की, पर बहुत लंबा रास्ता है।

(कहते हुए एक उम्मीद भरी चमक उनकी आंखों में और उनके माथे पर ही नहीं, उनके शब्दों में भी नजर आने लगती है।)

प्रकाश मनु- और अब भिन्नताओं की चर्चा कर ली जाए।...जर्मन और हिंदी के साहित्य की स्वभावगत भिन्नताएं आपके खयाल से क्या हैं?

लोठार लुत्से- (कुछ सोचते हुए) चलिए, कुछ उदाहरणों से बात करें। एक 'असाध्य वीणा' जैसी कविता है अज्ञेय की। इसको समझना या शायद पसंद करना मुश्किल है किसी भी जर्मन लेखक के लिए। वह अलग है वातावरण में, शैली में। खुद अज्ञेयजी की और कविताओं की तुलना में वह अलग है। इसकी तुलना में रघुवीर सहाय की कविता नजदीक है। जर्मन कविता के मिजाज से ज्यादा मिलती है।...और फिर छोटे-छोटे फर्क तो होंगे ही। वे तो जर्मन साहित्य में भी होंगे। एक ही लेखक की दो रचनाओं में भी हो सकते हैं। एक जर्मन कवि- आलोचक हैं, उन्होंने एक लेख लिखा। उसमें लिखा, 'कविता की एक विश्व भाषा है।' यह सचमुच बड़ी अच्छी बात है। इस जमाने का खास वातावरण है, जो सारी दुनिया में मिल जाता है। आज बोस्निया में क्या हो रहा है, सब देखते हैं। कोई हिस्सा किसी के लिए अछूता नहीं है।...तो इन विचारों का एक-दूसरे पर असर भी पड़ता है। भारत में आकर भी मुझे इसीलिए अच्छा लगता है, मुझे अपनी ही तरह सोचने वाले...या अपनी ही तरह की पसंद वाले बहुत लोग मिल जाते हैं। ऐसे मित्रों से मिलना ताजगी से भर देता है।...

कहते-कहते डॉ. लोठार लुत्से के चेहरे पर अजब सा उजास नजर आने लगता है। अस्वस्थता के बावजूद, जबकि गला खराब होने के कारण उन्हें बहुत जोर लगाकर किसी तरह अपनी बात कहनी पड़ रही थी, उनके चेहरे पर एक गहरे साहित्य-रसिक के से उल्लास और उत्साह की कोई कमी नहीं थी। सवाल अभी बहुत-से थे- लेकिन उन्हें और अधिक तकलीफ देना, हमें 'अमानवीय' लगा।

उनसे विदा लेकर हम लोग लौट रहे थे, तो रास्ते भर उनकी प्रसन्न भाव-मुद्राएं और चेहरे और

हाथों की 'किसिम-किसिम की भंगिमाओं' के साथ बड़ी ही जीवंतता से बोलने का अंदाज याद आता रहा। (खासकर हिंदी में पहला वाक्य 'जल्दी करो' बोलने का उनका 'सचित्र वर्णन' इतना जोरदार था कि उसे याद करके आज भी हमारी हँसी छूट निकलती है।) और यह भी कि इस सहजता से वह हिंदी साहित्य और हिंदी के लेखकों के बारे में बात करते हैं, जैसे वह 'आज के भारत' की खोज करते-करते सचमुच भारत के हो चुके हों। शायद इसीलिए भारत में डॉ. लुत्से के मित्रों और उन्हें प्यार करने वाले लोगों की संख्या इतनी बड़ी है।



हम कीचड़ सने जूते रसोई तक ला रहे हैं : भालचंद्र नेमाडे

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता मराठी कथाशिल्पी भालचंद्र नेमाडे की छवि एक आत्मसजग और विश्वचेतस लेखक के तौर पर रही है। खुलेपन से जुड़ना और सामाजिक ढांचे को पारंपरिक अंदाज में समझते हुए उसकी खूबियों को डंके की चोट पर अभिव्यक्ति करना उनका लेखकीय अंदाज है। अपने लेखन और बोलने के दो-टुक अंदाज के चलते अक्सर वे विवादों का पात्र भी बनते रहे हैं। लेकिन उन्हें इसकी परवाह नहीं है। 'कोसला' और 'हिंदू-जीने का संपन्न कबाड़' जैसी कृतियां ना सिर्फ मराठी, बल्कि भारतीय लेखन की अप्रतिम धरोहर बन गई हैं। उन्हें 2014 के लिए भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। साहित्य अकादेमी के साहित्योत्सव 2015 के दौरान दिल्ली आए भालचंद्र नेमाडे से कई मुद्दों पर युवा पत्रकार उमेश चतुर्वेदी ने बात की। पाठकों के लिए प्रस्तुत है बातचीत के संपादित अंश :

भारतीय साहित्यिक परिवेश में हिंदू और हिंदुत्व शब्द से ही परहेज दिखता है। हिंदुत्व और हिंदू शब्द की जैसे ही चर्चा आती है, चर्चा करने वाले पर पुनरुत्थानवादी या सांप्रदायिक घोषित करने का खतरा बढ़ जाता है। यह जानते हुए भी आपने 'हिंदू-जीने का संपन्न कबाड़' जैसी कृति लिखने का खतरा उठाने का साहस कैसे किया?

मौजूदा भारतीय समाज में जैसी वैचारिकता बढ़ी है या फिर राजनीति जिस तरह सोच रही है, उसमें हिंदू या हिंदुत्व की बात करना निश्चित तौर पर खतरनाक है लेकिन लेखन में ऐसे खतरे उठाने ही पड़ते हैं। दूसरी बात यह है कि ऐसे खतरे लेखक नहीं उठाएगा तो कौन उठाएगा? लेकिन ऐसा नहीं है कि हमारे मराठी में हम पर सवाल उठाने वाले लोग नहीं हैं। वहां भी मेरे खिलाफ लिखने वाले लोग हैं। दिलचस्प यह है कि हिंदुत्ववादी भी मुझ पर सवाल उठाते हैं लेकिन कई समझदार लोग भी हैं जिन्हें पता है कि इस तरह के लेखन का अपना एक खास परिप्रेक्ष्य है। उन्हें मेरी बातें समझ में आती भी हैं। ऐसी सोच रखने वाले दोनों तरह के लोग हैं। इसीलिए मुझ पर या मेरी सोच पर कम से कम मराठी में बड़े सवाल कभी नहीं उठे उल्टे लोगों ने इसे समझने की कोशिश की। हिंदी में भले ही अब जाकर 'हिंदू-जीने का संपन्न कबाड़' प्रकाशित हुआ हो लेकिन पिछले तीन सालों में अगर मराठी में इसकी अब तक करीब पचास हजार प्रतियां बिक चुकी हैं तो मतलब साफ है कि लोग मेरे लेखन को पूरे परिप्रेक्ष्य से समझ रहे हैं।

यह ठीक है कि आजादी के आंदोलन के दौरान तक हिंदू और राष्ट्रवाद दोनों व्यापक परिप्रेक्ष्य में अर्थान्विति रखने वाले शब्द थे। तब स्वतंत्रता आंदोलन के अगुआ गांधी भी खुद को हिंदू कहने में गर्व महसूस कर सकते थे। राष्ट्रवाद शब्द तब भारतीयता का प्रतीक था लेकिन ऐसा क्या होता है कि आजादी के बाद ये दोनों ही शब्द अपना पुराना अर्थ और भावबोध खो देते हैं। फिर

प्रगतिवाद की धारा शुरू हो जाती है और नेहरूवादी समाजवादी मॉडल के वर्चस्व के दौर में ऐसी सोच विकसित करना साहस का काम तो था ही?

बिलकुल, मैंने ऐसा जानबूझकर किया। क्योंकि मेरे हिंदुत्व का परिप्रेक्ष्य वही है। दूसरे शब्दों में कहें तो व्यापक है। दरअसल हिंदुत्व को संकुचित करने की वजह बनी अंग्रेजों की बांटों और राज करो वाली नीति। उन्होंने ही हिंदू और मुसलमान की मौजूदा अवधारणा को विकसित करने की वैचारिक और राजनीतिक आधार तैयार किया। उन्होंने जनगणना के जरिए इस अवधारणा को हमारे समाज पर थोप दिया। पहले हमारे यहां मुसलमान या हिंदू के तौर पर लोग नहीं जाने जाते थे। हमारे मराठी गांवों को ही लीजिए। वहां पिंडारी, खटिक, बुनकर के नाम से लोग पहचाने जाते थे। हम उन्हें मुसलमान के मौजूदा अर्थों में नहीं जानते थे। आज जाति व्यवस्था की भी खासी आलोचना की जा रही है होनी भी चाहिए। पारंपरिक हिंदुस्तानी समाज और गांवों में जाति व्यवस्था समाज व्यवस्था को चलाए रखने का अंग थी और वह प्यार से चलती थी। जनगणना ने अल्पसंख्यक- बहुसंख्यक और जाति व्यवस्था के खांचे में समाज को बांट दिया। जनगणना ने एक और काम किया, उसने समाज को सहिष्णु और सांप्रदायिक तौर पर भी बांटा जबकि उसके पहले तक भारतीय गांवों में आपको वैमन्यस्यता या सांप्रदायिक लड़ाई का कोई उदाहरण नहीं मिलता। इसके बाद गांव बदलने लगते हैं। कश्मीर से कन्याकुमारी तक जाति व्यवस्था सामाजिक एकता की प्रतीक थी। तमिल हों या फिर पठान या कोई और समुदाय- समाज, अपनी-अपनी परंपरा में सब अपने दायरे में भी रहते थे और उसी वक्त वे व्यापक सामाजिक व्यवस्था में भी रहते थे। इसलिए तब यह व्यवस्था बुरी भी नहीं लगती थी। यहां पर मुझे पश्चिमी नृतत्वशास्त्री हावर्ड डेविस का कथन याद आता है। उन्होंने कहा है कि- 'कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारतीय समाज में कोई शुद्ध रक्त नहीं है।' यह अवधारणा ही बकवास है। शुद्धतावाद की जो सोच दोनों तरफ विकसित हुई है, उसके बीज भी अंग्रेजों ने बोए। मेरा तो यह मानना है कि हमारे समाज को संकुचित करने के लिए एक जाल रचा गया और इस जाल से हमारा बाहर आना जरूरी है। मेरा लेखन दरअसल इस जाल से मुक्त होने की ही कोशिश है। मेरी हिंदुत्ववादी सोच भी उसी परंपरा में है, आज की सांप्रदायिक परंपरा में नहीं।

जब आप महज पच्चीस साल के थे, तब यानी 1963 में आपका पहला उपन्यास 'कोसला' आया था। तब से लेकर आज तक उसकी लोकप्रियता लगातार बनी हुई है। आखिर इसकी क्या वजह है, क्योंकि तब से लेकर अब तक के बीच समाज बहुत बदल गया है?

यह सही है कि हर साल 'कोसला' का एक संस्करण आता है। हिंदू का भी अपने प्रकाशन से लेकर अब तक हर साल बीस-तीस हजार आ रहा है। दरअसल आज के ज्यादातर भारतीय लेखन पर बड़ा सवाल यह है कि लोग जो कुछ भी पढ़ना चाहते हैं, हम उन्हें दे नहीं पा रहे। आप कह सकते हैं कि लेखन पर लेखकों का ही विचार पक्ष और सोच हावी है। पाठकों की उन्हें चिंता नहीं है। लोगों को आज क्या चाहिए, इस पर ध्यान नहीं है। जाति व्यवस्था, महिला अत्याचार, सामाजिक अत्याचार आदि को लेकर हमारी पारंपरिक व्यवस्था में किस तरह की सोच थी, लोग इस पर पढ़ना चाहते हैं। मेरे लेखन में इस पर कहीं ज्यादा चर्चा है और प्रमाणों के साथ है। देखिए, हमारे यहां विवाह को लेकर एक पत्नी व्यवस्था हर समाज में नहीं थी। अंग्रेजी में जिसे मोनोगामी कहते हैं। उसे अंग्रेजों ने लागू किया। जबकि हर समाज में स्त्री और पुरुषों की संख्या अपने जैविक कारणों

से कभी बराबर नहीं रही। किसी समाज में महिला कम थी तो वहां एक महिला पांच शादियां कर सकती थी तो किसी समाज में पुरुष कम थे तो एक पुरुष चार-पांच शादियां कर सकते थे। इस वजह से बलात्कार नहीं होते थे लेकिन मोनोगामी ने इस व्यवस्था को बदल दिया है। आज स्त्रियों के साथ हो रही बलात्कार की घटनाओं को इन संदर्भों में भी देखा और समझा जाना चाहिए। मैं नृतत्वशास्त्र का विद्यार्थी रहा हूं। वहां किसी भी जैविक समाज को समझने के लिए अनेकवचन और भूतकाल को आधार बनाया जाता है। कमोबेश हर समाज को समझने का यही मूल आधार भी है। हमारे देशी समाज में एक मर्द के लिए कई औरतें और एक औरत के लिए कई मर्दों की अवधारणा अपने-अपने खास सामाजिक जरूरत के मुताबिक थी। सदियों तक यह देशी व्यवस्था हमारे समाज में चलती रही और इससे समाज में कहीं बड़ी दुरवस्था नहीं फैली। मेरा तो अब भी मानना है कि हमारी संस्कृति और समाज में यह जो पारंपरिक कबाड़ है, उसे अपनाने की जरूरत है। मेरा लेखन इसी सोच से प्रभावित है इसीलिए शायद लोकप्रिय भी है।

लोकप्रियता की ही बात चली है तो आपके किसी मराठी प्रकाशक ने कहा है कि भालचंद्र नेमाडे लोकप्रिय साहित्य नहीं लिखते, लेकिन उनका साहित्य लोकप्रिय है। आप क्या कहना चाहेंगे?

दरअसल मेरे लेखन से लोगों को उनके अंदर उठने वाले नैसर्गिक सवालों का जवाब मिलता है। उन सवालों का जवाब शायद समाज और राजनीति नहीं दे पाती। चूंकि मेरे लेखन में मिलता है, शायद इसीलिए लोग मेरे लेखन को पसंद करते हैं। मेरे लेखन में बहुलतावादी दर्शन के चित्रण और उन्हें फिर से अपनाए जाने पर जोर है। मेरा लेखन लोगों को बहुलतावादी बनाने की दिशा में सोचने का मौका भी देता है इसलिए भी मेरी किताबें लोगों की पसंदीदा बनी हुई हैं।

भारतीय बहुलतावादी दर्शन और सोच को चोट पहुंचाने के पीछे मौजूदा तंत्र और सोच आज की सांप्रदायिक राजनीति को जिम्मेदार ठहराती है। आपका क्या मानना है?

देखिए, अंग्रेजी संस्कृति बहुलतावाद की दुश्मन है। अंग्रेजी भाषा भी बहुलतावादी भाषाई दर्शन की शत्रु है। मैं दो उदाहरण देना चाहूंगा। एक तो मोनोगामी को ही लीजिए। मोनोगामी की व्यवस्था के बाद उन समुदायों में जहां स्त्रियों की संख्या जैविक वजहों और परिस्थितियों की वजह से कम है, वहां के लड़कों ने बीस-तीस साल तक अपने सेक्सुअल डिजायर पर काबू तो किया, लेकिन आप जानते हैं कि यह भूख भी प्राकृतिक है और इस पर काबू पाना भी आसान नहीं है। चूंकि मोनोगामी के चलते हजारों में से दो सौ-तीन सौ लोगों को लड़कियां नहीं मिलीं तो उन्होंने रेप करना शुरू किया। महाराष्ट्र में एक जाति है। वहां भी हरियाणा की तरह जैविक हालात से लड़कियों की संख्या एक हजार पर करीब सात सौ है। अब मोनोगामी की व्यवस्था उनके यहां भी लागू है तो एक दौर के बाद उनके यहां भी बलात्कार बढ़ने लगे। यानी बहुलतावादी दर्शन को अंग्रेजी सोच ने मार डाला। दूसरा उदाहरण अंग्रेजी भाषा को लेकर है। हमारे मराठी में मौसी, बुआ, फूफी, ताई, चाची कई होती हैं। आपकी हिंदी में भी ऐसा ही होगा या है लेकिन अंग्रेजी में इसके लिए एक ही शब्द है आंटी। जिन बच्चों की पढ़ाई सिर्फ और सिर्फ अंग्रेजी के जरिए हो रही है तो उनके लिए अब एक ही बिंब है आंटी का। मौसी, ताई, चाची, फूफी सब खत्म हो गए। यह तो छोटा उदाहरण है। अंग्रेजी इसी तरह हमारी देशज भाषाओं को खा रही है। अंग्रेजी हमारी सोच को भी संकुचित कर रही है। इसीलिए छोटी-छोटी समस्याएं भी हमें बड़ी लगने लगी हैं। मेरा मानना है कि स्थानीय सोच और स्वरूप बचा रहना चाहिए। मेरे लेखन में इसी सोच को बनाए

रखने पर जोर और अंग्रेजी के मोनोगामी संस्कृति का प्रतिरोध है।

आप लंदन जैसी जगह पर अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाते रहे हैं। आपकी अंग्रेजी भी अच्छी रही है। जिस दौर में हम रह रहे हैं, उसमें अंग्रेजी ना सिर्फ बेहतर जीवन का माध्यम मानी जाती है, बल्कि अंग्रेजी लेखन भी कामयाबी, समृद्धि और यश का बड़ा माध्यम रहा है। फिर भी आपने अंग्रेजी के बजाए मराठी में लिखना क्यों चुना?

अगर मेरी अंग्रेजी अच्छी है तो इसकी बड़ी वजह यह है कि मेरी मूल पढ़ाई मराठी माध्यम से हुई है। पूरी दुनिया के शिक्षाशास्त्री मानते हैं कि अपनी मातृभाषा में ही पढ़ाई करके बेहतर ज्ञान हासिल किया जा सकता है। अंग्रेजी का ज्ञान भी इसी श्रेणी में आता है। ऐसा नहीं कि मैंने अंग्रेजी में नहीं लिखा। अपने कैरियर के लिए शोध पत्र मैंने अंग्रेजी में भी लिखे हैं। अंग्रेजी में लिखे मेरे तीन टेक्स्ट बुक दुनिया भर के विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाते हैं लेकिन रचनात्मक लेखन के लिए मैं हमेशा अपनी मातृभाषा मराठी में ही सहज रहा। जब मैं लिखने की कोशिश करता हूँ तो मेरी अपनी भाषा में किसी भाव के लिए पांच से लेकर पंद्रह तक शब्द सामने आ जाते हैं जबकि अंग्रेजी में ऐसा नहीं है। अब अँधेरे को ही लीजिए। आपकी अपनी भाषा भोजपुरी में भी अँधेरे को लेकर चार-छह शब्द होंगे लेकिन अंग्रेजी में महज दो शब्द हैं। तो अंग्रेजी मेरी अभिव्यक्ति की सीमा को बांध देती है जबकि मराठी मेरी अभिव्यक्ति और भाव को विस्तार देती है। उस विस्तार में से अपने काम का मोती मैं चुन लेता हूँ। मेरा तो यह मानना है कि सर्जनात्मकता को आयाम आपकी अपनी मातृभाषा ही दे सकती है। लेकिन हमारे यहां इसी सोच को तिलांजलि दी जा रही है। हमारे घरों में क्या है। बाहर के जूते रसोई तक नहीं लाए जाते। बाहर के कीचड़ सने जूते घर के बाहर खोल दिए जाते हैं और घर के लिए अपने जूते होते हैं, जिन्हें पहनकर हम रसोई तक जाते हैं। संस्कृति के स्तर पर भी ऐसा ही होना चाहिए लेकिन अब ऐसा नहीं हो रहा है। हम कीचड़ सने जूते भी रसोई तक ले जा रहे हैं। अपने लेखन में मराठी माध्यम पर मुझे ऋग्वेद की वह ऋचा याद आती है जिसमें कहा गया है कि अपनी भाषा इतनी घरेलू होती है कि वह अपनों को नजर नहीं आती लेकिन प्रिय के सामने प्रिया जिस तरह खुद को पूरी तरह अनावृत कर देती है, अपनी भाषा भी अपनों के बीच वैसे ही पर्दाहीन हो जाती है। कहने का मतलब यह है कि वह अभिव्यक्ति की सारी संभव सीमाओं को छू लेती है। यह भाव और सोच आयातित या दूसरे की भाषा में नहीं आ पाती।

आपके लेखन में कबाड़ संभालने की बात कर रहे हैं...आप कैसे समझाएंगे कि यह कबाड़ भी हमारे लिए उपयोगी है?

आपको अपनी जिंदगी से ही इसका एक उदाहरण दे रहा हूँ। मुंबई से खंडाला जाते वक्त रास्ता पहाड़ियों से भरा है। उसमें एक जगह है चिकरोवा। वहां परंपरा से एक सोच बनी हुई थी कि मुंबई या पूना आते-जाते वक्त यहां रुकना और यहां के देवता की पूजा करना जरूरी है। हो सकता है कि ऐसा कोई देवता असल में हो ही नहीं लेकिन पहाड़ी पर चढ़ाई के वक्त यहां ठहराव का इंतजाम इसलिए किया गया कि यहां रुककर यात्री कुछ देर सुस्ताएगा और फिर नई सावधानी और ऊर्जा के साथ पूना जाएगा। इसकी वजह से पहले हादसे कम होते थे। अब देखिए, विकास के नाम पर यहां एक्सप्रेस वे बन गया है। अब रुकने की जरूरत नहीं। चिकरोवा के देवता का बहाना भी नहीं रहा तो हो क्या रहा कि रोजाना कम से कम दस-पंद्रह हादसे यहां होते हैं। मेरा यह मानना है कि

इस पड़ाव को दकियानूसी अंदाज की बजाए प्यार से देखना और समझना चाहिए लेकिन समाज में ऐसे लोग कम हैं और वे एक ही बात पकड़कर बैठे हुए हैं जबकि यह पड़ाव इंसानियत और समाज के भले के लिए था। चूंकि मेरी पढ़ाई नृतत्वशास्त्र की है लिहाजा मेरे लेखन में बार-बार आपको यह दिखता है।

भारतीय लेखन के सामने सबसे बड़ा खतरा क्या है, क्योंकि अभी तो सिर्फ एक ही खतरा हम अपनी हिंदी में सुनते हैं सांप्रदायिकता का?

मेरी समझ से भारतीय लेखन के सामने सबसे बड़ा खतरा अंग्रेजी और समाज में बढ़ते बाजारीकरण का है जिसका असर भारतीय लेखन पर भी दिख रहा है। अपनी-अपनी भाषा में लेखन और सोच की अवधारणा कमजोर हुई है। इससे हमारी अपनी नैसर्गिकता कम हुई है। हमारे विचार भी आयातित हो रहे हैं। मौलिकता में भी कमी आ रही है जबकि इस पर ज्यादा जोर की जरूरत है।

आज अंग्रेजी भी भारतीय लेखन के बीच की सेतु बनी हुई है। आप अंग्रेजी के खिलाफ सीना तानकर खड़े होने की बात करते हैं फिर अंग्रेजी नहीं रहेगी तो सेतु का काम कौन करेगा?

यह सवाल बेमानी है। हमारे इतिहास में मौर्य, गुप्त, मराठा और मुगल साम्राज्यों का गौरवशाली स्थान रहा है। मराठों का शासन तमिलनाडु से लेकर काबुल तक चलता था। तब क्या अंग्रेजी थी, जिसके जरिए वे शासन चलाते थे। उन्होंने अपनी ही भाषाओं में काम करने के बावजूद बड़े-बड़े साम्राज्य खड़े कर लिए थे। जाहिर है कि उन्होंने अपने दौर में ऐसी भाषा विकसित कर ली थी। अरबी, फारसी और अपनी देसज भाषाओं के जरिए हमारे इतिहास उन्होंने संप्रेषण का माध्यम विकसित किया। इसी प्रक्रिया में उर्दू बड़ी ताकत बनकर उभरी। यह बात और है कि भारत बंटवारे के बाद उर्दू का महत्व कम हो गया। दुर्भाग्यवश हिंदी बड़ा स्थान नहीं ले पाई और अंग्रेजी हमारे सिर पर बैठ गई। इसमें एक बड़ी यह वजह रही कि हिंदी का शुद्धतावादी रूप लोगों को पसंद नहीं आया। अब्बल तो होना यह चाहिए था कि जो लोगों के भावस्थल से निकलकर भाषा आती, उसे स्वीकार किया जाता लेकिन ऐसा नहीं हुआ। हमारी मुंबई में भाजीवाले से ठेठ मराठी महिला मराठी में नहीं, हिंदी में बात करती है। बेशक वह हिंदी दूसरी है लेकिन दोनों का काम चल जाता है। हिंदी के लिए ऐसा ही होना चाहिए था लेकिन मेरा मानना है कि लोगों में जागरूकता आएगी तो वे इस समस्या की राह भी तलाश लेंगे।

आपकी ख्याति कथाशिल्पी के तौर पर है। ज्ञानपीठ मिलने के पीछे कथाकार का ही रूप हावी है लेकिन आपने कहा है कि आप कविताओं में लौट जाना चाहते हैं इसकी वजह क्या है?

उपन्यास लेखन मेरा दिमाग खा लेता है। अभी असुर सभ्यता पर मुझे लिखना है। इसके लिए लगातार शोध कर रहा हूं। कई बार शोध में दो से तीन साल तक लग जाता है। कबाड़ को सहेजना बड़ा कष्टप्रद काम है। काफी मेहनत करनी पड़ती है। एक उपन्यास लिखने में दिमाग भन्ना जाता है। फिर बिना शोध के लिखना मेरे लिए संभव नहीं है जबकि कविता अपने आप हृदय के भाव से निकलती है। उसमें दिमाग कम लगता है और सुकून ज्यादा होता है। भाषा की अंतरंगता से कविता झरती है। कविता में आप भाषा के अंतरंग में जा सकते हैं। इसलिए मैंने कहा है कि मैं कविताओं में लौट जाऊंगा। कविता मेरा पहला प्रेम है। मेरे पास 40-50 कविताओं का अधूरा ड्रॉफ्ट है। उन्हें मैंने जानबूझकर छिपा रखा है ताकि मेरे शोध और उपन्यास लेखन में बाधा न बनें।

हिंदी के युवा लेखकों को आप क्या संदेश देना चाहेंगे?

हिंदीवालों को सबसे पहले यह सोचना चाहिए कि भारतीय भाषाओं के लेखकों के लिए वे बड़े भाई के समान हैं लिहाजा उनकी जिम्मेदारी बड़ी है। बड़े को सहनशील भी होना पड़ता है यानी उनको दूसरों की तुलना में ज्यादा सहनशील होना होगा। हिंदी में एक चिंता जताई जाती है कि डोगरी आदि भाषाओं में कम उम्र में ही साहित्य अकादेमी सम्मान मिल जाता है, जबकि हिंदी में साधना करते उम्र बीत जाती है। हिंदी के लेखकों को सोचना होगा कि वे विशाल भाषाक्षेत्र के लेखक हैं लिहाजा उनके यहां प्रतियोगिता ज्यादा है जबकि छोटी भाषाओं के यहां रचनाकार उनकी तुलना में कम रचनाकार हैं। बड़े भाई के तौर पर उन्हें बाकी भाषाओं को भी आत्मसात करना चाहिए। उन्हें दूसरी भाषाओं के लेखकों के हिंदी लेखन में व्याकरण की छोटी-मोटी अशुद्धियों की अनदेखी करनी चाहिए। फिर हिंदी लेखकों को परंपरा से जुड़ना चाहिए लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि नई सोच को पीछे छोड़ जाएं।

आपको हिंदी लेखन से क्या उम्मीदे हैं?

हिंदी में नागार्जुन और उदय प्रकाश जैसे लेखक और कवि हैं या थे। उनकी परंपरा और उनका लेखन बड़ा समृद्ध है। हिंदी में प्रेमचंद और फणीश्वरनाथ रेणु की भी परंपरा है। मेरा मानना है कि इन सबकी परंपराएं काफी आगे जाएंगी। हिंदी लेखन इन परंपराओं के साथ लगातार नए पड़ाव पार करता रहेगा फिर भी मेरा मानना है कि हिंदी में भारतीय भाषाओं का भी खूब अनुवाद होना चाहिए। जिस तरह अंग्रेजी में जर्मन, फ्रेंच, रूसी और लैटिन आदि भाषाओं का खूब अनुवाद होता है, वैसा ही आधार हिंदी को कम से कम भारतीय भाषाओं के लिए मुहैया कराना होगा तभी हम एक-दूसरे को और गहराई के साथ ही कहीं ज्यादा अपनापे से समझ पाएंगे। हिंदी लेखन को बड़ा भाई होने के नाते यह जिम्मेदारी निभानी ही होगी।



प्रारंभिक हिंदी-उर्दू उपन्यासों की भाषा

चंद्रदेव यादव

यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि खड़ी बोली हिंदी और उर्दू का विकास दिल्ली की ठेठ बोली कौरवी या बांगरू से हुआ। अठारहवीं शताब्दी में इनके रूप अलग-अलग होने लगे। ऐसा धार्मिक और राजनैतिक कारणों से हुआ। हम सभी अच्छी तरह से जानते हैं कि भाषा के विकास में धर्म और राजनीति की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। हिंदुओं ने हिंदी को संस्कृतनिष्ठ बनाया और मुसलमानों ने उर्दू को अरबी-फारसी से बोझिल कर दिया। मुसलमानों ने अपनी आइडेंटिटी के लिए ऐसा किया। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'हिंदी क्षेत्र के मुसलमानों ने अपनी आइडेंटिटी के लिए स्थानीय भाषा को थोड़ा बदल दिया।' इसीलिए मुसलमानों ने संस्कृतनिष्ठ हिंदी को 'भाषा' कहा और छावनी में विकसित तथा दरबारों में पली कुछ खास मुसलमानों की भाषा को उर्दू। इस संदर्भ में सन 1741 में लिखी गई रामप्रसाद 'निरंजनी' की रचना 'भाषा योगवाशिष्ठ' और 1775 ई. में मीर मुहम्मद हुसैन अता खां 'तहसीन' द्वारा किए गए 'किस्सः-ए-चहार दरवेश' के उर्दू अनुवाद की भाषा को देखा जा सकता है। योगवाशिष्ठ की भाषा को शुक्ल जी ने साफ-सुथरी खड़ी बोली कहा है, हालांकि उसमें भी जगह-जगह संस्कृतनिष्ठता मौजूद है। इसी तरह 'तहसीन' का नौतर्जेमुरस्सा' (किस्सः-ए-चहार दरवेश का अनुवाद) अरबी-फारसी की क्लिष्ट शब्दावली में है।

कॉलरिज और वड्सवर्थ ने 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में लिखा था कि 'कवि को असाधारण भावों को साधारण भाषा में व्यक्त करना चाहिए।' तुलसीदास और प्रेमचंद की असाधारणता इस बात में भी है कि उन्होंने जनसामान्य की भाषा में रचना की। कबीर-सूर की लोकप्रियता का कारण भी कहीं न कहीं उनकी भाषा है। मीर मुहम्मद हुसैन अता खां 'तहसीन' इस मर्म को नहीं समझ सके। संभवतः इसीलिए वे आगे के लेखकों के लिए नजीर नहीं बन सके, जबकि मीर अम्मन और नजीर अहमद 'भाषा के मर्म' से पूरी तरह वाकिफ थे। मीर अम्मन का 'बागो-बहार' मौलिक कृति नहीं है। वह फारसी की उसी मशहूर दास्तान 'किस्सः-ए-चहार दरवेश' का अनुवाद है जिसका 'तहसीन' पहले ही 'नौतर्जेमुरस्सा' के नाम से अनुवाद कर चुके थे लेकिन मीर अम्मन का अनुवाद ऐसा है कि वह मूल कृति से भी अधिक मौलिक लगता है। यह संभव हुआ है उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा और भाषा की सहजता से। एहतेशाम हुसैन ने 'उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में 'बागो-बहार' के बारे में लिखा है- 'अनुवाद होने पर भी यह स्वयं मीर अम्मन की रचना मालूम पड़ती

है।' इसी तरह मिर्जा रजब बेग सुरूर और मीर शेर अली अफसोस का गद्य मीर अम्मन जैसा न होते हुए भी ठीक-ठाक है।

मीर अम्मन के समकालीन और फोर्ट विलियम कॉलेज में भाषा मुंशी सदल मिश्र के चंद्रावती अथवा 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा में पंडितारूपन है। वह व्यवस्थित भी नहीं है। उसमें आंचलिक रंग भी हैं। खड़ी बोली क्षेत्र का न होने और उस समय खड़ी बोली के व्यवस्थित रूप के अभाव के कारण भी संभवतः सदल मिश्र की भाषा थोड़ी अलग तरह की है। एक उदाहरण देखें- 'वह बोली कि हम तुम्हारी तपस्या इस वन में सुनकर आए, तैसे ही तुमको देख बहुत प्रसन्न हुए पर बिना ब्याह यह तपस्या अकारथ होती है, क्योंकि स्त्री के साथ तप करके ऋषि सब सिद्धि को पहुंचे और वेद की आज्ञा से संतान के लिए पत्नी सों भोग करना उचित है नहीं तो विस बिन क्या कभी क्रिया सिद्ध होती है और पुत्रहीन के, देवता वो पितर इन दोनों में कोई संतुष्ट नहीं। (नासिकेतोपाख्यान, पृ.-३) मीर अम्मन की भाषा के आगे सदल मिश्र की भाषा बहुत कमजोर और अव्यवस्थित है। फोर्ट विलियम कॉलेज से बाहर रहकर इंशाअल्लाह खां ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। 'भाखापन' से मुक्त गद्य लिखने का संकल्प करने वाले इसमें पूरी तरह सफल नहीं हुए, लेकिन उनका गद्य काफी व्यवस्थित है- यह अलग बात है कि उर्दू और पंजाबी के प्रभाव में आकर आलंकारिक ढंग से आतियां जातियां, बलखातियां का प्रयोग करके उन्होंने भाषा को हल्का बना दिया। वास्तव में 1800 ई. के आसपास लिखा गया खड़ी बोली हिंदी गद्य मीर अम्मन के गद्य के टक्कर का नहीं है। हिंदी के गद्यकारों- लल्लूलाल, सदल मिश्र, इंशा अल्लाह खां और सदासुखलाल का गद्य अपनी तमाम खूबियों के बावजूद शिथिल, असहज और कहीं-कहीं अव्यावहारिक है।

उर्दू में उपन्यास-लेखन उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक में शुरू हुआ। उर्दू में अंग्रेजी उपन्यास के ढर्रे का उपन्यास लिखने वाले पहले उपन्यासकार नजीर अहमद के पहले उपन्यास 'मिरातुल उरूस' (1869 ई.) में तकनीक की दृष्टि से बहुत खामियां हैं, फिर भी उसका गद्य काबिले-तारीफ है। नजीर अहमद ने इसे छोटी उम्र की लड़कियों की शिक्षा के लिए लिखा था। छपने से पहले ही यह इतना प्रसिद्ध हो गया था कि इसे सिर्फ लड़कियों ने ही नहीं, बल्कि बड़ी उम्र के मर्दों और औरतों ने भी पढ़ा और पसंद किया। एक लंबे समय तक लोग इसे 'अकबरी-असगरी की कहानी' कहते रहे। इसकी लोकप्रियता का कारण केवल इसके विषय का समसामयिक और प्रासंगिक होना ही नहीं था, इसकी भाषा और वर्णन शैली ने भी लोगों को इसका दीवाना बना दिया। उनके दूसरे उपन्यास 'तौबतुन्नसूह' की भाषा मिरातुल उरूस से बिल्कुल भिन्न है। समाज सुधार को ध्यान में रखकर लिखे गए इस उपन्यास की भाषा कठिन है। उर्दू की सामान्य जानकारी रखने वाले पाठकों को यह आसान से समझ में आने वाला नहीं है। फारसी के मुहावरों और कहावतों के प्रयोग के कारण इसकी भाषा बोझिल हो गई है, लेकिन इसमें कहीं-कहीं कच्चा साथ खाली हाथ, जमीन में गड़ जाना तथा करेला और नीम चढ़ा जैसे सामान्य मुहावरों और कहावतों का प्रयोग भी किया गया है। इससे साफ पता चलता है कि उत्तर भारतीय समाज में बहुत सारी चीजें सामान्य हैं जिनका प्रयोग हिंदू-मुस्लिम दोनों समुदायों में होता है। हिंदी और उर्दू को एक सूत्र में बांधने वाला तत्व केवल व्याकरण ही नहीं है, बल्कि ये मुहावरे और कहावतें भी हैं।

रामप्रसाद निरंजनी के बाद उन जैसी भाषा न तो लल्लूलाल लिख सके और न ही उस समय

के दूसरे लेखक। लल्लूलाल उर्दू जानते थे, लेकिन 'प्रेमसागर' लिखते समय उन्होंने उर्दू से बचने की पूरी कोशिश की। उन्होंने काव्यमय गद्य लिखा जो कथा या वृत्तांत लेखन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। मीर अम्मन ने भी आंतरिक तुकों का प्रयोग किया है, किंतु वे उस तरह बेतुके नहीं लगते जिस तरह इंशा अल्लाह खां और ठाकुर जगमोहन सिंह के यहां लगते हैं। उन्नीसवीं सदी के दूसरे अन्य हिंदी-उपन्यासकारों ने अंतःआनुप्रासिकता का व्यामोह नहीं पाला, यह अलग बात है कि मल्लिका ने 'पूर्ण प्रकाश' में कहीं-कहीं काव्यमय गद्य जरूर लिखा है। नजीर अहमद ने अपने उपन्यास में पत्र शैली का अच्छा प्रयोग किया है। इस शैली का प्रयोग हिंदी के उपन्यासकार ईश्वरी प्रसाद, कल्याण राय ने भी किया है। इसकी भाषा सामान्य है, जबकि जगमोहन सिंह ने 'श्यामास्वप्न' में अबूझ भाषा में प्रेम पत्र लिख डाला है। राधाकृष्ण दास ने 'निःसहाय हिंदू' में बोलचाल की भाषा में पत्र लिखे हैं।

उर्दू में फसाना लिखने की जो परंपरा रही है, वह हिंदी के उपन्यासकारों- खासतौर से ईश्वरी प्रसाद, कल्याण राय, श्रद्धाराम फिल्लौरी, श्रीनिवासदास आदि में भी दिखाई देती है। जिस तरह हिंदी के उपन्यासकारों ने किसी समस्या या घटना पर विचार करते समय लंबे-लंबे वक्तव्य दिए हैं उसी तरह उर्दू के उपन्यासकारों ने भी। इससे उन प्रसंगों में उपन्यास की भाषा कथा-भाषा नहीं रह गई है लेकिन उर्दू के उपन्यासकारों और दास्तान लेखकों में यह प्रवृत्ति बहुत कम पाई जाती है। दरअसल उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकारों की भाषा बिखरी हुई और कहीं-कहीं शुद्ध साहित्यिक और कलात्मक है। कलात्मकता, अलंकृति और काव्यात्मकता का आग्रह जगन्मोहन सिंह में सर्वाधिक है। मल्लिका भी इससे नहीं बच सकी हैं। श्रद्धाराम फिल्लौरी और श्रीनिवासदास की भाषा में सादगी है, किंतु उनमें चारुता नहीं है। ईश्वरी प्रसाद, कल्याण राय और पं. गौरीदत्त की भाषा जीवन से जुड़ी हुई है, लेकिन उसमें कच्चापन है और यह स्वाभाविक है।

इस दौर के हिंदी उपन्यासकारों में देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों में मनोरंजन का तत्व अधिक है, किंतु उनका महत्व भाषा की दृष्टि से अधिक है। उन्होंने हिंदी-उर्दू वालों के अतिवादों और भाषायी विवाद को दरकिनार करते हुए एक ऐसी भाषा विकसित की जो आमजन के निकट थी। उन्होंने हिंदी में थोड़ा-सा उर्दू का तड़का लगाया, जिससे वह शुक्लजी के शब्दों में 'हिंदुस्तानी' बन गई- वह हिंदुस्तानी जो गंभीर साहित्यिक रचना के लायक नहीं समझी गई लेकिन खत्री की यह भाषा सबकी जबान पर ऐसी चढ़ी कि बीसवीं शताब्दी में वह साहित्य की भाषा बन गई। वास्तव में खत्री की भाषा में वही रवानी और चारुता है जो नजीर अहमद और मिर्जा हादी 'रुसवा' की भाषा में है।

'उमराव जान 'अदा' उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग अंत में लिखा गया उपन्यास है। यह उर्दू का क्लैसिक उपन्यास है। मिर्जा हादी 'रुसवा' ने इसमें एक वेश्या की आपबीती का वर्णन किया है। इसमें उस समय के लखनऊ के दिलफेंक रईसों और रंडियों की दुनिया में रहने वालों की चलती-फिरती तस्वीरें, रस्म-रिवाज और चाल ढाल के साथ-साथ उमराव जान के बचपन से लेकर अधेड़ उम्र तक की जिंदगी का सजीव विवरण दिया गया है। हिंदी और उर्दू में तिनके भर का ओट मानने वाले रघुपति सहाय 'फिराक' ने इसकी भूमिका में लिखा है कि 'इस उपन्यास का सारा मजा इसकी उर्दू जबान में है।' (भूमिका, उमराव जान 'अदा', पृ.-1) इसीलिए उन्होंने इसका अनुवाद न करके लिप्यांतरण किया। उन्होंने यह भी लिखा है कि 'इस कहानी में जो कहानीपन है, वह आधे

से अधिक उस उर्दू भाषा की विशेषताओं पर निर्भर है जिसमें मूल उपन्यास मिर्जा रुसवा ने लिखा है।' (वही, पृ.-1) फिराक साहब ने यह भी बताया है कि इसमें ढाई-तीन सौ शब्द ऐसे मिलेंगे जो उर्दू न जानने वालों के लिए कठिन कहे जा सकते हैं, लेकिन उसके कारण इस उपन्यास का मजा हिंदी वालों के लिए कहीं से कम न होगा। (वही, पृ. 2) इस उपन्यास की भाषा एक उदाहरण देखें- 'बड़ी देर तक गाड़ी यहां रुकी रही। फिर पीरबख्श ने बैल जोते। दिलावर खां हुक्का भर के मेरे पास आ बैठा। गाड़ी रवाना हुई। आज दिन को मुझ पर सख्ती नहीं हुई।' (वही, पृ.41) इसमें प्रयुक्त भाषा से नहीं लगता कि यह हिंदी नहीं है या यह वह उर्दू है जो हिंदी के ठीक विपरीत एक ऐसी भाषा है जो हिंदी वालों की समझ में नहीं आती।

वास्तव में 'उमराव जान 'अदा' की भाषा बेजोड़ है। ऐसी रंजक भाषा उस समय के बहुत कम हिंदी उपन्यासों में दिखाई देती है। उन्नीसवीं शताब्दी के बाद लगभग चार दशकों में हिंदी का रूप ही बदल गया। वह संस्कृतनिष्ठ हो गई। इस दौर में प्रेमचंद के कथा साहित्य में सहज मुहावरेदार हिंदी का प्रयोग हुआ। और निस्संदेह इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि प्रेमचंद की भाषा का संस्कार भी उर्दू वाला था, जिसे उन्होंने बड़ी संजीदगी से दुरुह होने से बचाया।

मिर्जा हादी 'रुसवा' का दूसरा उपन्यास 'शरीफजादा', 'उमराव जान' 'अदा' की तरह न तो चर्चित है और न ही उसकी भाषा रंजक है। हालांकि इसके वर्णन की भाषा में क्लिष्टता नहीं है, फिर भी इसमें लालित्य नजर नहीं आता। रुसवा ने पात्रों के परिवेश और उनकी शिक्षा-दीक्षा को ध्यान में रखकर संवाद लिखे हैं। इस उपन्यास के कुछ पात्रों के संवाद की भाषा देखिए-

1. मां- क्या करूं बेटा जब से यह आई हैं नाक में दम कर दिया है। न सीधी समझती है न उलटी। (शरीफजादा, पृ. 111)

2. मिर्जा साहब की बीबी- तो क्या फकत मुहर्रम रमजान में नमाज वाजिब है और दिनों में नहीं? (वही, पृ. 91)

3. मियां- रोटी खाने को नसीब नहीं और छोटे भैया को सात पराथे का खिलअत देंगे। (वही, पृ. 61)

4. बीबी- वो कौन सा मौलवी उजड़डा है जो तुम्हें नौ-नौ बजे तक बिठा रखता है। यह नहीं कहते अपनी चेहती के यहां गए थे, खुदा गारत करे मुई को हैजा खाए। (वही, पृ. 42)

इन संवादों की भाषा बिल्कुल भारतीय परिवारों में बोली जाने वाली भाषा है। सजग उपन्यासकार अपने उपन्यासों में इसी तरह की भाषा का प्रयोग करते रहे हैं। 'देवरानी जेठानी' के संवाद भी इसी तरह गांव-घर में बोली जाने वाली भाषा में लिखे गए हैं। 'भाग्यवती' और 'निःसहाय हिंदू' के संवाद भी सहज और स्वाभाविक हैं, किंतु ऐसा हर जगह नहीं हुआ है। फिल्लौरी ने बनारस की बोली में जो संवाद लिखे हैं, उनमें कृत्रिमता है लेकिन इससे एक बात स्पष्ट होती है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकारों में न केवल जीवन के यथार्थ के प्रति आग्रह था, बल्कि वे भाषा को भी यथार्थ के धरातल पर लाने की कोशिश कर रहे थे। नजीर अहमद के उपन्यास 'इब्नुल वक्त' की भाषा भी लगभग शरीफजादा जैसी ही है।

अब चर्चा करते हैं 'फसानः-ए-आजाद' की। उर्दू के मशहूर कथाकार रतननाथ 'सरशार' का यह उपन्यास 1880 ई. में पुस्तकाकार छपा। उपन्यास जैसे स्वरूप वाली इस बड़ी रचना में बहुत

बिखराव है। अनेक उपशीर्षकों में लिखी गई इस रचना की कथन शैली बेजोड़ है। इसके चित्र जीवंत हैं। उदाहरण के लिए 'छम्मी जान' का यह चित्र देखिए- "बुजुर्गवार, जेबाअंदाम, नाजुक-खराम, गुलफाम, केचुललेट का धानी रंगा हुआ कुर्ता, उस पर रुपय्या गजवाली महीन शरबती कातीन, कमतुरई का चुस्त अंगरखा, गुलबदन का चूड़ीदार घुटन्ना पहने, बेसवाओं की तरह पटियां जमाए, इत्रे-उस्स लगाए, नुक्केदार माशा भर की नन्हीं सी टोपी आलपीन से अटकाए, हाथों में मेंहदी, पोर-पोर छल्ले, आंखों में सुरमे की तहरीर, छोटे पंजे का जर्द मखमली चढ़वां जूता जेबे-पा किए हुए एक अजीब लोच से कमर लचकाते फूंक-फूंक कर कदम रखते चले जाते थे।" सरशार इस तरह की चित्रात्मक भाषा लिखने में बेजोड़ थे। अपनी इसी विलक्षण और सहज भाषा में उन्होंने चरित्रों को जीवंत कर दिया है। मल्लिका के छोटे से उपन्यास 'पूर्णप्रकाश' में भी कहीं-कहीं पात्रों के शब्द चित्र उकड़े गए हैं। बालकृष्ण भट्ट ने भी इस तरह के जीवंत शब्द चित्र उकड़े हैं। लेकिन जहां वे युवती का चित्र खींचते हुए संस्कृतनिष्ठ हिंदी का प्रयोग करते हैं, वहीं एक पुरुष का चित्र बहुत सहज भाषा में पेश करते हैं। दोनों के उदाहरण देखिए-

1. यौवन चंद्रोदय की चांदनी, रति रसामृत की महानदी, कांति की कौमुदी, दमकती द्युति सौदामिनी, अनंग पहलवान के खेल की रंगशाला- पतले होंठ पद्मराग की तरह, दांत कुंद की कली की तरह, नासिका तिल के पुष्प की तरह...

2. उमर इसकी 40 के पार आ गई थी, दांत मुंह पर एक भी बाकी न बचे थे, तौ भी फेपले और खोड़हे मुंह में पान की बीड़ियां जमाए, सुरमे की धज्जियों से आंख रंगे, केसरिया चंदन का एक छोटा सा बिंदा माथे पर लगाए, चुननदार बालावर अंगा पहन, लखनऊ के बारीक काम की टोपी या कभी-कभी लट्टूदार पगड़ी बांध जब वह बाहर निकलता था तो मानो ब्रज का कन्हैया ही अपने को समझता था।

यह व्यक्ति चित्र शरसार के छम्मीजान जैसा ही मनोहारी और व्यंजक है। वास्तव में हिंदी के उपन्यासकारों ने भी अवसरानुकूल सहज और सुंदर भाषा का प्रयोग किया है लेकिन हिंदी उपन्यासों में ऐसे चित्र कम ही हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में उर्दू के चार प्रमुख गद्य लेखक थे- नजीर अहमद, शिबली नोमानी, मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद और शिबली नोमानी। इनके लेखन से उर्दू गद्य पूरी तरह व्यवस्थित हो गया। इनके अलावा मौलाना अल्लाफ हुसैन हाली ने भी गालिब की जीवनी (और आलोचना भी) 'यादगारे-गालिब' नाम से लिखी, लेकिन उनका गद्य गंभीर है। दूसरी तरफ उर्दू के उपन्यासों और फसानों का गद्य अधिक सरल और मनोरंजक है। इस दौर की एक और रचना है 'फसाना-ए-अजायब'। इसके लेखक हैं मिर्जा रजब अली बेग सुरूर। जिस समय यह फसाना लिखा गया उस समय उर्दू के दो केंद्र बन चुके थे- पहला दिल्ली स्कूल और दूसरा, लखनऊ स्कूल। भाषा के स्तर पर दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं। दिल्ली स्कूल के लेखकों की भाषा सपाट है और लखनऊ स्कूल के लेखकों की भाषा नफासत और नजाकत से भरी हुई। उसमें अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से वस्तु, घटना और चरित्र का वर्णन आम बात है। लखनऊ स्कूल की इस भाषा की स्पष्ट छाप सुरूर के फसाने पर दिखाई देती है। यह उर्दू के अच्छे जानकारों के दिमाग की बत्तियां गुलकर देती है, सामान्य उर्दू जानने वालों की तो बात ही जुदा है। फिर हिंदी वाले इसे क्या खाक समझेंगे!

उन्नीसवीं शताब्दी के उर्दू उपन्यासकारों में मो. सरफराज हुसैन, अब्दुल हलीम शरर और राशिदुल खैरी का भी विशेष महत्व है। दिल्ली के रहने वाले सरफराज हुसैन ने शहीदे-राना, बहारे-इश्क, सराबे-इश्क और खुमारे-इश्क जैसे उपन्यासों की रचना की। शरर ने भी शौकीन मलिका, मंसूर मोहना, फिरदौसे-बरीं, फलहे-उन्दलुस और अजीजे-मिन्न नामक उपन्यास लिखे। राशिदुल खैरी ने भी आमना का लाल, सैयदा का लाल, उरूसे-कर्बला, जौहरे-इस्मत, अंगूठी का राज, शामे-जिंदगी, सुब्हे-जिंदगी और बिनतुल वक्त आदि उपन्यासों की रचना की। सरफराज हुसैन ऐसे उपन्यासकार थे जिनका उल्लेख मिर्जा हादी 'रुसवा' के साथ किया जाता है। इससे साफ पता चलता है कि उनके उपन्यासों की भाषा में भी वही रंग था, जो रुसवा की भाषा में था। इसी तरह शरर और राशिदुल खैरी की भाषा का भी अपना अलग महत्व है।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदी-उर्दू भाषाएं, जिनका उत्स एक ही है, एक-दूसरे के निकट भी आ रही थीं और एक-दूसरे से दूर भी जा रही थीं। लेकिन सच्चाई यह भी है कि इस दौर के हिंदी-उर्दू उपन्यासों की भाषा में कई रंग मौजूद हैं। एक और बात यह भी है कि उर्दू-उपन्यासों की पद-रचना भले ही नफासत और नजाकत लिए हुए हो, किंतु उनमें वह देशज रंग उस तरह से नहीं आ पाया है जो खासतौर से 'देवरानी-जेठानी की कहानी' में दिखाई देता है। उर्दू गद्य का सौष्ठव बहुत जल्दी उरुज पर पहुंच गया, जबकि खड़ी बोली हिंदी धीरे-धीरे इस दिशा में बढ़ती रही। इस बात में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि देवकीनंदन खत्री जैसी कथा-भाषा उस दौर के किसी भी हिंदी उपन्यासकार के यहां नहीं दिखाई पड़ती। लेकिन हिंदी गद्य को संवारने में बाकी उपन्यासकारों की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। वास्तव में किसी भी दौर में एक जैसी भाषा में साहित्य नहीं लिखा जाता। लिखा भी नहीं जाना चाहिए, क्योंकि इससे भाषिक विविधता खत्म हो जाएगी। यह खुशी की बात है कि अपने प्रारंभिक दौर में ही हिंदी-उर्दू गद्य बहुरंगी हो गया था।



‘पीके’ : धर्म का समाजशास्त्र

सुभाष शर्मा

वर्ष 2014 के अंतिम सप्ताह में प्रसारित नई फिल्म ‘पीके’ शुरू से ही चर्चा और विवादों में पड़ गई। इसके निर्माता विधु विनोद चोपड़ा, निर्देशक राजकुमार हिरानी, नायक आमिर खान एवं नायिका अनुष्का शर्मा हैं। सबसे पहले ‘पीके’ के पोस्टर पर ही कुछ लोग बवाल मचाते हैं कि फिल्म अश्लील है क्योंकि नायक आमिर खान पूरी तरह नंगा है और उसके विशेष अंगों को एक रेडियो टुके है अर्थात् ‘नैतिक पुलिस’ इस अश्लीलता का विरोध करती है किंतु जब यह मामला न्यायालय में दायर किया गया, तो उसे खारिज कर दिया गया कि उसमें अश्लीलता नहीं है और साहित्य-कला में थोड़ा-बहुत खुलापन होगा ही। फिल्म रिलीज होने पर हिंदू धर्म के महान धर्माचार्य एवं पुरी के शंकराचार्य तथा विश्व हिंदू परिषद ने विवाद की शुरुआत की (बयान से लेकर टी. वी. चैनलों पर चर्चा-परिचर्चा तक हुई) कि यह फिल्म हिंदू धर्म का उपहास करती है, कि यह हिंदू देवी-देवताओं की निंदा करती है, कि यह हिंदू धर्म-विरोधी फिल्म है, कि इसे बाहर से धन मिला है हिंदू धर्म को बदनाम करने के लिए वगैरह, वगैरह। दूसरी ओर खबर थी कि मात्र चौदह दिनों में ही इसने तीन सौ करोड़ रुपये से ज्यादा कमा लिए। इसके बाद कुछ मुस्लिम उलेमाओं/धर्मगुरुओं ने भी इसकी निंदा की कि यह सभी धर्मों की खिल्ली उड़ाती है जिससे लोगों की आस्था को ठेस पहुंचती है। इसलिए इस पर रोक लगनी चाहिए। कुछ विरोधी जोर से चिल्लाए, दूसरों ने धीमे से प्रतिरोध किया मगर इस विवाद के फलस्वरूप भी ज्यादा लोगों ने यह फिल्म देखी।

इस फिल्म की कथा-पटकथा पर थोड़ी चर्चा कर लेना समीचीन होगा। एक ‘एलियन’ या परिग्रही (दूसरे ग्रह या ‘गोला’ का निवासी), जिसका किरदार आमिर खान निभा रहे हैं, नंगे बदन राजस्थान के एक इलाके में आता है और उसके गले में एक चमकती बड़ी ताबीज या लॉकेटनुमा ‘रिमोट’ (नीले रंग का) है जो उसके ग्रह (गोला) से जुड़ा है और उसी के माध्यम से कनेक्शन पाकर वह वापस लौट सकता है। मगर जब उसे राजस्थान का एक हड़ा-कड़ा मुच्छड़ आदमी देखता है, तो ललचाकर उसके गले से चेन सहित रिमोट तोड़ लेता है। आमिर खान उसका पीछा करता है, मगर वह धीमे चलती मालगाड़ी में चढ़ जाता है और उसका रेडियो गिरकर नायक ‘पीके’ के हाथ में आ जाता है। अब ‘पीके’ उसे अपने सामने रखकर चलता है। दरअसल उसका कोई नाम नहीं होता, किंतु पृथ्वी ग्रह के लोग उसकी अजीब बातों और हरकतों के कारण उसे ‘पीके’ (शराब पिए हुए) कहते हैं। इस प्रकार एक ‘बाहरी’ या ‘अन्य’ को ‘भीतरी’ लोग काफी शंका की दृष्टि से देखते हैं, उसे अजूबा मानते हैं, उसे अपने से निम्नतर समझते हैं, उसे बुरी आदतों वाला (नसेड़ी, शराबी)

समझते हैं और इसलिए उसे समाज के लिए हानिकारक, अप्रासंगिक एवं अनैतिक भी समझते हैं। इस प्रकार, समाजशास्त्र की भाषा में, इस फिल्म में 'हम' बनाम 'वे' का माहौल यत्र-तत्र-सर्वत्र बनता रहता है : कभी 'काल्पनिक या देखी-मानी गई (परसीव्ड) भिन्नता', तो कभी 'वास्तविक भिन्नता' के रूप मिलते हैं। मगर कालांतर में विभिन्न स्थितियों एवं परिस्थितियों में भिन्नता' (डिफरेंस) अकसर 'विरोध' (अपोजीशन) में बदल जाती है और विरोध अकसर 'टकराव' (क्लैश) में बदल जाता है तथा टकराव अंततः 'शत्रुता' (एनमिटी) में परिणत हो जाता है। इस प्रकार भिन्नता, विरोध, टकराव और शत्रुता जैसी सामाजिक स्थितियां क्रमशः बदतर स्वरूप लेती जाती है और इसके फलस्वरूप सामाजिक विभाजन तेजी से बढ़ जाता है। उल्लेखनीय है कि हर भिन्नता भेदभाव नहीं होती, क्योंकि भिन्नता में भी एकता होती है और एकता में भी भिन्नता होती है, इसलिए हर भिन्नता को विरोध, टकराव और शत्रुता में नहीं बदलना चाहिए अन्यथा सामाजिक ताना-बाना छिन्न-भिन्न हो सकता है।

खैर... दूसरी तरफ पांच हजार कि.मी. दूर बेल्जियम में नायिका जगत जननी उर्फ जग्गू (अनुष्का शर्मा) जनसंचार (मास कम्युनिकेशन) की पढ़ाई कर रही है। एक दिन वह थियेटर में साइकिल चलाती हुई एक कार्यक्रम देखने जाती है जिसमें हिंदी के प्रसिद्ध कवि हरिवंश राय 'बच्चन' की कविताओं का पाठ अमिताभ बच्चन करने वाले हैं किंतु सारी टिकटें बिक चुकी हैं और वह टिकट न पाने पर मायूस हो जाती है तभी उसे थोड़ी दूर पर एक एशियाई मूल का व्यक्ति उस कार्यक्रम का टिकट ब्लैक करता दिखाई देता है। वह उसके पास टिकट पाने के लिए जाती है किंतु वह चालीस डॉलर का टिकट एक सौ डॉलर में बेच रहा है मगर उसके पास इतने डॉलर नहीं हैं। तभी दूसरी तरफ से सरफराज (सुशांत सिंह राजपूत, जो 'पवित्र रिश्ता' नामक धारावाहिक में मानव का किरदार निभाते हुए, जाना-पहचाना नाम हो चुका है) नामक पाकिस्तानी युवक भी टिकट खरीदने आता है और वह भी इतनी महंगी टिकट नहीं खरीद सकता। जब जगत जननी (जग्गू) और सरफराज एक-दूसरे का परिचय प्राप्त करते हैं, तो सरफराज को पाकिस्तान का मूल निवासी जानकर जग्गू में शुरू में संकुचन जागृत होता है। यह गौरतलब है कि अमिताभ जैसे सदी के महानायक पाकिस्तान में भी उतने लोकप्रिय हैं जितने भारत में, सो उनका कार्यक्रम सरफराज भी उसी उत्सुकता और रुचि के साथ देखना-सुनना चाहता है जितना जग्गू। फिर दोनों के पास अलग-अलग टिकट की पर्याप्त राशि न होने पर वे तय करते हैं कि दोनों के डॉलर मिलाकर टिकट खरीद ली जाए जिससे बारी-बारी से दोनों उस कार्यक्रम का लुत्फ उठा सकें। तब दोनों ब्लैक में टिकट बेचने वाले एशियाई व्यक्ति के पास जाते हैं मगर दोनों के पास कुल मिलाकर छियानबे डॉलर हैं जबकि टिकट की बिक्री कीमत एक सौ डॉलर है। जग्गू उससे कहती है कि 'भारतीय' (राष्ट्रवाद) होने के नाते वह चार डॉलर की रियायत कर दे, मगर वह ऐसा नहीं करता। थोड़ी देर में एक बूढ़ा भारतीय वहां आता है और निराश जग्गू से उसकी निराशा का कारण पूछता है। वह टिकट न मिल पाने और ब्लैक में एक सौ डॉलर में टिकट बिकने की बात कहती है, तब वह बूढ़ा कहता है- 'इन्हीं लोगों के कारण इंडिया की बदनामी होती है। रूको! मैं टिकट की व्यवस्था करता हूं।' अब सरफराज और जग्गू समझते हैं कि वह बूढ़ा भारतीय चार डॉलर की मदद करके टिकट खरीदवा देगा। मगर इसके विपरीत वह टिकट खरीदकर स्वयं कार्यक्रम देखने हेतु थियेटर में प्रवेश करने लगता है, तब उसे पकड़कर मारने के लिए सरफराज

और जग्गू दौड़ते हैं, मगर वह सुरक्षा बल को पुकारते हुए भीतर प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार वे दूसरे 'भारतीय' से भी धोखा खाते हैं। वे कार्यक्रम खत्म होने का इंतजार करते हैं और बूढ़े भारतीय के बाहर निकलने पर उसका पीछा करते हुए अंततः पकड़ लेते हैं और उसकी लानत-मलामत करते हैं। इस बीच सरफराज जग्गू को अपनी गजलें सुनाता है और उसे आकर्षित करने में सफल हो जाता है।

इसके बाद जग्गू अपने पापा को फोन करती है कि वह सरफराज से प्रेम करती है और शादी करना चाहती है। उसे पाकिस्तान का मूल निवासी और मुस्लिम जानकर उसके पिता चिंतित हो जाते हैं और अपने पारिवारिक गुरु तपस्वीजी (सौरभ शुक्ला) की शरण में समाधान हेतु जाते हैं। तपस्वीजी 'प्रभु तथा प्रदर्शित करें' कहकर उसे फोन पर समझाते हैं कि ऐसी शादी सफल नहीं होगी क्योंकि यह दो भिन्न-भिन्न मुल्कों और दो धर्मों का मामला है। सो जग्गू के पिता अपनी बेटी को ऐसा अंतर-धार्मिक प्रेम-विवाह करने से मना करते हैं। उधर जग्गू और सरफराज प्रेम-विवाह करना चाहते हैं और एक दिन विवाह-निबंधक के कार्यालय में शादी निबंधित करने की बात तय कर लेते हैं। यहां निबंधन कार्यालय जानबूझकर दिखाया गया है जिससे जग्गू के हिंदू धर्म का मंदिर भी न हो और सरफराज के इस्लाम धर्म की मस्जिद भी न हो। मगर वहां नियत समय पर सरफराज नहीं पहुंचता और थोड़ी देर में एक बच्चे के जरिए उसे सरफराज का पत्र मिलता है कि उसके घर वाले इस अंतर-धार्मिक विवाह पर तैयार नहीं हैं। सो वह अब उससे संपर्क न करे। वह रोकर चली जाती है। फिर अंततः वह भारत (नई दिल्ली) लौटती है और एक टी.वी. चैनल में रिपोर्टर का काम करने लगती है।

एक दिन जग्गू एक मंदिर में जाती है, वहां 'पीके' दानपात्र से रुपये 'रिफंड' के रूप में निकाल लेता है (क्योंकि उसका 'पेंडिंग काम' नहीं हुआ) और उसने दैनिक जीवन में पाया था कि जिस कागज पर गांधीजी की फोटो है, वह कीमती होता है और उससे कोई भी चीज खरीदी जा सकती है, इसलिए वह गांधी के फोटो लगे तमाम पोस्टर भी इकट्ठा करने लगा था मगर उसकी कोई कीमत नहीं मानी गई। मंदिर के पुजारी, कर्मी आदि उसे पकड़कर मारने दौड़ते हैं, अतः वह अपने दोनों गालों पर देवी-देवताओं के स्टिकर चिपका लेता है, जिसे देखकर कोई उसके गाल पर थप्पड़ नहीं मारता। फिर मामले को उलझता देखकर जग्गू दानपात्र में अपना पर्स डाल देती है और बताती है कि 'पीके' उसका पर्स निकालने की कोशिश कर रहा था। फिर दानपात्र खोला जाता है, उसमें उसका पर्स मिलता है और जब पुजारी पर्स खोलता है तो उसमें काफी रुपये पाता है। नायिका जग्गू अपने पांच हजार रुपये मांगती है, मगर पुजारी उसे दान मानकर नहीं लौटाता। इस घटना के कारण जग्गू 'पीके' का विश्वास जीत लेती है। जग्गू 'पीके' के अजूबेपन से काफी प्रभावित होती है और उसे टी.वी. चैनल से प्रसारित करना चाहती है। एक दिन जग्गू के बॉस (बोमन ईरानी) एक कुत्ते के पिल्ले के मानसिक रोग से ग्रस्त होने और अवसाद में चले जाने की बात को बढ़ा-चढ़ाकर टी.वी. चैनल का 'ब्रेकिंग न्यूज' बनाते हैं। इसके बरक्स जग्गू एतराज कर एलियन 'पीके' की सच्ची और आश्चर्यजनक घटना को ब्रेकिंग न्यूज बनाना चाहती है क्योंकि उसका हाव-भाव और क्रिया-कलाप असामान्य दिखता है। मगर चैनल का बॉस यह कहकर इनकार कर देता है कि पहले उसने धार्मिक मामलों में एक खबर प्रसारित की थी, तो धर्म के ध्वजवाहकों और ठेकेदारों ने उसके कमर के निचले

हिस्से पर त्रिशूल से वार किया था जिसका दाग अभी भी मौजूद है। खैर... 'पीके' को एक राजस्थानी बैंड बाजा (लोक नृत्य का अद्भुत दल) का सरदार (संजय दत्त) उसे याददाश्त खो जाने वाला समझकर एक वेश्यालय में ले जाता है। जब वह वेश्या उसका हाथ पकड़कर प्यार का इजहार करती है, तो 'पीके' उस वेश्या को 'सिस्टर' कहता है, इस पर वह बिफर जाती है। मगर वहां मात्र छः घंटे रहकर 'पीके' भोजपुरी मिश्रित हिंदी सीख जाता है अर्थात् वह भोजपुरीभाषी वेश्या मूलतः बिहार की है। 'पीके' एक सरदार को बताता है कि वह दूसरे गोले से आया है और उसका रिमोट उस जैसे एक हट्टे-कट्टे मुच्छड़ ने छीन लिया है : 'हम घर जाना चाहता हूं मगर रिमोट के बिना हमारा गोला का आदमी हमको लेने नहीं आएगा।'

'पीके' अपना रिमोट पाने के लिए दर-दर भटकता है। वह एक मेले में जाता है जहां भगवान की तमाम मूर्तियां बिक रही हैं। बीस रुपये से लेकर पांच सौ रुपये तक। वह, यह बताए जाने पर कि बीस रुपये वाला भगवान भी काम करता है, उसे खरीद लेता है। फिर वह उस मूर्ति से अपना रिमोट वापस देने की विनती करता है मगर कोई फायदा नहीं। फिर वह बड़े मंदिर में रिमोट प्राप्ति हेतु प्रार्थना करने जाता है और काफी धक्का-मुक्की के बाद नारियल-धूप-अगरबत्ती-लड्डू आदि से पूजा करता है। बाहर आने पर उसका चप्पल नहीं मिलता। फिर वह किसी दर्शनार्थी से पूछता है। वह बताता है कि मंदिर के बाहर जूता-चप्पल खोना आम बात है और तुम भी किसी का जूता-चप्पल पहन लो। तब 'पीके' एक जोड़ी खड़ाऊं पहनकर वापस चल देता है। मगर उसका रिमोट उसे नहीं मिला। फिर वह उससे भी बड़े मंदिर में पूजा करने जाता है और इस बार अपनी चप्पल एक रेलिंग में सिकड़ी से बांधकर भीतर जाता है। यह हमारे पूजा-स्थलों पर हो रही धांधली पर करारा तमाचा है। वह रिमोट खोने (मंडावा, राजस्थान में) की सूचना दूरस्थ पुलिस थाने (दिल्ली) में लिखवाता है, दूसरी बार जब भगवान उसे खोजकर नहीं देते, तो वह भगवान के खोने की भी सूचना थाने में लिखाता है तथा उनके लापता होने का पोस्टर जगह-जगह साटता है। पुलिस के नाम-पता, उम्र, सूरत आदि पूछने पर वह छोटी-सी मूर्ति दिखाकर उसका हुलिया बताता है। सिर्फ उसका आकार-प्रकार इससे बड़ा बताता है। थाने का पुलिस अफसर उसे 'पीके आए हो' कहकर दफा कर देता है। इसके बाद वह नारियल-धूप-अगरबत्ती-लड्डू आदि की पूजा की थाली लेकर चर्च में जाता है और जोर से नारियल फोड़ता है, तो उसकी आवाज से चर्च के भवन के दर्जनों कबूतर फुर से उड़ जाते हैं। वहां का पुजारी नारियल, धूप-अगरबत्ती आदि की जगह 'शराब' (शराब) से चर्च में प्रार्थना करने की बात बताता है। इस पर वह टिप्पणी करता है : 'शायद भगवान नारियल का पानी पीकर बोर हो गया है।' चर्च में उसे सफेद परिधान में सजी हुई युवतियां दिखाई देती हैं, वह उनसे कहता है - 'क्या आप सबके पति एक साथ मर गए?' ऐसा इसलिए क्योंकि हिंदू विधवाओं को उसने सफेद साड़ी में पहले देखा था। विवाह के लिए आई नवयुवतियां इस पर आपत्ति जताती हैं। फिर उसे यह देखकर आश्चर्य होता है कि मंदिर में प्रवेश के पहले पूजा करने वाला अपने जूते-चप्पल बाहर निकाल देता है, मगर चर्च में सारे पूजा करने वाले जूता-चप्पल पहने हुए प्रवेश करते हैं!

फिर वह शराब की बोतलें खरीदकर एक मस्जिद में जाता है, शराब देखकर मुस्लिम धर्मावलंबी उसे मारने-पीटने लगते हैं, सो उसकी बोतलें जमीन पर गिरकर टूट-फूट जाती हैं और वह भागकर एक बस में चढ़ जाता है। इस प्रकार 'पीके' सभी पूजा घरों में कई चीजें समान रूप से देखता है

कि सबके अपने-अपने भगवान हैं, कि उनके अलग-अलग रूप और परिधान हैं, कि भगवान और भक्त (पूजा करने वाले) के बीच कोई मध्यस्थ (बिचौलिया) है। इसलिए 'पीके' व्यंग्य करके कहता है - 'भगवान ने आदमी को बनाया कि आदमी ने भगवान को? यदि भगवान सीधे सुनते हैं तो मूर्ति की क्या जरूरत?'

'पीके' के रहने का ठिकाना नहीं है, इसलिए उसने यह तरकीब निकाल ली है कि कानून तोड़ते हुए किसी सार्वजनिक जगह पर वह पेशाब करता है और पुलिस उसे पकड़कर हवालात में बंद कर देती है। वही उसका रात का ठिकाना हो जाता है। जग्गू उससे मिलने थाने जाती है, मगर छोटी-सी मुलाकात के लिए पुलिस दारोगा उससे पांच सौ रुपये रिश्वत लेता है और जल्दी ही समय खत्म हो जाता है। बाहर आने पर कोई नई जानकारी हेतु वह फिर जग्गू से मिलना चाहती है और मजबूरन दुबारा पांच सौ रुपये रिश्वत के रूप में पुलिस अधिकारी को देती है। थोड़ी देर में 'पीके' और जग्गू बाहर आ जाते हैं और एक कॉलेज के गणित विभाग के परिसर के अंदर घुसते हैं। 'पीके' एक पीपल के पेड़ के नीचे एक पत्थर रखता है और उसके ऊपर दूसरा पत्थर (शिवलिंगनुमा) रखता है और उस पर सिंदूर-सा रंग लगा देता है तथा नीचे कुछ छुट्टे पैसे रख देता है उस दौरान परीक्षाएं चल रही हैं। कई परीक्षार्थी उस पत्थर को देवता समझकर साष्टांग प्रणाम करते हैं और पैसे भी चढ़ाते हैं। दूसरी ओर थोड़ी दूर पर एक चाय बेचने वाला कड़ी मेहनत करके चाय बेचने का धंधा अस्थायी रूप से, बिना किसी दुकान के, फुटपाथ पर करता है। सो नायक 'पीके' दोनों की तुलना करता है कि चाय बनाने वाला मेहनत करके पैसे कमाता है (श्रम की महत्ता) जबकि धर्म के नाम पर पोंगापंथी पुजारी पाखंड और अंधविश्वास कायम करके पैसा कमाता है जो कि श्रम की अवमानना है। इसके अलावा पूजास्थल पर ग्राहक (दर्शनार्थी) झुकता है जबकि चाय की छोटी-सी दुकान पर चाय विक्रेता झुकता है इसलिए वह बहुत सटीक और मार्मिक टिप्पणी करता है : 'सारा खेल डर का है।' तीसरे, धर्म में सवाल नहीं उठाया जाता बल्कि सब कुछ आंख-मूंदकर स्वीकार कर लिया जाता है। चौथे, सब अपने-अपने भगवान (गॉड) से गलत उत्तर पाते हैं क्योंकि सवाल हमेशा 'रांग नंबर' पर होता है। मजे की बात यह है कि अंततः चिरौरी-विनती करने पर जग्गू अपने बॉस को भरोसे में लेने में सफल हो जाती है कि 'पीके' का ब्रेकिंग-न्यूज बनाया जाए। 'पीके' तैयार हो जाता है और उस टी.वी. चैनल पर अपने खोए हुए रिमोट के बारे में जानकारी देने की बात करता है और धर्म के नाम पर पाखंड की भी चर्चा करता है और धर्मगुरुओं द्वारा सामान (किताबें, दवाएं, सौंदर्य सामग्रियां) बेचने (बाबा रामदेव) या सवाल-जवाब वाली शैली वाले धर्मगुरु (निर्मल बाबा) की आलोचना करता है क्योंकि उसने मंदिर, मस्जिद, चर्च आदि में पूजा की मगर कोई सफलता नहीं मिली। उससे तपस्वीजी के भक्त प्रभावित होते हैं और जगह-जगह 'रांग नंबर' की आवाज बाबाओं के खिलाफ उठने लगती है।

टी.वी. चैनल पर 'पीके' को देखकर राजस्थानी बैंड का सरदार (संजय दत्त) उसके रिमोट की खोज में जुट जाता है और उस व्यक्ति से मुलाकात करता है जिसने उसका रिमोट छीन लिया था। इस पर वह मुच्छड़ यह राज खोलता है कि उसने वह रिमोट तपस्वीजी को चालीस हजार रूपए में बेच दिया। संजय दत्त इसकी खबर को देता है और रेलगाड़ी से अगले दिन दिल्ली आने की बात करता है। 'पीके' दिल्ली रेलवे स्टेशन पर उसका इंतजार करता है, मगर प्लेटफार्म पर पहुंचते-पहुंचते

रेलगाड़ी में बम विस्फोट होता है जिसमें सैकड़ों लोग मारे जाते हैं जिसमें संजय दत्त और रिमोट छीनने वाला मुच्छड़ आदमी भी शामिल है। तपस्वीजी की प्रवचन सभा में एक दिन 'पीके' भी आता है और वहां उनसे सवाल पूछता है। तपस्वीजी उसके रिमोट को 'स्वयंभू' का मनका कहकर जनता को प्रभावित करते हैं।

उसी तरह एक अन्य प्रसंग है कि किसी हिंदू जोड़े की शादी धार्मिक रीति-रिवाज से आग के चारों ओर सात फेरे के रूप में संपन्न हो रही थी, 'पीके' उसे देखकर उसके पास जाता है और वेश्या के हाथ के स्पर्श को याद कर उस युवती का हाथ पकड़कर भागना चाहता है मगर दूल्हा अपनी तलवार निकालकर उसे खदेड़ता है। इस प्रकार वह नहीं समझ पाता है कि वेश्या का हाथ पकड़ने और इस विवाह करने वाली युवती का हाथ पकड़ने में क्या फर्क है? एक अन्य प्रसंग में वह अस्पताल में जाता है और नंगे बच्चों को गोद में उठाकर पूछता है - 'ठप्पा कहां है?' यह अत्यंत प्रासंगिक है क्योंकि पिछले दिनों एक पार्टी के सांसद ने बयान दिया था कि हर आदमी मुसलमान पैदा होता है, बाद में वह हिंदू, सिक्ख, ईसाई आदि बनता है। 'पीके' ने तमाम मूर्तियों और पूजास्थलों से अपने सवाल का जवाब मांगा, किंतु कोई जवाब नहीं मिला। इसलिए वह कहता है कि वह 'कन्फ्यूजिया' गया है क्योंकि धर्म मैनेजर के माध्यम से ही चलाया जाता है और भक्त सीधे भगवान से कनेक्शन नहीं जोड़ पाता, इसलिए हमेशा 'रांग नंबर' लगता है। वह तपस्वी जी से पूछता है कि यदि आप हवा से सोना निकालते हैं तो देश के लिए सोना क्यों नहीं निकालते और हमसे चंदा क्यों मांगते हैं? आप कहते हैं- 'गाय को चारा खिलाओ, नौकरी मिलेगी।'

'पीके' फिल्म दूसरे ग्रह (गोला) से आए एक परिग्रही (एलियन की नजर से धरती पर, विशेषकर भारत की धरती पर रहने वाले नाना प्रकार के लोगों को खुले व नए नजरिए से देखने का उपक्रम है। यह अंशतः एक साइंस फिक्शन है कि एलियन धरती पर आ गया है। यूं 'लियानार्दो दा विंची' दो वर्षों तक लापता था। उसने कोई औपचारिक पढ़ाई-लिखाई भी नहीं की थी क्योंकि वह अवैध मां-बाप की संतान था और तब के कट्टरपंथी ईसाई धर्मगुरुओं के आदेश को आस्था का चरम मानने वाले विद्यालयों ने उसका प्रवेश नहीं लिया किंतु वह कालांतर में महान व्यक्तित्व सिद्ध हुए और उसकी चित्रकला 'मोनालिसा' विश्व की अप्रतिम धरोहर सिद्ध हुई। दूसरी ओर इसमें यथार्थ भी है कि विभिन्न धर्मों के ठेकेदारों के कर्मकांडों के जरिए पाखंड, अंधविश्वास और अमानवीयता को प्रतिष्ठित किया है तथा भोले-भाले लोगों का अपमान और तिरस्कार किया है। ये मध्यस्थ आज लोगों का शोषण करते हैं और अपनी झोली भरते हैं तथा ऐशो-आराम फरमाते हैं। तपस्वी उक्त 'पीके' के रिमोट को स्वयंभू का टूटा 'मनका' कहकर प्रचारित करते हैं और उसके जरिए आम हिंदुओं की भावनाओं का धार्मिक दोहन करते हैं। चूंकि वह रिमोट चमकने वाला है तथा अजूबा है, इसलिए उसे पहली बार देखकर लोग चकित और भ्रमित होते हैं। जहां भीषण गरीबी और अशिक्षा हो तथा वैज्ञानिक चेतना का अभाव हो, वहां कोई धर्मगुरु अपना खोटा सिक्का चलाने में सफल हो जाता है क्योंकि विभिन्न धर्मों में सवाल नहीं पूछे जाते, भले लंबे अरसे के बाद उनकी पोल खुले। इस प्रकार धर्म का धंधा धुंधला आधार चलता रहा है। 'पीके' सभी प्रमुख धर्मों के पाखंड और बाह्याडंबर की खिल्ली उड़ाता है। यह फिल्म धार्मिक संकीर्णता और सांप्रदायिकता का पर्दाफाश करती है, इसलिए उसका विरोध करने का कोई औचित्य नहीं है। ऐसा धर्म का भय से जोड़ने के कारण हो रहा है।

वह दो बार उस भय को सीधे चुनौती देता है : पहले, मंदिर के दानपात्र से रुपये निकालकर और दूसरे, भिखारी के भिक्षापात्र से दो बार पैसे निकालकर (क्योंकि दानपुण्य को कोई चुराना या छीनना नहीं चाहता) फिर यह भी दिखाने में समर्थ है कि पग-पग पर पैसे बड़ी चीज सिद्ध होता है तथा रिश्वत के बिना कोई काम नहीं होता। इतना ही नहीं, सत्य, अहिंसा और शांति के पुजारी महात्मा गांधी के देश में चारों ओर हिंसा, बेईमानी और रिश्वतखोरी है और उन्हें सिर्फ रुपयों के नोटों में कैद कर दिया गया है, उनके कार्यों और जीवनदर्शन से हम अब शिक्षा नहीं ग्रहण करते हैं। जहां तक अश्लीलता का सवाल है, उसका आरोप इस फिल्म पर नहीं लग सकता क्योंकि ला-साहित्य आदि में सामाजिक रूढ़ियां और कुरीतियां हावी नहीं हो सकतीं अन्यथा खजुराहो के मंदिर से लेकर अजंता-एलोरा की गुफाओं में विभिन्न मूर्तियों के नग्न चित्रों का क्या होगा? पूर्व में गांधीजी ने खजुराहो के मंदिर की नग्न मूर्तियों को ढकने के फूहड़ सुझाव का विरोध किया था। फिर कैबरे जैसे भोंडे नृत्य हमारे देश में भी होते रहते हैं तथा नगा साधु और दिगंबर जैन मुनि निर्वस्त्र घूमते हैं। इसके अलावा यह तथ्य भी रेखांकित करने योग्य है कि भारत सरकार के अधीन फिल्म सेंसर बोर्ड कार्यरत है और उसकी अनापत्ति मिलने के बाद ही फिल्में प्रसारित होती हैं, इसलिए उस सेंसर बोर्ड से इतर कोई भक्ति, समूह, दल, धार्मिक या अन्य संस्था, फिल्मों की अश्लीलता आदि के बारे में निर्णय नहीं ले सकती।

इस फिल्म का वृत्तांत और अंतर्पाठ लोकतांत्रिक समाज में स्वतंत्र विचारों और विवेकसम्मत कार्यकलापों के निमित्त दैनिक जीवन से जुड़ी तमाम सामाजिक कुरूपताओं और विद्रूपताओं पर मार्मिक तरीके से पग-पग पर सवालिया निशान लगाता है : नाना प्रकार की मूर्तियां, मंदिर के बाहर जूते-चप्पल की चोरी, विभिन्न धर्मों के अलग-अलग वेशधारी पुजारी, उनकी अलग-अलग पूजा-सामग्री, पुलिस की संवेदनहीनता तथा रिश्वतखोरी, धर्म का भय, भगवान और भक्त के बीच मौजूद बिचौलिया-बाबा का गोरखधंधा, मनुष्य के मनसा-वाचा-कर्मणा आयामों में विरोधाभास, विभिन्न धर्मावलंबियों की विभिन्न पोशाकें, एक ही पोशाक के कई विरोधाभासी अर्थ, पोशाक के कारण भेदभाव, ग्रामीण राजस्थान से दिल्ली महानगर तक चोरी, झूठ, लालच, धर्माधता और अमानवीयता का आलम। 'पीके' का मुख्य संदेश यह है कि दुःखी-पीड़ित लोग अपनी समस्याओं का गलत उत्तर पाते हैं क्योंकि वे 'गलत नंबर' लगाते हैं। नायक टी.वी. चैनल पर तपस्वीजी की भविष्यवाणी को गलत सिद्ध करता है कि सरफराज ने जग्गू को धोखा दिया बल्कि असलियत यह है कि सरफराज को किसी दूसरे (जग्गू का नहीं) का खत मिला कि वह सरफराज से शादी नहीं करेगी और जग्गू को किसी अन्य (सरफराज का नहीं) का खत मिला कि वह जग्गू से शादी नहीं करेगा। यह पर्दाफाश तर्क का कुतर्क पर, विवेक का धर्माधता पर, सत्य का भ्रम पर, विजय का सूचक है। सचाई जानने पर जग्गू के पिता उसके अंतर-धार्मिक विवाह के प्रस्ताव पर सहमत हो जाते हैं और जिस बेटी पर वह शर्मिंदा होने लगे थे, उस पर पुनः गर्व करते हैं। फिर जग्गू 'पीके' नामक ग्रंथ की रचना करती हैं। यहां उल्लेखनीय है कि आज जब समाज में वर्ग, धर्म, जाति, संप्रदाय, भाषा, क्षेत्र आदि के आधार पर विभाजक शक्तियां हावी हैं, तो 'पीके' फिल्म ने कबीर की तरह हर धर्म-संप्रदाय की कुरीतियों और धर्माधता की खुली निंदा करने का सराहनीय साहस किया है। वह धर्म के बाहर की विडंबनाओं पर भी कटाक्ष करता है : जैसे, कोई युवा कामसूत्र (या अन्य) कंडोम (निरोध) लेकर चलने में शरमाता

है जबकि विवाह करके सुहागरात मनाने के लिए वह बेंडबाजा बजवाता है, कानून के विरुद्ध होने पर भी सार्वजनिक स्थलों पर पेशाब करता है, अपरिचित का फोन आने पर कोई गलत सूचना (किसी मरीज के मरने की झूठी खबर) देता है, कोई फाइवस्टार होटल में खाने की तमन्ना के कारण पैसा कम पड़ने पर अपने मरीज के ऑपरेशन में पैसे कम पड़ने का झूठ बोलता है, कोई दूसरे की कीमती चीज देखकर छीन लेता है, कोई आतंकी रेलगाड़ी में बैठे यात्रियों को मारने हेतु बम-विस्फोट करता है, श्रम की प्रतिष्ठा को नकारते हुए देवी-देवताओं की मनौती से सफलता की कामना की जाती है आदि। फिल्म के अंतिम भाग में 'पीके' एक कविता पढ़ता है : 'लव इज भेस्ट ऑफ टाइम/आई लव दिस भेस्ट ऑफ टाइम।' यहां 'वेस्ट' का उच्चारण 'भेस्ट' किया गया है क्योंकि बिहार में प्रायः अंग्रेजी के 'वी' अक्षर को 'भी' उच्चारित किया जाता है।

मगर इस फिल्म में कुछ खामियां भी हैं- जैसे- पाकिस्तानी युवक सरफराज को पूर्णतः शरीफ दिखाया गया है, पाकिस्तानी दूतावास में सारे असफर-कर्मचारी भारत की जग्गू के फोन (सरफराज के लिए) का बेसब्री से इंतजार करते दिखाए गए हैं आदि, जबकि पाकिस्तान की ओर से सीमा पर बराबर बमबारी होती है और तालिबान को सत्ता का समर्थन प्राप्त रहता है तथा नागरिक उसका खुला विरोध नहीं करते। दूसरी ओर बेल्जियम में ब्लैक टिकट बेचने वाले भारतीय युवक और बूढ़े भारतीय दोनों को नकारात्मक रूप में दिखाया गया है जबकि सच्चाई यह है कि ज्यादातर मामलों में पाकिस्तानी और बांग्लादेशी युवक ही योरोप-अमरीका में गलत कार्य करते पकड़े गए हैं और उनके पासपोर्ट को वह अहमियत नहीं दी जाती, जो भारतीय पासपोर्ट को दी जाती है तीसरे, 'पीके' जैसा परिग्रही दूसरे ग्रह से भारत के रेगिस्तान वाले ग्रामीण राजस्थान के एक इलाके (मंडावा) में उतरता है मगर वह राजस्थानी भाषा नहीं सीखता बल्कि एक राजस्थानी बेंडबाजा वाले के जरिए वेश्यालय में पहुंचकर एक स्त्री का हाथ पकड़कर महज छः घंटे में भोजपुरी भाषा सीखता है। यह सामान्यतः मानने योग्य नहीं है क्योंकि कोई व्यक्ति किसी विदेशी भाषा को महज छः घंटे में नहीं सीख सकता क्योंकि भाषा एक सामाजिक संचार-माध्यम होती है जिसकी प्रक्रिया देर तक और दूर तक चलती है। यद्यपि प्रेम के जरिए कोई नई भाषा जल्दी सीखी जा सकती है, मगर वेश्यालय (जिसमें वासना का बाहुल्य होता है) को प्रेम का प्रतिनिधित्व नहीं माना जा सकता। यूं फिल्म की आर्थिक-वाणिज्यिक सफलता के लिए भोजपुरी भाषा को अपनाना ज्यादा कारगर है क्योंकि यह भाषा भारत में कई करोड़ लोगों द्वारा बोली जाती है और मारीशस, फिजी, गुयाना, त्रिनिदाद, हॉलैंड आदि कई देशों में लाखों लोग भोजपुरी बोलते-जानते हैं। चौथे, इस फिल्म में कहीं-कहीं या तो अयथार्थ है अथवा अति यथार्थ है जैसे- नायक 'पीके' भी ज्योतिषियों की तरह भविष्यवाणी करता है। उदाहरणार्थ- जब सरदारजी उससे पांच सौ रुपये ऑपरेशन कराने हेतु मांगते हैं और जग्गू कहती है कि वह उसे (पीके को) बेवकूफ बना गया, तो पीके बताता है कि वह सरदार 75 वर्ष पूरा होने पर अपनी पत्नी को एक पंचसितारा होटल में खाना खिलाने लाया है और आइसक्रीम की फरमाइस के कारण पैसे कम पड़ गए। जग्गू इसे चेक करने पर सही पाती है। इसी प्रकार वह तपस्वीजी को चुनौती देता है कि जग्गू-सरफराज के बाबत उसकी (तपस्वीजी की) भविष्यवाणी गलत थी क्योंकि सरफराज ने शादी न करने वाला खत लिखा ही नहीं था। सरफराज को फोन करने पर यह बात सही निकलती है कि उसने खत नहीं लिखा था। यदि भविष्यकथन के जरिए ऐसा सरलीकरण नहीं किया जाता, तो फिल्म

का संदेश ज्यादा विश्वसनीय, गहन और व्यापक होता। सरफराज और जग्गू के प्रेम प्रसंग को अंत तक त्रासदीपूर्ण बनाना ज्यादा महत्वपूर्ण होता और तब फिल्म का कलात्मक ग्राफ काफी ऊपर उठ जाता। पांचवें, शंकर की भूमिका निभाने वाले एक किरदार को 'पीके' काफी दूर तक (शौचालय से गलियों, छतों आदि तक) खदेड़ता है अपनी समस्या के हल के लिए, जो अतिनाटकीयता और अविश्वसनीयता का चरम उदाहरण बन जाता है। छठे, फिल्म के अंतिम भाग में जब 'पीके' अपने ग्रह पर लौट जाता है तो उपदेश की शैली में कहता है कि उसने भारत की धरती से चार चीजें सीखी हैं : झूठ बोलना, भय के कारण धर्म का पालन करना आदि।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि जिस तरह 'पीके' फिल्म का विरोध 'धर्म की राजनीति' से प्रेरित था, ठीक उसी तरह इस फिल्म को उत्तर प्रदेश और बिहार में आनन-फानन में करमुक्त (टैक्स-फ्री) करना भी 'वोट की राजनीति' से प्रेरित प्रतीत होता है, जैसा कि कुछ लोगों का मानना है। वास्तव में, इस फिल्म की कथा अत्यंत छोटी है- खोए रिमोट की खोज करना। मगर कई छोटी-छोटी घटनाओं से उप-पाठ तैयार किया गया है तथा प्रस्तुति का ढंग खास एवं अनोखा है और अंत को सायास सुखांत बनाया गया है। (सरफराज और जग्गू को मिलाना, जग्गू का अपने पिता का विश्वास फिर से जीतना) जबकि 'पीके' को जब रिमोट मिल गया और वह अपने ग्रह को प्रस्थान करता है, तो वही चरम है। कुल मिलाकर यह फिल्म साफ-सुथरी और दकियानूसी सोच तथा कट्टरपंथ के विरुद्ध सामाजिक परिवर्तन की हिमायती है जो मनोरंजक होने के साथ-साथ प्रेरणास्पद भी है। अस्तु, इसके निर्देशक, नायक, नायिका तथा अन्य चरित्रों के किरदार प्रशंसा के पात्र हैं।



कलाओं के अंतर्संबंध

राजेश कुमार व्यास

कलाओं की वैदिककालीन संज्ञा शिल्प है। शिल्प माने नृत्य, गायन, वादन, चित्र, मूर्ति, वास्तु सहित सभी हस्तकलाएं। वैदिक काल का अध्ययन करेंगे तो पाएंगे वहां शिल्पी दार्शनिक, चिंतक, कवि है। वह अपने शिल्प के माध्यम से सौंदर्य, रस और आनंद की खोज में संलग्न है। इसीलिए शिल्प यानी तमाम हमारी कलाएं कारु (उपयोगी) भी हैं और चारु (कलात्मक) भी हैं। सभी कलाओं को एक समान मानने का उद्देश्य सत्य का संधान तथा मानव जीवन को सौंदर्य एवं माधुर्य से परिपूर्ण बनाना ही तो रहा है इसीलिए कोई भी कला हमारे यहां कभी एकल इकाई नहीं रही, उसका अंतर्संबंध दूसरी कलाओं से भी रहा ही है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण का तीसरा खंड चित्रसूत्र है पर वहां चित्रकला ही नहीं है, प्रतिमाशास्त्र और मंदिर वास्तु पर भी विशद विवरण है। नृत्य और संगीत के साथ नाट्य की मुद्राओं, भाव एवं रस आदि सहित समस्त कलाओं के पारस्परिक अंतरसंबंधों को अवेरते यह बताया गया है कि एक कला को समझे बगैर दूसरी कला को समझा नहीं जा सकता। वैसे भी संगीत का उद्देश्य स्वरों की भाव सृष्टि से होता है और चित्र का उसमें निहित रूप-रेखाओं से। वास्तु या मूर्ति में पत्थर, काष्ठ या धातुओं में उसी रूप की प्रतिष्ठा होती है और फिर वास्तुकला की तो सांगीतिक भाषा तक बताई गई है। सोचता हूं, कभी कवींद्र रवींद्र ने आखिर ताजमहल को यूं ही तो 'अनंत की वेदी' से अभिहित नहीं किया था। संगीत के अंतर्गत गीत में जिसे हम सुर कहते हैं ठीक वैसे ही स्थापत्य, मूर्ति, चित्रकाव्य में उसका नाम संगति है। रूप-रेखा, भंगिमा में जो अभिनवता है वही उसका सुर है। होमर ने तो कहा भी था, 'जो अभिनव है, वही सबसे सुंदर संगीत है।' और यही क्यों? स्वरों के भी रंगों का उल्लेख हमारे यहां यत्र-तत्र सर्वत्र है। इसीलिए कहे रंग, तंरंग पर ही नहीं उगता। हर राग का भाव के अनुसार एक चित्र होता है। राग-रागिनियों का चित्रात्मक प्रदर्शन इसी का द्योतक है। साहित्य, संगीत, नृत्य, नाट्य इसीलिए हमारे यहां कला के ही उपादान माने गए हैं और हमारी संस्कृति की कोई भी अवधारणा इनसे कहीं इतर रही भी कहां है!

बहरहाल, कलाओं के अंतर्संबंधों को विष्णुधर्मोत्तर पुराण में राजा वज्र और ऋषि मार्कण्डेय के बीच हुए संवाद में गहरे से समझा जा सकता है। राजा वज्र एक मंदिर बना उसमें देव प्रतिमा की स्थापना करना चाहते हैं। मार्कण्डेय मुनि से वह पूछते हैं, 'मूर्ति किस तरह से बनाई जाए।' मार्कण्डेय कहते हैं, 'जो व्यक्ति चित्रसूत्र नहीं जानता वह प्रतिमा लक्षण भी नहीं समझ सकता।' वज्र कहते हैं, 'तो फिर मुझे चित्रसूत्र समझाइए।'।

मार्कण्डेय कहते हैं, 'नृत्यशास्त्र को समझे बिना चित्रसूत्र नहीं समझा जा सकता।' 'तो फिर नृत्यशास्त्र बता दीजिए।' 'जो आतोद्य (वाद्य) को नहीं जानता उसके लिए नृत्य समझना कठिन है।' 'तो ठीक है, फिर आप मुझे वाद्य समझाइए।' राजा वज्र कहते हैं। 'गीत के बिना आतोद्य को नहीं जाना जा सकता।'

....और फिर यह प्रसंग ऐसे ही आगे चलता है। इसके बाद मार्कण्डेय गीतशास्त्र का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से भाषा और काव्य का और काव्य के अंतर्गत नाट्यरूपों का और फिर गीत, आतोद्य, नृत्य, चित्र और प्रतिमाशास्त्र का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रसंग में महत्वपूर्ण बात जो उभरकर सामने आती है, वह यह है कि तमाम कलाएं परस्पर गूंथी हुई हैं। कोई एक कला अपने आप में पूर्ण नहीं है। सभी एक-दूसरे की पूरक है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को भी तौर्यत्रिक ग्रंथ कहा गया है। इसलिए कि वहां नाट्य के साथ गायन, वादन, नृत्य और चित्रकला के सरोकार हैं।

कुछ समय पहले केंद्रीय ललित कला अकादेमी के आग्रह पर बनारस में व्याख्यान के लिए जाना हुआ। वहां जब गया तो कला भवन भी जाना हुआ। वहां प्रदर्शित मूर्तियों, चित्र वीथियों से गुजरते अंत में जब एलिस बोनर कला वीथि में जाना हुआ तो यह देखकर सुखद लगा कि पश्चिम की एक कलाकार ने भारतीय कला के उस मर्म को गहरे से छुआ है जिसमें कलाएं एक-दूसरे से जुड़ी हुई जीवन को स्पंदित करती है। एलिस ने भारतीय कला के रहस्यों में प्रवेश करते चित्रों में, मूर्ति में, नृत्य में अंतर्निहित को अपने तर्क समझा और फिर कला की अपनी दीठ भी उसमें दी। ज्यूरिख में वर्ष 1926 में एलिस ने प्रख्यात नर्तक उदयशंकर का नृत्य देखा। उनके नृत्य की भंगिमाएं और लालित्य की सुंदरता से वह जैसे मोहित हो गई। एलिस को लगा मूर्तियां नृत्य में जीवंत हो रही हैं। बस, यहीं से उसका भारतीय कला की समग्रता में रूझान बढ़ा और बनारस को ही बाद में उसने सदा के लिए अपना घर बना लिया। एलिस ने भारतीय कलाओं के अंतर्संबंधों पर गहन शोध किया। बाद में उसने कहा भी, 'कलाएं सौंदर्य आस्वाद के लिए नहीं हैं, उनके जरिए आत्मा को एकाग्रचित किया जा सकता है। इसलिए कि वे सत्य हैं।'

मुझे लगता है, यही भारतीय कला का वह गुण ही है जिसमें एक पर नहीं समग्रता पर जोर है। हमारी संस्कृति में भी तो यही है। 'वसुधैव कुटुंबकम्'। भारतीय कलाओं में भी ऐसा ही है। तमाम कलाएं एक परिवार हैं। एलिस बोनर को यही बात शायद भायी भी इसलिए उदयशंकर के नृत्य से मोहित वह भारत खीची चली आई। कला भवन में एलिस के रेखांकन, जल रंगों के चित्र, मूर्तिशिल्प देखते बार-बार यह भी लगा कि संगीत, नृत्य, नाट्य, मूर्तिकला और चित्रकला के परस्पर नाते से ही हमारी कलाएं समृद्ध हुई हैं।

एलिस बोनर की कला वीथि की ही तरह शांतिनिकेतन में नंदलाल बसु के शिल्प का जब आस्वाद किया तो कलाओं के अंतर्संबंधों का जैसे एक और पाठ समझ में आया। रवीन्द्रनाथ टैगौर की 150 वीं जन्मशती पर केंद्रीय साहित्य अकादेमी के आमंत्रण पर शांतिनिकेतन जाना हुआ था। वहां नंदलाल बसु के बनाए मूर्तिशिल्पों को देखते लगा, वह जो बनाते थे-उसमें जो कुछ दिख रहा है, वही नहीं उसका तमाम परिवेश उद्घाटित होता है। शांतिनिकेतन में नंदलाल बसु भले अब नहीं हैं परंतु अपने कलाकर्म से वह अपनी उपस्थिति अभी भी वहां बनाए हुए हैं। और यह शायद इसलिए

संभव हुआ कि नंदलाल बसु के पास वह दृष्टि थी जिसके तहत किसी एक कला में तमाम दूसरी कलाओं के परिवेश का वह भान करा सकते थे।

राय आनंदकृष्ण ने उनकी कला दीठ के बारे में रोचक प्रसंग का उल्लेख किया है। वह लिखते हैं, 'प्रत्येक आकृति के पीछे स्वयं नंदबाबू का एक तरंगित दृष्टिकोण भी था जिनसे वह किसी अन्य समाज या लोक के व्यक्ति जान पड़ते। एक बार शांतिनिकेतन में प्रेमचंद की अमर कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' का अध्यापकों और छात्रों द्वारा मंचन होना था। उसकी तैयारी हो रही थी। संयोग से नंदबाबू वहां पहुंच गए। बगैर किसी को कुछ कहे-सुने उन्होंने एक सफेद कागज उठाया और एक कैंची से कुछ आकृतियां काटकर तैयार कर दीं। फिर उन्हें पर्दे पर ऊपर टंगवा दी। दूर से ऐसा जान पड़ता कि सफेद कबूतर आकाश में उड़ रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने लखनऊ का वातावरण नाटक में सहज उत्पन्न कर दिया।' इस प्रसंग से हम सहज यह अनुमान लगा सकते हैं कि कलाकार यदि दूसरी कलाओं से भी नाता जोड़ता है तो बहुत कुछ महत्वपूर्ण रच सकता है। नंदलाल बसु के शिल्पी मन ने 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी की नाट्य तैयारी में लखनऊ को नदारद पाया। उनके कलाकार को यह खला और बस उन्होंने वहीं उस अनुपस्थित परिवेश को अपनी कला से उद्घाटित कर दिया। यही एक कला का दूसरी कला से सीधा सरोकार है।...सोचता हूं, यदि कलाकार अपनी ही कला में रमा रहेगा, दूसरी कला में रुचि नहीं लेगा तो उसकी दृष्टि में विस्तार नहीं होगा।

सर्बरी राय चौधरी ने अपनी मूर्तिकला में बहुत से स्तरों पर संगीत की दृश्य छवियां निर्मित की हैं। यह ऐसी हैं जिनका आस्वाद करते संगीत से जुड़ी स्मृतियां औचक ही मन में झंकृत होने लगती हैं। पर मूर्ति निर्मिति में संगीत का वास उन्होंने ऐसे ही नहीं किया। इसके पीछे उनकी वह दृष्टि रही है, जिसमें एक कला दूसरी कला को अपने तई अंवरती है। एक दफा वह प्रख्यात सरोदवादक अली अकबर खां को अपनी मूर्तिकला में ढालना चाह रहे थे। उन्होंने देखा, वाद्य बजाते तो उनका चेहरा पूरी तरह बदल जाता। वह पूरी तरह से तल्लीन और केंद्रित हो जाते। मानो किसी चिंतन में गहरे डूब गए हों। सर्बरी राय चौधरी यह देखते तो उनके दिमाग में बुद्ध की तस्वीर उभर आती। वह लिखते हैं, 'जब भी उन्हें वाद्य बजाते देखता, बुद्ध की तस्वीर नियत ढंग से मेरे दिमाग में बैठ जाती। मैं उस दृश्य को कैद करना चाहता था। इसीलिए मैंने उन्हें ऐसी मुद्रा में बैठने का आग्रह कर राजी किया। करीब तीसरे दिन मैंने जाना कि मैं परेशानी में हूं। परेशानी किस कदर की, यह मसला नहीं थी। चेहरे का वैसा हाव-भाव मुझे दिखाई नहीं दे रहा था। पांचवें दिन तो मैं बेचैन हो गया। मैं उनसे वाद्य बजाने के लिए कहना चाहता था लेकिन हिम्मत नहीं होती थी। दूसरे दिन उनका बेटा ध्यानेश उन्हीं का अनुकरण करते सरोद बजा रहा था। उसने एक गलत धुन बजाई और बस मैंने पा लिया। मुझे जिस दृश्य की तलाश थी, मुझे मिल गया। उस्ताद का चेहरा बदल गया। उनका धैर्य जाता रहा, बेटे पर जोर से चिल्लाए और सरोद स्वयं हाथ में लेकर उन्होंने बजाना प्रारंभ कर दिया। सेकेंड भर में उनका चेहरा ठीक वैसा ही बन गया जिसके लिए मैं परेशान था। उनकी आंखें लटक गई, होंठ झूल गए और वह पारभाषी बन गए। मैं बिल्कुल सम्मोहित हो गया। मेरे लिए यह ईश्वर को पा लेने जैसा था। मैंने उन्हें आधा घंटा सरोद बजाते रहने को कहा। उन्होंने वैसा ही किया और मैंने मूर्ति बना ली।'

सर्बरी राय चौधरी जिस दृश्य छवि को पाना चाहते थे, उस्ताद अली अकबर खां को वैसी ही

छवि में उन्होंने मूर्ति बनाने के लिए बैठाया भी परंतु तब वह छवि अपनी कला के लिए पा नहीं सके। क्यों? इसलिए कि कला में जो कुछ दिखाई देता है-वही सच नहीं होता। बड़ा यथार्थ वह नहीं होता जो हम देख रहे होते हैं, वह होता है जो देखने के बाद हमारे मन में घट रहा होता है। आनंद कुमार स्वामी ने शायद इसीलिए कलाओं को ट्रांसफॉर्मेशन कहा है। क्योंकि वहां देखे हुए की नकल नहीं होती। वह रूपांतरण होता है। एक प्रकार से पुनसर्जन। यह प्रभावी तभी होता है जब कलाकार का नाता अपनी कला से ही नहीं होता बल्कि तमाम दूसरी कलाओं से भी होता है। वह अपनी कला में रम रहा होता है परंतु दूसरी कलाएं उसके लिए तब प्रेरणा के रूप में सर्जन को संवारने का काम कर रही होती है। यही किसी कला की समग्रता भी है।

कहते हैं, राजा रवि वर्मा सुबह चार बजे उठकर चित्र बनाते थे। प्रकाश-छाया के सूक्ष्म अध्ययन और आकलन के लिए यह समय शायद उनके लिए सर्वथा उपयुक्त रहता होगा। कल्पना करता हूं। राजा रवि वर्मा सुबह उठ गए हैं, चित्र बनाने को प्रवृत्त हैं। अँधेरा विदा ले रहा है। भोर का उजास छाने लगा है। अँधेरे से उजाले की इस यात्रा को वह अनुभूत कर रहे हैं। उनके चित्रों में शायद यह यात्रा इसीलिए रूपांतरित भी हुई है। प्रकृति की यात्रा दीठ के संवाहक बनकर ही प्रकाश-छाया को अपने चित्रों में इस तरह से कोई जी सकता है। कलाकार जब तक प्रकृति में घुले रंगों से तादात्म्य नहीं करेगा, वह अपने तई रंग-रेखाओं से चाहकर भी दृश्य की जीवंत छवियां उकेर ही नहीं पाएगा। माने प्रकृति में निहित जो कला है उससे भी कलाकार अपने को जोड़े। इसी से उसकी कला समृद्ध होगी। एक कला इसी तरह दूसरी कला को सदा समृद्ध करती है।

चित्रकला या मूर्तिकला में सादृश का अर्थ यथार्थ का अनुकरण है। वास्तव का बिंब। परंतु अनुकरण कैसा? लौकिक नहीं। अनुकरण वह जिसमें अमूर्त को मूर्त करने के संदर्भ निहित होते हैं। एक कला का दूसरी कला से अंतर्संबंध। संगीत को चित्र में कैसे परिवर्तित करेंगे? वह तो अमूर्त है।...तो इस अमूर्त को बिंदु, वृत्त-उर्ध्व-अधोमुखी रेखाओं और वृत्त चतुस्त्र परिमंडल के हर छोटे से छोटे भाग में, अंश में उसके स्वभाव को जब सांगीतिक रूप में खोजा जाएगा तो वह संगीत का चित्रण होगा। हेब्बार की रेखाओं को लें। घूंघरू बंधा पैर है पर वह नृत्य की पूरी संरचना का आभास करा देता है। रेखाओं में हस्त-पाद की मुद्राएं भर है पर उनमें निहित गत्यात्मक प्रवाह नृत्य की थिरकन से हमें साक्षात् करा देते हैं। वह नृत्यांगना, गायकों या फिर खास किसी दृश्य को रूपायित करते हुए पूरा का पूरा उसे रेखाओं का आवरण नहीं देकर उससे संबद्ध संकेत भर रेखाओं में कई बार रखते हैं। यह संकेत देखने के हमारे अनुभव को बदल देता है। यदि पूरा का पूरा रेखाचित्र देखें तो वह शायद इतना प्रभावित नहीं करें परंतु उससे संबद्ध विशेषता के किसी एक खास अंश का उनका रेखा रूपांकन ही इतना अधिक प्रभाव डालता है कि दृश्य से संबद्ध तमाम दूसरी संवेदनाओं से अनायास हमारा नाता हो जाता है। यही उनकी रेखाओं की वह लय है जो हमारी संवेदनाओं की लय से अनायास जुड़ती है। मसलन वह किसी दृश्य, संवेदना के अनुभव को विचारते हुए सहज रेखाओं का प्रवाह करते हैं और उनका यह प्रवाह देखने की हमारी संवेदना को इतना समृद्ध करता है कि मन देखे हुए को सांगीतिक आस्वाद में, नृत्य की भंगिमा का आस्वाद करते पाता है। यही देखने का रस है। रेखा से आने वाली अन्विति है। इस रस को सहज व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। इसीलिए कहा यह भी गया है कि रस अव्यक्त है, वह अंतःकरण की शक्ति है। रस आनंद रूप है, विराट का अनुभव

है। हेब्बार इस रूप में अपनी रेखाओं में जो उकेरते हैं, केवल वही नहीं बल्कि उसके जरिए उस विराट का अनुभव भी कराते हैं जिसमें ध्यान उकेरे हुए से परे आत्म सुख पर भी जाता है। यही कला का आनंद है। उनके तमाम रेखाचित्रों में अंगों का न्यास, अंगों का मोड़, भंगिमाएं दिखने में सहज सरल रेखाओं की परिणति है परंतु सभी रेखाएं किसी लय का अनुसारी है।

विद्यानिवास मिश्र के शब्दों में कहें तो लय का अनुसरण करने का अर्थ ही है, एक का दूसरे में समाना। लय माने समाना। एक प्रकार का चरण न्यास बाद वाले चरण न्यास में समाया हुआ है। अलग-अलग चीजें दिखती हैं लेकिन वह एक-दूसरे में ओत-प्रोत है।...विषय का एक तरह से निविषयीकरण ही तो करती है हेब्बार की रेखाएं। इसीलिए देखने के हमारे अनुभव में वह आत्मरूप हो जाती हैं। और यह ऐसे ही नहीं होता है। इसके लिए कलाकार अपने को विसर्जित करता है। बगैर अपना विसर्जन किए किसी भी कला में पूर्णता संभव ही नहीं है। पूर्णता का अर्थ ही है-सृजन का विसर्जन। दर्शन की अभिव्यक्ति, रूप-प्रतिरूप और परारूप का चिरंतन ही तो है कला।

एक बात और। हमारी कलाओं में फॉर्म कभी एक नहीं रहता, वह बदलता रहता है। भले ही इस समय के संस्थापन (इन्स्टालेशन) को लें या फिर कैनवस पर रची कला को लें। वह आकर्षित तभी करेगी जब उसमें कलाकार स्वयं कहीं नहीं रहेगा। वह अपना विसर्जन करेगा, तभी कुछ गढ़ पाएगा। रच पाएगा। दूर्गा पूजा, गणेश पूजा के बारे में विचारें। मिट्टी की मूर्त बनती है। उसकी प्राण प्रतिष्ठा होती है। श्रृंगार करके जब उसकी पूजा की जाती है तो उसमें शक्ति का वास हो जाता है। और फिर ऐसे वह जब ऊर्जा प्रदान करने लगती है, वंदन करते मन विभोर हो नाच उठता है। यह प्रतिमा के जीवंत होने का क्षण होता है। जड़ के चेतन में परिवर्तित होने का क्षण। अनुष्ठान समाप्त होने के बाद ही यह अनिवार्य हो जाता है कि सजी-संवरी, प्राण-प्रतिष्ठित प्रतिमा फिर से अमूर्त भूमंडल में विलीन हो जाए। इसीलिए विसर्जन होता है। फिर से सर्जन के लिए जरूरी है विसर्जन। और फिर कलाएं कहां मूर्त-अमूर्त होती हैं। वहां तो बस कलाकर्म होता है। अनाहत, अदृश्य, अस्पर्शिय के तमाम अव्यक्त की भव्य अनुभूति ही तो है कला!

कलाओं के अंतर्संबंधों के संवाद में बहुतेरी बार कविता पर चित्र बनाने, चित्रों पर कविता रचने, संगीत सुनते हुए कोई कविता लिखे जाने या फिर चित्रों को देखते हुए कविता सर्जित किए जाने जैसे संदर्भ सामने आते हैं परंतु मूल बात यह है कि यह सब अनायास ही हो रहा है अथवा इसके लिए प्रयास किया जा रहा है। व्यक्तिगत मैं यह मानता हूं कि शब्द और चित्र का संबंध शब्द के कथानकों को चित्रित करना भर ही नहीं है। ऐसा यदि होता है तो वह एक कला का दूसरी कला से संबंध स्थापित होना नहीं है। इसे और अधिक स्पष्ट करूं तो मुझे लगता है, कविता की उपमाओं को, छंद को चित्रकला रेखा रस के द्वारा सादृश करती है। जिस माध्यम में हम सर्जन कर रहे हैं, वही आधार नहीं हो। उसके इतर तमाम जो दूसरी कलाएं हैं, उनमें भी रचा-बसा जाए। कलाओं के इस साहचर्य से ही रंग और रेखाएं समृद्ध हो सकती है। और यही क्यों एक कला का दूसरी कला से सहज बनने वाले संबंधों से ही दोनों कलाएं संपन्न होती है। बहुत से ऐसे हैं जो कविताओं पर चित्र बनाते हैं परंतु बड़ी भूल होती है जब इसे सतही तौर पर लिया जाता है। माने कविता में जो शब्द हैं, उनके आधार पर कुछ छवियां निर्मित कर दी जाए, हो गया कविता का और चित्रकला का संबंध। पर यह एक कला का दूसरी कला से अंतःसंबंध नहीं है। बल्कि मैं तो यह भी कहूं कि इससे

तो दोनों ही कलाओं का भला नहीं होना है। आप किसी एक कला में रच रहे हैं तो दूसरी कला के सरोकार उसमें कुछ इस तरह से आए कि कलाकृति एक ही हो पर उसमें दूसरी कला का आस्वाद स्वतः ही हो। माने चित्र आप कोई देख रहे हैं तो आपको कविता की याद आए। चित्र कोई देख रहे हैं तो संगीत की ध्वनियां गुंजरित होने लगे। ...और ऐसा बहुत से कलाकारों ने किया भी है। मसलन गुलाम मोहम्मद शेख के ही कलाकर्म को लें। कभी उन्होंने कबीर पर चित्रों की पूरी एक शृंखला बनाई थी। उनकी इस शृंखला का आस्वाद मैंने किया है, वहां कबीर की कविताओं की कविता छवियों को हू-ब-हू उतारा भर नहीं गया है। ऐसा तो कोई रेखांकन में आसानी से कर ही सकता है पर गुलाम मोहम्मद शेख की कबीर से संबद्ध कलाकृतियों में कबीर की कविताएं नहीं, स्वयं कबीर ध्वनित होते हैं। उनका फक्कड़पन। कर्हें निर्गुणपन वहां है। स्वयं गुलाम मोहम्मद शेख अपनी इस शृंखला पर कहते हैं, 'मैंने कोशिश की कि कबीर की कविताओं को ध्यान में रखते हुए उनके समानांतर कुछ ऐसा काम किया जाए जो मेरी अपनी कला भी हो और कबीर की आत्मा को भी व्यक्त कर सके। इसके लिए मुझे कुछ नई छवियां बनानी पड़ी।...'

राजस्थान में नाथूलाल वर्मा ने बहुत कुछ महत्वपूर्ण किया है। कन्हैयालाल वर्मा ने किया है। रागमालाओं और मेघदूत को चित्रों में एक प्रकार से इन्होंने जीवंत किया है। नाथूलाल वर्मा के चित्रों पर जाएंगे तो पाएंगे रागमालाओं में निहित से ही हम रू-ब-रू हो रहे हैं। रागमाला के उनके चित्रों में रंग और रेखाएं विभिन्न रागों के समय, परिवेश की ही अनुभूति नहीं कराती बल्कि दृश्यालेखों को अतिक्रमित करते ऐसे लोक को भी रचती-उकेरती है जो सहज सुकून प्रदान करती हैं। रागमाला की वर्मा की शृंखला के चित्रों में चाहे वह राग मालकौस का प्रेमालाप हो, राग दीपक और भैरवी के माध्यम से आस्था के प्रवाहों का संकेत हो या फिर रागिनी दशेश्वरी और हिंडोल राग में उर में उठती तरंगों का वेग प्रदर्शन हो-सभी में रंगों की कोमल कमनीयता तथा रेखाओं का माधुर्य देखते ही बनता है। यहां रंगों और रेखाओं में किसी प्रकार का बनावटीपन नहीं है। रागों के माध्यम से जीवन के दर्शन में यहां परिप्रेक्ष-सिद्धांत के पालन, काम की बारीकी, हस्तकौशल तथा तकनीक का सहज संप्रेषण है।

कन्हैयालाल वर्मा के चित्रों में महाकवि कालिदास की शब्द संवेदना और उसमें निहित संगीत, नृत्य की लय को रूपांतरित किया गया है। उन्होंने रंग-रेखाओं में संगीत के सुरों की, भाव-भंगिमाओं में नृत्य रस की जैसे अनुभूति ही कराई है। एक चित्र है जिसमें मेघ से की गई यक्ष की अनुनय-विनय में कृषक बालाओं के उनके सत्कार और खेतों में वर्षा करके प्रियतमा की ओर बढ़ जाने का आह्वान है। अलंकृत मेघों के वृत्त के पार्श्व का नीला-काला रंग और उसके अंदर कृषक बालाओं का मनोहारी चितराम। उड़ते पखेरू और बरसते जलज! धरित्री का क्रोड। ऐसा ही एक और चित्र है जिसमें चातक पक्षी के चोंच ऊपर करके पानी की लेती बूंदों और मेघों की गर्जना से डकर सहचरियों से आलिगनबद्ध होते पुरुषों को अभिव्यंजित किया गया है। चित्र नहीं चित्र कोलाज। चित्र और भी हैं। प्रदोषकाल में भगवान आशुतोष की भव्य आरती, घनघोर अँधेरे में बिजली रूपी रेखा की चमक, पुष्प बरसाते मेघ, नटेश के अट्टहास की रूप व्यंजना, शिव-पार्वती विचरण, यक्ष के वियोग में उनींदी पृथ्वी पर लेटी उसकी प्रियतमा। इन सबमें कालिदास के श्लोकों के सौंदर्य का अद्भुत चित्र रूपांतरण है।

छायांकन का जब जन्म हुआ था तो चित्रकारों ने औचक कहा, 'आज से चित्रकला मर गई है।' उन्हें लगा, अब जब दृश्य को हू-ब-हू वैसे ही कैमरा चित्रित कर देगा तो फिर चित्रकला की

क्या जरूरत रहेगी! पर ऐसा नहीं हुआ। चित्रकला आज भी वैसे ही अपना अस्तित्व बनाए हुए है बल्कि छायांकन कला ने बहुत से स्तरों पर उसे समृद्ध ही किया है। सोचता हूँ, छायांकन मात्र यंत्र का कमाल ही रहती तो क्या आज वह चित्रकला या तमाम दूसरी कलाओं को यूँ समृद्ध कर पाती। मुझे लगता है, छायांकन में तमाम कलाओं से जुड़े वह सरोकार ही हैं जिनसे यह निरंतर आगे बढ़ती आज यह स्वतंत्र कला के रूप में जानी जाती है। मेरे एक छायाकार मित्र हैं, महेश स्वामी। अभी उन्होंने छायांकन में कुछ नए प्रयोग किए हैं। अचरज में डालने वाले। रूख (पेड़) की छवियां उन्होंने कैमरे से निर्मित की है पर यह दृश्य का हू-ब-हू अंकन नहीं है। धुंध ओढ़े आसमान में पत्तियों की सरसराहट। ठंड में बादलों से अपने को ढकने की चेष्टा करते सूरज की प्रकाश छवियों में पेड़ और उसकी टहनियों का लोक। और...लो वह सूरज बाहर निकला। पेड़ में पसरती सुनहरी धूप जैसे संगीत की स्वर लहरियां बिखरने लगी हैं।...छायांकन में ऐसे ही दृश्य में निहित संवेदनाओं को पकड़ते महेश ने संगीत, नृत्य, नाट्य कार्यक्रमों में प्रस्तुतियों को अपने तर्ज पुनराविष्कृत किया है। एक छाया-छवि है जिसमें नृत्यांगना की मुद्रा और कृत्रिम प्रकाश से सर्वथा नवीन दृश्य दीठ अंवेरी गई है। अद्भुत दृश्य छवि। सोचिए! यदि छाया-कला का दूसरी कलाओं से सरोकार नहीं हो तो क्या ऐसे दृश्य हम देख पाते!

कलाओं के यही पारस्परिक सरोकार है। संगीत को आप सुनते हैं तो मन ही मन उसे गुनते हैं, नृत्य आप देखते हैं तो औचक ही उसमें रमने लगते हैं। मन भी तब थिरकने लगता है। नाट्य आस्वाद करते उसमें निहित घटनाओं, समय-स्थितियों से आप औचक जुड़ जाते हैं। वहां जो समय ध्वनित होता है-वह तब आपका समय बन जाता है। यही तब भी होता है जब आप चित्र बनाते हैं या फिर मूर्ति गढ़ते हैं। या फिर छायांकन में देखे हुए को फिर से जीते हैं। कलाकार वहां नहीं रहता वह अपने को चित्र या मूर्ति में समाविष्ट कर देता है। स्वयं शायद कलाकार को भी पता नहीं चलता, कैसे यह हो गया। तो यह जो होना है, वही कलाओं का अंतर्संबंध है। यह ठीक वैसे ही है जैसे आपका अपने समय का अनुभव है। कलाकार के लिए अनुभव का समय ही तो महत्वपूर्ण होता है। सर्जन में समय उपस्थित होता है। इसीलिए यह भी कहें कि कोई कलाकार जिस समय कुछ रच रहा होता है वह अपने समय को ही उसमें नहीं जी रहा होता है वह तमाम उन समयों की भी बात उसमें कर रहा होता है जो उसकी अनुभूति से जुड़े होते हैं। माने उस समय को भी जिस समय वह किसी मधुर संगीत का आस्वाद कर रहा होता है, उस समय को भी जिस समय वह किसी नाट्य का दर्शक होता है, उस समय को भी जिस समय वह नृत्य की किन्हीं भाव मुद्राओं में खोया होता है और उस समय को भी जिस समय वह कविता के छंद से अपनापा कर रहा होता है। कोई भी कलाकृति इन सब अनुभवों से जब संपन्न होती है तब उसमें अपने आप ही किसी एक कला की नहीं तमाम कलाओं की समग्रता से हम साक्षात् कर सकते हैं।

शमशेर बहादुर सिंह बहुत बड़े कवि हुए हैं। वह चित्र भी बनाते थे। पर काव्य में जो वह व्यंजित करते थे उसमें भी जैसे चित्र उभरता था। शब्दों में दृश्य जीवंत हो उठता। चीनी भाषा में प्रयुक्त खास तरह की चित्रलिपि की चित्रात्मकता को शमशेर ने कविताओं में पुनर्सृजित किया है। 'सुबह' कविता ऐसी ही है। कविता है, 'जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर/सजग-सा होकर पसरने लगा/आप से आप।' एक दफा नए साल के पहले दिन टाइम्स ऑफ इंडिया के मुखपृष्ठ पर मकबूल फिदा हुसैन का एक चित्र प्रकाशित हुआ। लोगों ने इसे देखा और बहुत सराहा। बाद में

हुसैन ने ही बताया कि यह चित्र शमशेर बहादुर सिंह की कविता 'पीली शाम' से प्रेरित हो अनायास ही बन गया था। मुझे लगता है, पूरी कविता की कला उसी अर्थ में तभी चित्र में समाविष्ट हो सकती है जब उसे कोई जीए। मकबुल फिदा हुसैन ने यही किया। ...और यह प्रयास से नहीं होता। औचक हो जाता है। स्मृतियां, अनुभूतियां एक कला से दूसरी कला में ऐसे ही रूपांतरित होती है। शमशेर की वह कविता 'पीली शाम' इस तरह से है। एक पीली शाम/पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता/शांत/मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुखकमल/कृश म्लान हारा-सा/(कि मैं हूं वह मौन दर्पण में तुम्हारे कहीं?)/वासना डूबी/शिथिल पल में/स्नेह काजल में/लिए अद्भुत रूप-कोमलता/अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आसूं/सांध्य तारक सा/अतल में। (शमशेर की कविता, 'पीली शाम', वर्ष 1953)

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उम्र के अंतिम दौर में चित्र बनाने आरंभ किए। पर उनकी यह शुरुआत औचक ही हुई। वह फाउंटैन पैन से कविताएं लिखते। इसी से वह चित्र निर्मिति की ओर अग्रसर हुए। शब्दों को मिटाते, उन पर नया शब्द रखते रेखाओं को मिलाने उपक्रम में उन्हें लगा कि शब्द रेखाएं बहुत से दूसरे आकारों के लिए छटपटा रही है। उनमें बहुत से आकार छुपे हुए हैं। स्वयं सिद्ध आकारों के अनुभव के इस भाव के अंतर्गत फाउंटैन पैन ही फिर उनकी कूची बन गया। अकल्पित आकारों में दृश्य की अनंत संभावनाओं को उन्होंने तलाशा। जिस कविता ने उन्हें विश्व कवि के रूप में ख्यात किया उसी से प्रसूत रेखाओं के आकारों ने उनके चित्रकार को अनायास जन्म दिया। कविता से चित्रकर्म की यात्रा पर हुए संवाद में उन्होंने कभी कहा भी, 'मेरे जीवन का प्रभात गीतों भरा था और अब शाम रंगभरी हो जाए।' सच भी है। उनके गीतों की भोर हमें जगाती है और चित्रों की सुरमयी सांझ लुभाती भी है।

एक और महत्वपूर्ण बात भारतीय कला में है। वहां जीवन है तो वह किसी एक अंश में नहीं है। समग्रता में है। कोई एक कला है तो वही नहीं, दूसरी कलाएं भी वहां उसके परिवेश में मिलेगी ही। माने व्यक्ति चित्र भी कहीं है तो उसमें उससे जुड़ा परिवेश होगा। वहां प्रकृति होगी, प्रकृति का संगीत होगा। प्रकृति की लय होगी। पशु होंगे, पक्षी होंगे। नीला आकाश होगा, मयूर होगा, चिड़िया होगी, हिरण होगा, नदी, पर्वत, पेड़ सब होंगे। क्यों? क्योंकि भारतीय जीवन दृष्टि समग्रता की परिचायक है। वहां व्यक्ति है तो वही अंतिम सत्य नहीं है। वह प्रकृति के अंश रूप में सौंदर्य बोध प्रदान करने वाला प्राणी रूप में वहां है। लघु चित्र शैलियों को देखें-उनमें व्यक्ति केंद्र में है परंतु तमाम प्रकृति ध्वनित होती है। तमाम कलाएं वहां मिलेगी। संगीत, नृत्य, नाट्य आदि सबके सब। रागमाला के चित्र हों या फिर राधा-कृष्ण के चित्र। कृष्ण है तो गाय होगी, बांसुरी होगी, नृत्य की उनकी कोई मुद्रा होगी और सृष्टि को व्यक्त करता ढेर सारा प्यार भी वहां होगा ही। माखन चोर कृष्ण की मूरतें देखें। माखन से भरा मुख, मुख की शरारत, चोरी का भय और वह माखन जहां रखा है-उसका पूरा परिवेश यानी कन्हैया के हाथ नहीं आ जाए इसलिए टांगकर ऊपर रखा माखन। एक चित्र है परंतु उस चित्र में घटनाओं के कोलाज कहानी कहते हमसे जैसे संवाद करते हैं। योरोपीय चित्रकला में ऐसा नहीं है। माइकल एंजेलो की मानवाकृति में शरीर सौष्ठव ही केंद्र में होता है। पर हमारे यहां पशु-पक्षी भी चित्रित होंगे तो उनमें परिवेश उद्घाटित होगा। चित्र होता है पर उसमें थोड़ी नाटकीयता, थोड़ा संगीत, थोड़ा नृत्य और कविता का छंद भी होगा ही। माने चित्र देखकर कविता लिख सकते हैं। संगीत का सर्जन कर सकते हैं और हां, नाट्य मंचित कर सकते हैं। यही तो है कलाओं के अंतःसंबंध। ●

अंक के रचनाकार

- गिरीश्वर मिश्र, कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा- 442 001 (महाराष्ट्र) ☎ 07152-230907
- शशांक शुक्ला, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल, ☎ 9917157035
- मन्नु ढोंडियाल, द्वारा श्री एल.पी. ढोंडियाल, उत्तराखंड हाईकोर्ट चिकित्सालय, नैनीताल, ☎ 9411198903
- साधना अग्रवाल, बी-19/एफ, दिल्ली पुलिस अपार्टमेंट्स, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110091, ☎ 9891349058
- सूरज पालीवाल, साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442 001 (महाराष्ट्र), ☎ 9421101128
- अशोक नाथ त्रिपाठी, सहायक प्रोफेसर, साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442 001 (महाराष्ट्र), ☎ 9422905708
- अख्तर आलम, सहायक प्रोफेसर, संचार एवं मीडिया अध्ययन केंद्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा -442 001 (महाराष्ट्र), ☎ 9673797844
- भावना मासीवाल, शोधार्थी, साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट-हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442 001 (महाराष्ट्र), ☎ 9623650112
- प्रकाश चंद्र, शोधार्थी, साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा -442 001 (महाराष्ट्र), ☎ 9657062744
- अवजिनेश अवस्थी, एसोसिएट प्रोफेसर (हिंदी विभाग), पीजीडीएवी कॉलेज, नेहरू नगर, दिल्ली- 65
- ओम निश्चल, जी-1/1506 ए, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059, ☎ 8447289976
- वैभव सिंह, 403, सुमित टावर, ओमेक्स हाईट्स सेक्टर-86 फरीदाबाद-121002 (हरियाणा), ☎ 9711312374
- कृष्ण प्रताप सिंह, 5/18/35 बछड़ा सुल्तानपुर, फैजाबाद-224001 (उ.प्र.), ☎ 9838950948
- मदन मोहन, 15-एमआईजी, राप्तीनगर, फेज-3, पत्रकारपुरम, गोरखपुर-273003 (उ.प्र.), ☎ 9335289012
- से.रा.यात्री, एफ.ई-7, नया कविनगर, गाजियाबाद-201002 (उ.प्र.), ☎ 9810604535
- ज्ञानप्रकाश विवेक, 1875 सेक्टर-6, बहादुरगढ़-124507, (हरियाणा), ☎ 9813491654
- सुधीर सक्सेना, 43 ए, अंसल प्रधान इक्लेव, ई-8, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016 (म.प्र.), ☎ 9425022404
- राकेश रंजन, आर.एन. कॉलेज से पूरब, साकेतपुरी, हाजीपुर (वैशाली) पिन-844101, ☎ 8002577406
- इला कुमार, सी 1235, गौड ग्रीन एवेन्यू, अभय खंड-2, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201010 (उ.प्र.), ☎ 8527227336
- कृष्णेश बाजपेयी, 65 सुशीला बाजपेयी निवास, राम मंदिर रोड, भायंदर पश्चिम, जिला : थाणे-401101 ☎ 9221004508
- संतोष श्रीवास्ताव, 204 केदारनाथ को-ऑपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, सेक्टर-7, निकट चारकोप बस डिपो, कांदिवली (प.) मुंबई-40006, ☎ 9769023188
- प्रकाश मनु, 545, सेक्टर-29, फरीदाबाद-121008 (हरियाणा), ☎ 9810602327
- उमेश चतुर्वेदी, द्वारा जयप्रकाश, द्वितीय तल, एफ-23ए, निकट शिव मंदिर, कटवारिया सराय, नई दिल्ली-110016, ☎ 9899870697
- चंद्रदेव यादव, हिंदी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110025
- सुभाष शर्मा, ए 3/12, बेली रोड, राजवंशीनगर, पटना-800023 (बिहार), ☎ 0612-2290045
- राजेश कुमार व्यास, 3/39, गांधीनगर न्याय पथ, जयपुर-302015 (राज.), ☎ 9461500204